# भारतीय सभ्यता
# एवं
# संस्कृति का इतिहास
## (History of Indian Civilisation & Culture)



Published by : **The Students' Book Co.**
Chaura Rasta, JAIPUR-302003

Price : 7.75

Edition : 1981

Printed by : **Printing Centre**
Chaura Rasta, JAIPUR–302003

# प्रस्तावना

भारतीय सभ्यता व संस्कृति का इतिहास बहुत विस्तृत, रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है, जिसको जानना प्रत्येक भारतीय के लिये आवश्यक हैं। इसी आधार पर राजस्थान विश्वविद्यालय ने टी० डी० सी० प्रथम वर्ष की कक्षाओं के लिए इस विषय को पाठ्यक्रम में रखा है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने भारतीय संस्कृति तथा समाज के रोचक अंगों का विशद रूप में विवेचन किया हैं। पुस्तक में प्रयुक्त भाषा सरल प्रभावपूर्ण एवं विषय को समझने में बड़ी सहायक है। पुस्तक में दी गयी पाठ्य सामग्री को आधारभूत ग्रन्थों के संदर्भ या उद्धरण से प्रतिपादित कर पुस्तक की उपयोगिता बढ़ा दी गई है। वर्तमान में बाजार में इस विषय से सम्बन्धित उपलब्ध पुस्तकों को देखते हुए यह पुस्तक अधिक उपयोगी है।

मुझे आशा है कि इतिहास का अध्ययन करने वाले इस पुस्तक को लाभदायक पायेंगे।

**( एस० टी० एच० जैदी )**
प्रिन्सिपल एवं अध्यक्ष इतिहास विभाग
सनातन धर्म राजकीय महाविद्यालय,
ब्यावर।

# भूमिका

भारत स्वतन्त्र होने के पश्चात् देश में इतिहास के अध्ययन का दृष्टिकोण बदल गया है। अब हमें भारतीय इतिहास की घटनाओं को राष्ट्रीय एवं धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण से देखना होगा और उसकी व्याख्या करनी होगी। ऐसा करने पर ही हम अपनी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्राचीन तथा मध्यकालीन एवं वर्तमान सच्चे स्वरूप का दिग्दर्शन कर सकते हैं।

भारतीय संस्कृति का इतिहास बहुत विस्तृत एवं रोचक है। जहाँ विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताएँ विलुप्त हो चुकी हैं, वहाँ भारत की सभ्यता एवं संस्कृति के अवशेष हजारों वर्षों के अतिक्रमण पर भी अद्यावधि उपलब्ध हैं। **प्रोफेसर हुमायु कबीर** के शब्दों में, "भारतीय संस्कृति की कहानी, एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मानों के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है। यह प्राचीन काल में रही है और जब तक यह विश्व रहेगा तब तक हमेशा रहेगी।"

प्रस्तुत पुस्तक पूर्णतः राजस्थान विश्वविद्यालय के नवीनतम पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर त्रि-वर्षीय डिग्री कोर्स के प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है। भारतीय सभ्यता व संस्कृति के विकास के महत्त्वपूर्ण चरणों का इसमें सरल, सुबोध, रुचिकर तथा प्रमाणिक विवेचन किया गया है। इस बात का भी विशेष ध्यान रखा गया है कि परीक्षा की दृष्टि से यह उनके लिए सहायक हो।

प्रसिद्ध इतिहासकारों एवं विद्वानों द्वारा भारतीय इतिहास तथा संस्कृति पर लिखे गये आधारभूत ग्रन्थों के सन्दर्भ या उद्धरण से प्रतिपादित सामग्री से इस ग्रन्थ की उपयोगिता निश्चय ही बढ़ गई है, जिसके लिए लेखक उनका आभारी है। पुस्तक को यथासम्भव त्रुटि मुक्त बनाने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी, सहृदय प्राध्यापकों एवं पाठकों के अमूल्य सुझावों का सदैव स्वागत किया जायेगा।

मैं, आदरणीय श्री एस०टी०एच० जैदी का अत्यंत आभारी हूँ, जिन्होंने पुस्तक का प्राक्कथन लिखकर लेखक का उत्साहवर्द्धन किया है। लेखक उन सब मित्रों का भी आभारी है जिनके सुझावों के फलस्वरूप पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि हुई है। अन्त में लेखक, अपने प्रकाशक श्री ताराचंद वर्मा को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने व्यक्तिगत रुचि लेकर पुस्तक को समय पर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया।

एस.एम.चाँद

# University of Rajasthan

**T.D.C. FIRST YEAR (Arts, Commerce & Science)**
**Examination, 1981**

**SYLLABUS : History of Indian Civilization and Culture**

1. **Fundamental Religious Ideas :**
   Upanishads, Gita and Yoga. Buddhism and Jainism
2. **Fundamental Social Institutions :**
   Family and Caste
3. **Literary Heritage :**
   Epics, Kalidas and Tulsidas
4. Impact of Islam on Indian Society and Attempts at Cultural Synthesis in the Medieval Period
5. The Bhakti Movement
6. Social and Religious Reform Movements of the Nineteenth Century
7. Social and Cultural Significance of :
   Tilak, Tagore and Gandhi.

# विषय क्रम

1

# विषय-प्रवेश

## ( Introduction )

I. 'सभ्यता' और 'संस्कृति' से तात्पर्य
II. भारतीय संस्कृति का स्वरूप : विशेषताएँ
III. भारतीय संस्कृति की मूलभूत एकता

---

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास का अध्ययन करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि (1) 'सभ्यता' और 'संस्कृति' का क्या अर्थ है तथा इन दोनों का आपस में क्या सम्बन्ध है ? (2) भारतीय सभ्यता व संस्कृति का वास्तविक स्वरूप क्या है ? और (3) उसकी विशिष्टता एवं मूलभूत एकता के क्या मौलिक कारण हैं ?

## I. सभ्यता एवं संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा

अक्सर 'सभ्यता' और 'संस्कृति' दोनों की चर्चा साथ-साथ की जाती है। इसलिए जन-साधारण इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची समझने की भूल कर बैठते हैं। परन्तु, शास्त्र की दृष्टि से इन दोनों में आधारभूत अन्तर है। साधारण शब्दों में, इनकी तुलना मनुष्य के वाह्य शरीर एवं आत्मा से की जाती है, अर्थात् यदि सभ्यता मानव जीवन का वाह्य स्वरूप है तो संस्कृति उसकी आत्मा। किन्तु, एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए भी, दोनों का अपना-अपना स्थान एवं महत्त्व है तथा दोनों के अर्थों एवं स्वरूप में बड़ा अन्तर है।

**सभ्यता का अर्थ एवं स्वरूप** :—सभ्यता मानव विकास की प्रथम सीढ़ी है। ऐतिहासिक स्तर पर आदिम मानव ने अपने इहलौकिक अथवा भौतिक सुख के लिए अनेक उपादानों की खोज की। उसने उनका विकास किया। इस तरह मानव समाज ने सभ्यता की ओर कदम बढ़ाया। सभ्यता का सम्बन्ध उन उपकरणों से है जो मनुष्य अपने इहलौकिक जीवन को सुखी बनाने के लिए जुटाता है, परन्तु इसका स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहता है। पाषाण युग से लेकर आज तक अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। सुख-सुविधा के लिए मनुष्य ने अनेक उपकरण जुटाए हैं। यह सब विकास सभ्यता के अन्तर्गत आता है।

सभ्यता का शाब्दिक अर्थ 'समाज की विकसित तथा शिष्ट अवस्था' माना जाता है। प्रो० हुमायूँ कबीर के मतानुसार 'सभ्यता जीवन की संगठित संस्था है, जो नागरिक-समाज को संभव बनाती है।" नागरिक समाज सहकारी जीवन की परिस्थितियाँ निर्मित करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति फलादयी और निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहता है।

जीवन मात्र के तीन मुख्य ऐहिक ध्येय हैं—अशन (भोजन), वसन (वस्त्र) और निवसन (निवास)। जब से मनुष्य ने मानवी बानक अपनाया है तभी से वह इन तीन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाने में संलग्न रहा है। इसी हेतु वह विविध सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और आर्थिक यन्त्रों और साधनों का अन्वेषण करता रहा है। इनका क्रम सुदूर अतीत से, जब से उसने पत्थर के हथियार और औजार बनाना जान पाया था, आज तक आधुनिक हवाई जहाज, रेल, तार, लोहे और कपड़े के विशाल कारखाने आदि के रूप में अनवरत रूप से चला आ रहा है। उसकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का भी मुख्यतया यही उद्देश्य रहा है कि मनुष्य-जीवन की इन तीन आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता, सुगमता और विश्वसनीय रूप से हो सके। इन समस्त रचनाओं, संस्थाओं और साधनों का सम्बद्ध और संस्था रूप व्यवस्था का नाम ही 'सभ्यता' है। सारांश में, मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं संतुष्टि के लिए किये गये प्रयास और उनकी अभिव्यक्ति का नाम ही 'सभ्यता' है।

'संस्कृति' का अर्थ एवं स्वरूप—'संस्कृति' एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ समझना तो बहुत सरल है किन्तु जिसकी निश्चित परिभाषा देना सरल नहीं है। यह एक ऐसा शब्द है जिसे प्रायः विद्वानों द्वारा अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त किया जाता रहा है। साधारणतः संस्कृति शब्द का अर्थ 'सुधरी हुई अच्छी स्थिति' माना गया है। किसी भी देश, जाति अथवा समुदाय विशेष की संस्कृति से अभिप्राय होता है— उस देश, जाति अथवा समुदाय के लोगों के रहन-सहन अथवा जीवन-यापन का तरीका।

प्रत्येक सभ्यता के क्रमिक विकास में एक स्तर आता है जब वह विशेष मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों का निर्माण कर लेता है। यह उसके सामूहिक जीवन में इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि समस्त समाज इन उदात्त और सूक्ष्म विशेषताओं में रँग जाता है। उसके सभ्य जीवन की समस्त सामग्री इन उच्च ध्येयों की पूर्ति का एक साधन-मात्र बन जाती है। उसकी समस्त रचनात्मक कृतियाँ इन 'संस्कृत', निखरे हुए, उद्देश्यों के प्रतीक हो जाते हैं।

विभिन्न विद्वानों ने संस्कृति की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। बेकन के शब्दों में, "संस्कृति में मानव की आन्तरिक एवं स्वतंत्र जीवन की अभिव्यक्ति होती है।" एक अन्य विद्वान डॉ० व्हाइट-हेड ने लिखा है: "Culture is

activity of thought and receiptiveness to beauty and human feelings." अर्थात् "संस्कृति मानसिक प्रक्रिया है और सौन्दर्य तथा मानवीय अनुभूतियों को हृदयंगम करने की क्षमता है।" दूसरे शब्दों में, बौद्धिक चिन्तन के द्वारा सत्य की खोज, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और मानव प्रेम का विकास संस्कृति के प्रमुख तत्त्व हैं। "सत्यं, शिवं, सुन्दरम्" ही संस्कृति का महामन्त्र है। "सभ्यता" के सूक्ष्म, शुद्ध और उद्दात तत्त्वों के रचनात्मक विकास और पल्लवन का नाम "संस्कृति" है।

डॉ० रामधारीसिंह 'दिनकर' के अनुसार "संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में व्याप्त है। एक आत्मिक गुण है, जो मनुष्य स्वभाव में, उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन।" प्रो० हुमायूँ कबीर ने लिखा है कि, "संस्कृति भाषा और कला, धर्म व दर्शन, सामाजिक रीति-रिवाजों व आदतों तथा राजनैतिक संस्थाओं तथा आर्थिक संगठनों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। इनमें से अलग-अलग एक इकाई संस्कृति नहीं है; परन्तु संयुक्त रूप से वे जीवन की अभिव्यक्ति हैं, जिसे हम संस्कृति कहते हैं। संस्कृति सभ्यता से ही पुष्पित-पल्लवित होती है।" डॉ० आबिद हुसैन के शब्दों में, "संस्कृति किसी समाज में निहित चरम मूल्यों की सामंजस्यपूर्ण चेतना है जिसकी अभिव्यक्ति उसने अपनी सामूहिक संस्थाओं में की हो, जिसकी अभिव्यक्ति उसके व्यक्ति-सदस्यों ने अपने भाव-स्वभाव, अपनी प्रवृत्तियों, अपने आचरण में और भौतिक वस्तुओं को दिये गये महत्त्वपूर्ण रूपों में की हो।" सत्य की खोज, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और मानव-प्रेम के विकास को सांस्कृतिक प्रेरणा का साधन कहा जा सकता है। सारांश में "संस्कृति किसी समाज की चरम-मूल्य-विषयक भावना है जिसके अनुसार वह अपने जीवन को ढालना चाहता है।"

**सभ्यता एवं संस्कृति के बीच सम्बन्ध**—सभ्यता और संस्कृति का सम्बन्ध और इनके बीच अन्तर को यथेष्ट रूप से समझने के लिए इनकी तुलना क्रमशः मानव शरीर तथा आत्मा से की जा सकती है। 'सभ्यता' देह है, तो 'संस्कृति' उसमें अनुप्राणित आत्मा। जैसे देह का वर्णन सरल है, परन्तु आत्मा का दिग्दर्शन कराना कठिन है, इसी तरह 'सभ्यता' का विशेष चित्रण आसान होता है, परन्तु 'संस्कृति' विशेष का वास्तविक बोध और विवेचन केवल सुहृद प्रयास, निष्पक्ष अनुसंधान और सूक्ष्म चिन्तन द्वारा ही सम्भव है।

प्रो० सी. ई. एम. जोड ने सभ्यता और संस्कृति का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है : "Culture is what we are, civilization is what we make." प्रो० हुमायूँ कबीर के मतानुसार, "एक सीमा तक सभ्यता के विकास और विस्तार के बाद ही संस्कृति का उद्भव और विकास संभव है।" डॉ० आबिद हुसैन ने लिखा है कि सभ्यता किसी जाति या राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास की वह अवस्था

है, जब वह बड़े-बड़े स्थानों में— जिन्हें हम नगर कहते हैं—विकसित होती है। उनमें भौतिक जीवन का अधिक ऊँचा स्तर परिलक्षित होता है। पाश्चात्य लोग इसे 'रहन-सहन का ऊँचा स्तर' कहते हैं। लेकिन भौतिक जीवन के ऊँचे स्तर में सांस्कृतिक तत्त्व तभी होता है जब वह किसी चरम नैतिक मूल्य से अनुप्राणित हो या उसकी सिद्धि का साधन बने।

सभ्यता और संस्कृति का आधार—(1) सभ्यता के विकास का प्रथम आधार हमारा भूमण्डल है। प्राकृतिक परिस्थितियाँ, प्रदेश विशेष के रहन-सहन के ढंग, खान-पान की रीतियाँ, उत्पादन-व्यवस्था, व्यवसाय के साधन और इन क्रियाओं की उपयुक्त सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था का निरूपण सभ्यता करती है। (2) सभ्यता के विकास का दूसरा आधार समूह विशेष के प्राकृतिक गुण और संस्कार हैं। भूगोल और इतिहास की भिन्नताओं के कारण भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न गुण या योग्यताएँ पाई जाती हैं जो उनकी सभ्यता और संस्कृति में प्रदर्शित होती हैं। जातियों के पारस्परिक आदान-प्रदान भी उनकी सभ्यता और संस्कृति को प्रभावित करते रहते हैं।

## II. भारतीय संस्कृति का स्वरूप और विशेषताएँ

भारतीय सभ्यता विश्व की प्राचीनतम एवं श्रेष्ठतम सभ्यताओं में से एक है। इसे मानव समाज की एक अमूल्य निधि कहा जा सकता है। यदि संसार में कोई संस्कृति अमर कही जा सकती है तो निस्सन्देह, भारतीय संस्कृति ही वह संस्कृति है। आज हम जिसे 'भारतीय संस्कृति' कह कर पुकारते हैं वह किसी एक जाति, सम्प्रदाय अथवा वर्ग की कृति नहीं है। प्रायः कुछ विद्वान हिन्दू संस्कृति को ही भारतीय संस्कृति मान बैठने की भूल कर बैठते हैं। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि 'भारतीय संस्कृति' से हमारा अभिप्राय केवल मात्र 'हिन्दू संस्कृति' से कभी नहीं है। यह सही है कि भारतीय संस्कृति के विकास में प्रमुखतम योगदान हिन्दू जाति का ही रहा है, किन्तु इसके स्वरूप को निखारने तथा सजाने-सँवारने में जैन, बौद्ध, मुस्लिम तथा ईसाई संप्रदायों एवं संस्कृतियों ने जो महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है उसे भी नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि आज जिसे हम भारतीय संस्कृति के नाम से जानते हैं, वह किसी एक जाति अथवा सम्प्रदाय की देन नहीं बल्कि हिन्दू, बौद्ध, जैन, मुस्लिम, ईसाई अनेक जातियों एवं संस्कृतियों से ग्रहण किये गये तत्त्वों का समन्वित एवं सम्मिश्रित रूप है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में—

"हिन्दू, बौद्ध, सिख, जैन, पारसी, मुसलमान, क्रिस्तानी
पूरब, पश्चिम आसे, तव सिंहासन आसे, प्रेमहार हम गाथा"

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ—एशिया के अन्तर्गत 'भारत' एक विस्तीर्ण प्रायद्वीप है, जिसका आकार एक विषमबाहु चतुर्भुज के समान प्रतीत

होता है। जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में सबसे बड़ा चीन और दूसरा भारत है। इस देश की जनसंख्या 60 करोड़ से भी ज्यादा है जिसमें 40 विभिन्न प्रजातियाँ (Races) सम्मिलित हैं। ये लोग 161 विविध भाषाएँ बोलते हैं तथा 30 विभिन्न लिपियों का प्रयोग करते हैं।

ऐसे विशाल देश की संस्कृति सार्वभौम आदर्शों से प्रेरित रही है। सत्य की खोज, मानव कल्याण की भावना, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अर्थात् 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' इसका मुख्य ध्येय रहा है। आधुनिक भारत के लिए भी इस संस्कृति का विशेष महत्त्व है। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नानुसार हैं:—

1. **प्राचीनतम संस्कृति**—भारतीय संस्कृति का संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में विशेष स्थान रहा है। आधुनिक उत्खनन प्रयासों ने प्रमाणित कर दिया है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है। पुरातात्विक खोजों से यह स्पष्ट हो चुका है कि आज से लगभग 500 वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया (ईराक) व मिश्र की प्राचीन संस्कृति के समकालीन पश्चिमोत्तर भारत में भी एक नगरीय, सुविकसित तथा समुन्नत आर्येतर संस्कृति विद्यमान थी। जब विश्व के अनेक भागों में बर्बरता व्याप्त थी, हमारे देश में सभ्यता और संस्कृति का आलोक प्रकाशित हो चुका था। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के शब्दों में, **"भारत की सभ्यता संसार के अन्य देशों की सभ्यता से अधिक प्राचीन और प्राणवान है।"**

2. **सतत् निरन्तरता**—भारतीय संस्कृति का स्रोत निरन्तर अविरल गति से बहता रहा है। भारतीय इतिहास के किसी भी युग में उसकी संस्कृति न तो टूटी और न छिन्न-भिन्न ही हुई। विश्व की प्राचीन और समुन्नत संस्कृतियाँ जैसे मिश्र, सुमेरिया, बेबीलोनिया, असीरिया, यूनान, रोम आदि काल के कराल-गाल में विलीन हो चुकी हैं और अब केवल उनकी स्मृति मात्र शेष है। जबकि भारतीय संस्कृति अपने पिछले 5,000 वर्षों से वर्तमान तक निरन्तर चली आ रही है। उसकी निरन्तरता की सफलता उसके लचीलेपन और युग के अनुरूप उसकी प्रगतिशीलता में निहित है। प्रो० हुमायूँ कबीर के शब्दों में, "हजारों उलट-फेरों के बावजूद भी भारतीय संस्कृति आधुनिक युग तक जीवित है। और वह जीवित ही नहीं है बल्कि वह एक ऐसी शक्ति का प्रदर्शन कर रही है कि वह भावी संस्कृति का फलदायी साधन बन सकती है।" महाकवि डॉ० सर मुहम्मद इकबाल के शब्दों में :

"यूनान–ो–मिश्र–ो–रूमा सब मिट गये जहाँ से !
अब तक मगर है बाकी नाम–ो–निशां हमारा !!
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी !
सदियों रहा है दुश्मन दौर–ए–जहां हमारा !!"

3. **समन्वय शक्ति एवं ग्रहणशीलता**—बाहरी तत्त्वों को पचाने की क्षमता तथा समयानुकूल परिवर्तन भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता एवं गुण है। इसकी सहिष्णुता और सहनशीलता का परिचय इस बात में मिलता है कि यहाँ समय-समय पर विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों एवं सम्प्रदायों का उदय होता रहा। सहिष्णुता के अनुकूल इस संस्कृति में सामंजस्य की भी अपरिमित शक्ति विद्यमान रही है। इसी कारण भारतीय संस्कृति ने विभिन्न विचारधाराओं, धार्मिक विश्वासों, रहन-सहन और भाषा-बोलियों के बीच समन्वय कायम करने में सफलता प्राप्त कर ली। प्रो० डॉडवेल के अनुसार, "भारतीय संस्कृति एक विशाल महासागर के समान है जिसमें अनेक नदियाँ (विभिन्न जातियों की सभ्यताएँ) आ-आ कर समाहित होती रही हैं।" प्रो० हुमायूँ कबीर के शब्दों में, "भारतीय संस्कृति एकता और समन्वय, समाधान और विकास तथा पुरातन परम्पराओं एवं नये मूल्यों के सम्पूर्ण समरसता तथा एकरूपता की कहानी है।"

4. **धर्म-प्रधानता एवं आध्यात्मिकता**—भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता उसकी धर्म-प्रधानता है जिसका प्रभाव यहाँ जीवन के प्रायः सभी महत्त्व-पूर्ण पहलुओं पर देखा जा सकता है। धर्म के क्षेत्र में विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा भारत में अनेकानेक धार्मिक प्रयोग हुए हैं। सम्राट अशोक का कथन है—"लोगों को दूसरे के धर्म के बारे में सुनना चाहिए और उसका आदर करना चाहिए।" आर्य, जैन, बौद्ध, इस्लाम एवं ईसाई धर्मों ने भारतीयों के जीवन को धर्म से ओत-प्रोत कर दिया। भारतीय जीवन धर्ममय हो गया। भारतीय चिन्तन पर आध्यात्मिकता की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है। "आत्मा को पहचानो" (आत्मानं विजानीहि)—भारतीय संस्कृति की सार्वभौम घोषणा रही है। साथ ही, मनुष्य के लौकिक जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने पर भी बल दिया गया है।

भारतीय संस्कृति की उपर्युक्त वर्णित विशेषताओं पर विचार करने से अपने अतीत के ऊपर गौरव का अनुभव करना स्वाभाविक है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय संस्कृति के उच्च आदर्शों के फलस्वरूप ही हमें महान् अशोक और सम्राट् अकबर जैसे प्रबुद्ध शासक प्राप्त हुए, जिन्होंने भारतीय संस्कृति की धारा को सशक्त और प्रवाहमयी बनाया। उन्होंने हमें धार्मिक भेद-भाव को भुलाकर एकता और भाईचारे से रहने की प्रेरणा दी।

महत्त्व—सारांश में, भारतीय संस्कृति की ग्रहणशीलता तथा समन्वय की प्रवृत्ति वर्तमान भारत के लिए एक वरदान है। आधुनिक विश्व में अनेक प्रकार की विचारधाराओं, आदर्शों तथा संस्कृतियों का संघर्ष चल रहा है। इनके सफल समन्वय द्वारा ही एक विश्व-समाज का निर्माण किया जा सकता है। विश्व के समक्ष उपस्थित इस कठिन कार्य में समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति निश्चय ही सही मार्ग दिखा सकती है।

## III. "भारत में विविधता में मौलिक एकता"

"भारत में वंश, वर्ण, भाषा, वेश-भूषा व रीति-रिवाज सम्बन्धी अनगिनत विभिन्नताओं में भी एक अखण्ड सारभूत एकता है।"

—डॉ० वी० ए० स्मिथ

अक्सर कहा जाता है कि भारतवर्ष की एकता उसकी विविधताओं में छिपी है और यह बात जरा भी गलत नहीं है; क्योंकि अपने देश की एकता जितनी प्रकट है, उसकी विविधताएँ भी उतनी प्रत्यक्ष हैं। "भारत में विभिन्न प्रकार की जलवायु पाई जाती है। भारत में कहीं गगनचुम्बी पर्वत हैं, तो कहीं पर पृथ्वी समुद्रतल से भी अधिक नीची है। यदि भारतवर्ष को विभिन्न जातियों, रीति-रिवाज, भाषाओं, धर्मों आदि का संग्रहालय (अजायबघर) कहा जाय तो अनुचित न होगा।" पाश्चात्य इतिहासकारों के उपर्युक्त कथन से ऐसा ज्ञात होने लगता है कि भारत में विभिन्नताए अत्यधिक मात्रा में वर्तमान हैं अतएव यह एक देश नहीं है और इस कारण इस देश में पूर्ण एकता भी सम्भव नहीं है। किन्तु सत्य तो यह है कि पाश्चात्य विद्वानों ने भारत की इन विभिन्नताओं पर गहन विचार नहीं किया अन्यथा उनको अपनी विचारधारा में अवश्य ही परिवर्तन करना पड़ता कि "विशाल होते हुए भी भारत की एकता भौगोलिक नक्शे पर और इतिहास पर साफ लिखी हुई है।" अस्तु, यदि हम गम्भीरतापूर्वक दूर-दृष्टि से विचार करें तो अनेक विविधताओं के होते हुए भी भारत की आधारभूत एकता को समझने में कठिनाई नहीं होगी। इस एकता के विभिन्न पक्ष निम्नानुसार हैं :

1. **भौगोलिक एकता**—भारत भौगोलिक दृष्टि से विशिष्ट प्राकृतिक सीमाओं से सुरक्षित है। **डॉ० राजबली पाण्डे** के शब्दों में, "प्रकृति ने इस भौगोलिक इकाई को इतनी दृढ़ता से बनाया है कि यह देश के आन्तरिक विभाजनों को अच्छी तरह ढक देती है।" भौगोलिक एकता तो भारत में इतनी है कि उसकी होड़ करने का दावा कम ही अन्य राष्ट्रीय राज्य कर सकते हैं। प्राचीन शास्त्रों तक में सहस्रों योजन वाले देश का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—"हिमालय से समुद्र तक विस्तृत था" और जो एक चक्रवर्ती सम्राट् के साम्राज्य के अन्तर्गत था। मध्य युग के मुस्लिम शासनकाल में भी भारत एक भौगोलिक इकाई माना गया था और फलस्वरूप यहाँ सार्वभौमिक सत्ता स्थापित करने के प्रयत्न किये गये थे। आधुनिक युग के शासनकाल में वर्तमान यातायात के साधनों की सुगमता तथा समान शासन से यह भौगोलिक एकता और भी अधिक सुदृढ़ हो गयी।

2. **राजनैतिक एकता**—भारतवासी देश की राजनैतिक एकता से भली-भाँति अवगत थे। प्राचीन काल से राजाओं की मनोकामना दिग्विजय करके चक्रवर्ती सम्राट् होने की रहती थी। विष्णुगुप्त चाणक्य कौटिल्य के अनुसार, "चक्रवर्ती सम्राट् का साम्राज्य, हिमालय पर्वत से समुद्र तक विस्तृत होना चाहिए।" चन्द्रगुप्त मौर्य,

अशोक तथा समुद्रगुप्त के समय देश का शासन-संचालन केन्द्र से होता था और देश में राजनैतिक एकता विद्यमान थी। मध्य युग में अलाउद्दीन खिल्जी और बाद में पुनः औरंगजेब ने समूचे भारत को विजित कर राजनैतिक दृष्टि से एक किया। केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों के बने रहने पर भी भारत की राजनैतिक एकता के आदर्श विद्यमान रहे हैं और उन्हें कार्यान्वित करने के प्रयत्न जारी रहे। ब्रिटिश शासनकाल में तो यह राजनैतिक एकता पूर्णतया स्थापित हो गयी।

3. **सांस्कृतिक एकता**—जब भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, तो हम देखते हैं कि बहुरंगी विविधताओं के बावजूद भारतीयों के सोचने-समझने में, उनकी अनुभूतियों में, उनके रहन-सहन में एक मूलभूत एकता है। **प्रो० हुमायूँ कबीर** ने ठीक ही लिखा है कि, "भारतीय संस्कृति की कहानी, एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मानों के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है। यह प्राचीन काल में रही है और जब तक यह विश्व रहेगा तब तक हमेशा रहेगी। विश्व की अन्य अनेक संस्कृतियाँ नष्ट हो गयीं परन्तु भारतीय संस्कृति व उसकी एकता अमर है।" भारत और भारतीय संस्कृति में वही सम्बन्ध है जो शरीर और आत्मा का है।

देश के किसी भी भाग में, चाहे जहाँ भी चले जायें आपको स्थान-स्थान पर एक-सी संस्कृति के मन्दिर तथा मस्जिद दिखायी देंगे। एक ही तरह के लोगों से मुलाकात होगी जो मन्दिर में पूजा और मस्जिद में नमाज पढ़कर परमात्मा की आराधना करते हैं और विशिष्ट अवसरों पर व्रत या रोजे रखते हैं। हिन्दू और मुसलमान विभिन्न धर्मावलम्बी होते हुए भी, सैकड़ों वर्षों की लम्बी संगति के फलस्वरूप उनके बीच संस्कृति की बहुत-सी समान बातें पैदा हो गयी हैं, जो उन्हें दिनों-दिन आपस में नजदीक लाती जा रही हैं।

**विविधता में एकता का जीता-जागता स्वरूप**—धर्म के केन्द्र से बाहर जो संस्कृति की विशाल परिधि है, उसके भीतर बसने वाले सभी भारतीयों के बीच एक तरह की सांस्कृतिक एकता भी है जो उन्हें दूसरे देशों से अलग करती है। संसार के प्रत्येक देश पर अगर हम अलग-अलग विचार करें तो हमें पता चलेगा कि हर एक देश के प्रत्येक निवासी की एक निजी सांस्कृतिक विशेषता होती है, जो उस देश के प्रत्येक निवासी की चाल-ढाल, बात-चीत, रहन-सहन, खान-पान और तौर-तरीके और आदतों से टपकती रहती है। भारत में भी योरोपीय पोशक खूब चलती हुई है, लेकिन योरपीय लिबास में सजे हुए भारतीयों के बीच एक अंग्रेज को खड़ा कर दिया जाय, तो वह आसानी से पहचान लिया जायेगा। इसी तरह एक भारतवासी, चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई कोई भी हो, भारत से बाहर जाने पर आसानी से पहचान लिया जाता है कि वह भारतीय

यानी हिन्दुस्तानी है। यही वह सांस्कृतिक एकता या शक्ति है जो भारत को एक बनाये हुए है। यही वह विशेषता है जो उन लोगों में पैदा होती है—जो एक देश में रहते हैं, एक तरह की जिन्दगी बसर करते हैं और एक तरह के दर्शन और एक तरह की आदतों का विकास करके एक राष्ट्र के सदस्य हो जाते हैं।

स्वाधीन लोकतांत्रिक भारत की एक-सी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत सभी लोगों ने समान नागरिकता प्राप्त की है। इससे पारस्परिक जातीय भेद-भाव विलुप्त हो गया और देश में राष्ट्रीय एकता की नवीन प्रगतिशील विचारधाराओं के फलस्वरूप उदार मानवीय भावनाओं का उदय हुआ।

**निष्कर्ष**—डॉ० वी० ए० स्मिथ का कथन उचित है कि "भारत की अनेक बातें उसे संसार में अलग बतलाती हैं, परन्तु समस्त भारत की अनेक बातों में एकरूपता है।" भारत की मूलभूत एकता के समर्थन में **सर हर्बर्ट रिजले** ने ठीक ही कहा है कि "भारत में दर्शक को भौतिक क्षेत्र में और सामाजिक रूप में भाषा, आचार और धर्म में जो विविधता दृष्टिगोचर होती है, उसकी तह में हिमालय से कन्याकुमारी तक एक आन्तरिक एकता है।"

□□□

# 2

# आधारभूत धार्मिक विचार

## (Fundamental Religious Ideas)

## उपनिषद, गीता और योग

### (Upanishad, Geeta and Yoga)

I. उपनिषद : धार्मिक व आध्यात्मिक सिद्धान्त
II. भगवद्गीता और उसकी शिक्षाएँ
III. योग दर्शन के अष्टांग सिद्धान्त

---

### I. उपनिषद : धार्मिक व आध्यात्मिक सिद्धान्त

भारतीय धर्म और दर्शन का जितना सुन्दर निरूपण उपनिषदों में किया गया है उतना अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता है। भारतीय संस्कृति में पाये जाने वाले समस्त विचारों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का स्वरूप हमें इन उपनिषदों में दिखाई पड़ता है। हमारे यहाँ प्रचलित सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि दार्शनिक मतों तथा चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि नास्तिक दार्शनिक मतों के मुख्य सिद्धांत उपनिषदों में मिल जाते हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में प्रचलित द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएँ भी उपनिषदों पर आधारित हैं।

**उपनिषद क्या हैं ?** विद्वानों द्वारा उपनिषदों को वैदिक साहित्य का ही एक विशिष्ट अंग माना जाता है। वेद कुल मिलाकर चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। इन वेदों को मानव ज्ञान के प्राचीनतम अभिलेख कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी। प्रत्येक वेद के चार भाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद।

(i) **संहिता**—वेदों के संहिता नामक भाग में धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाले मंत्रों और प्रार्थनाओं का संग्रह मिलता है।

(ii) **ब्राह्मण**—ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना संहिताओं के बाद हुई। इनमें यज्ञों की विधियाँ तथा अन्य कर्मकाण्डों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।

(iii) **आरण्यक**—आरण्यक ग्रन्थों में अधिकांशतः उन धार्मिक कर्मकाण्डों की व्याख्या मिलती है जिनका उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया है। इनमें यज्ञों के रहस्य तथा अन्य अनेक दार्शनिक बातों का विवेचन मिलता है।

(iv) **उपनिषद्**—वस्तुतः आरण्यकों को ही उपनिषदों का जनक कहा जा सकता है। इनमें हमें मानव-जीवन, आत्मा, परमात्मा तथा सृष्टि विषयक अनेक गूढ़ विषयों पर गहन और सूक्ष्म चिन्तन देखने को मिलता है। वैदिक काल की संस्कृति के बारे में हमारा ज्ञान तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता है जब तक हम उपनिषदों तथा उनमें निहित ज्ञान एवं दार्शनिक विचारधाराओं को हृदयंगम नहीं कर लेते। इसी कारण उपनिषदों को 'वेदान्त' भी कहा जाता है। एक अन्य विचारानुसार, चूँकि वेदों के अन्तिम भाग में अथवा तुरन्त ही बाद उपनिषदों की रचना हुई; इसलिए भी उन्हें 'वेदान्त' कहा गया।

**उपनिषदों का अर्थ : परिचय**—'उपनिषद' शब्द के अर्थ के बारे में अनेक मत प्रचलित हैं। शाब्दिक रूप से उपनिषद का अर्थ है—**'श्रद्धा सहित निकट बैठना'**। उप=निकट, नि=नियमपूर्वक, तथा **षद**=बैठना, अर्थात् गुरु के समीप बैठकर शिक्षा ग्रहण करना। **मैक्समूलर** का कथन है कि उपनिषद का प्रारम्भिक अर्थ होता है—**गोष्ठी**—एक ऐसी गोष्ठी जिसमें शिष्यगण गुरु के चारों ओर एकत्रित हों। बाद में चलकर इन उपनिषदों (अर्थात् गोष्ठियों) से जन्म लेने वाले दार्शनिक विचारों के संग्रहों को भी इसी नाम से पुकारा जाने लगा। **डॉ० राधाकृष्णन** के मतानुसार, उपनिषद शब्द का अर्थ है, "वह ज्ञान जो कि भ्रम का निवारण करके हमें सत्य तक पहुँचने में समर्थ बनाता है।" प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि अपने रहस्यमय अथवा गूढ़ विचारों के कारण ही उन्हें उपनिषद कहा जाता है। ऐसी स्थिति में **डायसन** नामक विद्वान का यह कथन आसानी से स्वीकार किया जा सकता है कि उपनिषद का अर्थ है—**"रहस्यमय विचार।"**

**प्रमुख उपनिषद**—उपनिषदों की संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद है। **मुक्तिकोपनिषद** के अनुसार उनकी कुल संख्या 108 है। किन्तु विद्वान् लोग केवल उन्हीं उपनिषदों को महत्त्व देते हैं जिनकी रचना बौद्ध काल से पूर्व हो चुकी थी। यह सर्वमान्य तथ्य है कि बुद्ध के बाद भी अनेक उपनिषद रचे गये। साधारणतः विद्वानों का यह मत है कि जिन 11 उपनिषदों की टीका आदि—गुरु शंकराचार्य ने लिखी है, वही प्रमुख उपनिषद हैं। इन प्रमुख ग्यारह उपनिषदों के नाम हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। ये सभी सम्भवतः बुद्ध से पहले की रचनाएँ हैं। ये गद्य और पद्य दोनों शैलियों में लिखे हुए हैं।

**उपनिषदों का रचना-काल**—उपनिषदों के रचनाकाल के बारे में भी इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि उपनिषदों की रचना वेदों

के साथ-साथ हुई। इसके विपरीत कुछ विद्वान यह मानते हैं कि इनका रचनाकाल वेदों के बाद का है। उपनिषदों की रचना पहिले मौखिक रूप से की गयी थी तथा उन्हें लिखित रूप बहुत बाद में जाकर प्राप्त हुआ। ऐसी स्थिति में उनकी रचना का सही समय बताना अत्यन्त कठिन है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि सभी उपनिषद एक ही काल में नहीं रचे गये। इनमें से कुछ अति प्राचीन हैं तथा कुछ काफी बाद के। यही कारण है कि कुछ प्राचीन उपनिषद वेदों में ही सम्मिलित मिलते हैं जबकि बाद के उपनिषद वेदों से पृथक पाये जाते हैं। जो उपनिषद वेदों के साथ सम्मिलित मिलते हैं उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—(i) **ईशोपनिषद**, जो यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है। (ii) **छान्दोग्य उपनिषद**, यह सामवेद के एक ब्राह्मण के अन्तर्गत मिलता है। (iii) **बृहदारण्यक उपनिषद**, जो शतपथ ब्राह्मण का एक भाग है।

## उपनिषदों का दर्शन : आधारभूत विचार

उपनिषदों में भारतीय तत्त्व-ज्ञान और धर्म-सिद्धान्त भरा हुआ है। हमारे ज्ञान के अक्षय-स्रोत यही हैं। यद्यपि उपनिषद वैदिक साहित्य के ही अंग हैं, फिर भी वेदों और उपनिषदों के विचारों में मौलिक अन्तर है। उपनिषदों में वैदिक यज्ञों की अर्थहीनता प्रदर्शित की गई है और ब्राह्मण-वर्ग द्वारा संरक्षित कर्म–काण्डों का विरोध किया गया है।

उपनिषदों में ज्ञान-मार्ग का आदर्श प्रस्तुत किया गया है जो प्रारम्भिक वैदिक धर्म के प्रवृत्ति-परक अथवा उपासना और कर्मकाण्ड प्रधान विचारों से भिन्न हैं। जीवन-मृत्यु, आत्मा, ब्रह्म, प्रकृति जैसे शाश्वत प्रश्नों पर वेदों से अधिक विस्तार से उपनिषदों में चर्चा की गई है। उपनिषदों में धर्म से हटकर आत्मा, ब्रह्म, प्रकृति, मोक्ष, ज्ञान, कर्म और पुनर्जन्म पर विस्तार से चर्चा की गई है। उपनिषदों के रचयिता ऋषियों ने धार्मिक अनुष्ठानों और यज्ञ आदि के स्थान पर मानव के अच्छे-बुरे कर्मों से ही आत्मा के मोक्ष की चर्चा की। उन्होंने दार्शनिक-आध्यात्मिक विचारों को धर्म-निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उन्होंने वेदों के धार्मिक आवरण और आडम्बर से परे शुद्ध ब्रह्म ज्ञान और आत्मपरक तत्त्वों को खोज निकालने का सफल प्रयत्न किया। इसी ने उन्हें कुछ विशेषताएँ प्रदान कीं। उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित धार्मिक और दार्शनिक विचारधारा के मुख्य बिन्दु निम्नानुसार हैं :—

1. **जगत एक ठोस सत्य है**—उपनिषदों का कहना है कि जगत एक ठोस सत्य है। इसे माया, भ्रम, कल्पना अथवा मिथ्या कहना उचित नहीं है। समस्त सृष्टि का निर्माण पाँच तत्त्वों से हुआ है—पृथ्वी, जल, अग्नि, प्रकाश और वायु। इन पाँच तत्त्वों का स्वामी महातत्त्व है। यही महातत्त्व प्रकृति का मूलतत्त्व है, यही ब्रह्म है।

2. **जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है**—उपनिषदों के अनुसार, यह जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। वह ब्रह्म से उत्पन्न होता है। उसी से पलता है और उसी में समा जाता है। मुण्डकोपनिषद के अनुसार, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं अथवा जैसे भूमि से पौधे उगते हैं, उसी प्रकार यह जगत भी ब्रह्म से निकलता है।

3. **ब्रह्म का स्वरूप**—ब्रह्म क्या है ? इसका स्वरूप कैसा है ? उपनिषदों ने इन विषयों पर भी विचार प्रकट किये हैं। इनके अनुसार ब्रह्म चराचर जगत में व्याप्त सूक्ष्म तत्त्व है। यह सूक्ष्म तत्त्व (अर्थात् ब्रह्म) अग्नि, जल, पेड़-पौधों, तथा समस्त जगत में मौजूद है। **छान्दोग्य उपनिषद** में कहा गया है कि जिस प्रकार नमकीन जल के प्रत्येक भाग में नमक रहता है उसी प्रकार ब्रह्म, जिसे आत्म-चेतना भी कहा गया है, सृष्टि के कण-कण में मौजूद है। यही ब्रह्म संसार का संचालक है। ब्रह्म को निराकार, निर्विकार और चेतन माना गया है। उसका अपना कोई स्वरूप नहीं है। ब्रह्म अनन्त है। जगत उसके एक अंश मात्र से बना है। ब्रह्म से ही जीव की उत्पत्ति हुई है। उसी से आत्मा निकली है।

4. **आत्मा का स्वरूप**—उपनिषदों के अनुसार, आत्मा का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। वह अजर, अमर और अशरीरी है। वह जन्म-मरण से परे है और शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। आत्मा वह तत्त्व है जो जीवन का संचालन करता है—यही चेतन-शक्ति है। आत्मा उसी परमात्मा अथवा महातत्त्व का अंश है। 'मानव शरीर में आत्मा की ज्योति ही मनुष्य का मार्ग-दर्शन करती है।'

5. **आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता**—प्रायः सभी उपनिषद एक बात का समवेत स्वर से प्रतिपादन करते हैं कि "**मूल सत्य ब्रह्म है, यही आत्मा है।**" **छांदोग्य उपनिषद** में कहा गया है कि, शरीर में रहने वाली आत्मा वास्तव में ब्रह्म ही है तथा जैसे ही यह (शरीर-रूपी) नश्वर-बन्धन उतर जायेगा वैसे ही वह ब्रह्म में लीन हो जायेगी।"

6. **कर्मवाद और आवागमन**—उपनिषदों के अनुसार कर्मवाद का सिद्धांत सही है। मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। बुरे कर्म करने पर मनुष्य की आत्मा दूषित हो जाती है जिसके कारण वह सांसारिक बंधन से मुक्त नहीं हो पाता तथा उसे बार-बार इस पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार आवागमन का चक्र चलता रहता है, जब तक कि ज्ञानोदय से आत्मा का ब्रह्म में विलीन नहीं हो जाता। ज्ञानोदय सत्कर्म से होता है। इस तरह, कर्मों के द्वारा ही मनुष्य अपने भविष्य का निर्माण करता है।

7. **जीवन का लक्ष्य : मोक्ष**—उपनिषदों ने मोक्ष को मानव-जीवन का

विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। वह ब्रह्म-ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान प्राप्त करने को आतुर हो जाता है। वह ऐसी किसी भी वस्तु से संतुष्ट नहीं हो सकता जो उसे अमृतत्व न प्रदान कराए। अस्तु, उपनिषद ब्रह्म-ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान मानते हैं। जो व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है उसका समस्त अज्ञान दूर हो जाता है तथा उसके कर्मों के प्रभाव नष्ट हो जाते हैं। वह ब्रह्म में लीन होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मोक्ष परम शान्ति की अवस्था है।

**उपनिषदों का एकतत्त्ववाद (Monism)**—सम्पूर्ण सत्ता का केवल एक ही स्रोत मानने की प्रवृत्ति को एकतत्त्ववाद या एकवाद कहा जाता है। एकतत्त्ववादी विचारधारा के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति जिस तत्त्व से हुई वह एक है। उसके समान या उससे अलग अन्य कुछ नहीं है। एकतत्त्ववाद का सिद्धांत उपनिषदों की मुख्य शिक्षा है जिसके अनुसार सम्पूर्ण जगत के पीछे जो मूल आध्यात्मिक सत्ता है, वह एक ही है। जगत में नित्य-तत्त्व अथवा वास्तविक सत्ता "ब्रह्म" और व्यक्ति के स्व का मूलतत्त्व "आत्मा"—ये दोनों वास्तव में एक ही हैं।

उपनिषद सभी अस्तित्वमान वस्तुओं की एकता पर बल देते हैं। उनकी दृढ़ मान्यता है कि एक सर्वव्यापी सत्ता है जिसमें सभी वस्तुएँ स्थित हैं और जिसमें सभी वस्तुएँ विलीन हो जाती हैं। सारे जगत का मूल-तत्त्व और व्यक्ति का मूल-तत्त्व भिन्न नहीं हो सकते। उपनिषदों के अनुसार, "इस सृष्टि के पीछे एक ही सत्ता है, एक ही सत्य है, उसे चाहे ब्रह्म कहें अथवा आत्मा।" जब तक अज्ञान-वश हम इनमें भेद करते रहते हैं और इनकी एकता की अनुभूति नहीं कर पाते तभी तक आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं। जिस क्षण इस एकता का ज्ञान हमें हो जाता है, उसी क्षण इस संसार एवं पुनर्जन्म के चक्कर से मुक्ति मिल जाती है। सारांश में उपनिषदों में ब्रह्म और जगत् का एकत्त्व भलीभाँति प्रतिपादित किया गया है। उपनिषद ऐसे रोचक संवादों से परिपूर्ण हैं जिनमें एकतत्त्ववाद का अनूठा रूप देखने को मिलता है।

**वेदों तथा उपनिषदों में विचारों का अन्तर**— उपनिषद वेदों की विचारधारा के विरोध में एक नवीन विचारधारा का प्रतिपादन हैं। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड की कटु आलोचना मिलती है। मुण्डकोपनिषद में पुरोहितों के व्यक्तित्व और अस्तित्व को भी चुनौती दी गई है। उसने यज्ञों के कर्म-काण्ड को सारहीन, निरर्थक और हास्यास्पद निरूपित किया है—"यज्ञ एक टूटी नाव के समान है, इनके द्वारा जो भवसागर पार करना चाहते हैं, वे मूढ़ हैं।" वेद यज्ञ के माध्यम से मनुष्यों को शाश्वत सुख प्रदान करना चाहते हैं जब कि उपनिषदों के अनुसार यज्ञों से नश्वर सुख ही मिल सकता है। उपनिषदों ने सांसारिक सुख, भोगवाद और वैदिक धार्मिक यज्ञों व अनुष्ठानों के स्थान पर आत्म-ज्ञान, सत्य के उद्घाटन और आध्यात्मिक चिंतन पर बल दिया। उपनिषदों से पहले आर्यों का

झुकाव सांसारिक भोगों की ओर अधिक था। उपनिषदकारों ने इसे अस्वीकार कर दिया। इसके विपरीत उन्होंने सांसारिक बन्धनों से छुटकारा प्राप्त कर आत्मा के मोक्ष को ही जीवन का मुख्य ध्येय माना।

**वेदों में हमें बहुदेववाद के दर्शन** होते हैं। वेदों में, प्रकृति की शक्तियों के देवीकरण के कारण, बहुदेववाद की प्रतिष्ठा है। इसके विपरीत, **उपनिषदों में शुद्ध एकेश्वरवाद है।** वे बहुदेववाद अथवा बाह्य प्रकृति की आराधना में विश्वास नहीं करते, वे परमतत्त्व की खोज में व्यस्त हैं। **वृहदारण्यक उपनिषद** में कहा गया है कि "सब देवता केवल ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र हैं और उसी पर आश्रित हैं।"

**वेदों को सही अर्थों में दार्शनिक ग्रन्थ नहीं** कहा जा सकता, क्योंकि उनमें तथ्यों पर पहुँचने के लिए किसी तर्क या युक्तिपूर्ण शैली को नहीं अपनाया गया है। इसके विपरीत **उपनिषदों की दार्शनिक प्रवृत्ति स्पष्ट है।** उनकी प्रवृत्ति उपासना से ध्यान की ओर, यज्ञ से चिन्तन की ओर तथा बाह्य प्रकृति की आराधना से आध्यात्मिक खोज की ओर उन्मुख है। सारांश में, उपनिषदकारों का दृष्टिकोण तर्क-प्रधान था। वे पूर्वाग्रहों से ग्रसित न थे।

**वेदों में सृष्टि** का **रचयिता ईश्वर और देवताओं को माना है।** इसके विपरीत, **उपनिषदों के अनुसार, पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु इन पाँच तत्त्वों से सृष्टि की रचना हुई है।**

**उपनिषदों में सदाचार की शिक्षा**—उपनिषदों में कहा गया है कि "वेद पढ़ने से या विद्या से, अथवा ज्ञान से सिद्धि नहीं हो सकती; सदाचार भी होना चाहिए।" ज्ञान और आचार एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। जब तक आचार ठीक नहीं है, हृदय में शांति नहीं हो सकती। अतः केवल यज्ञ, दान इत्यादि से मुक्ति नहीं हो सकती। अहंकार जीव को हर तरह से नीचे गिराता है। अतः अहंकार को छोड़कर ब्रह्म की ओर बढ़ाना चाहिए। सच्चाई के महत्त्व की सार्वभौम घोषणा हमें **मुण्डक उपनिषद** के इस कथन में मिलती है—"सत्यमेवजयते नानृतम्" अर्थात् "सत्य की ही जीत होती है, असत्य की नहीं।" सत्य ही ब्रह्मज्ञान की ओर अग्रसर कर सकता है। **वृहदारण्यक उपनिषद** ने पवित्र आचरण पर जोर देते हुए कहा है, "मुझे असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।" उपनिषद में त्याग के साथ सांसारिक सुख भोगने की शिक्षा है, "यह सारा विश्व और उसमें जो कुछ है, ईश्वर में व्याप्त है। अतएव, त्याग के साथ भोग करो, किसी दूसरे के धन पर मत ललचाओ।"

**उपनिषदों का महत्व**—उपनिषद भारत के ही नहीं समस्त विश्व के श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। भारतीय दर्शन का जितना सुन्दर निरूपण उपनिषदों में किया गया है, उतना अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। डॉ० के० एम० पणिक्कर के शब्दों में, "कर्म, माया, मुक्ति, पुनर्जन्म आदि के सिद्धांत जिनका आज भी हिन्दू जीवन

को ढालने में पूरा-पूरा हाथ है. उपनिषदों में विस्तृत रूप से समझाये गये हैं।" डॉ० **एनीबीसेंट** ने ठीक ही, "उपनिषदों को मानव-चेतना का सर्वोच्च फल" कहा है। उपनिषदों में जो शिक्षायें हैं उनमें देवी कल्पना के ऊपर बल नहीं दिया गया है। वह पूर्ण रूप से मानवीय हैं। इनमें मानव-जाति के कल्याण का आदर्श है।

उपनिषदों में निहित ज्ञान के महत्त्व को न केवल भारतीय वल्कि पश्चिमी विचारकों ने भी सराहा है तथा उससे लाभ उठाने की चेष्टा की है। जर्मनी के विख्यात दार्शनिक एवं विद्वान **शोपेनहार** ने लिखा है कि, "सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान जीवन को ऊँचा उठाने वाला कोई अन्य ग्रन्थ नहीं है। इनसे मुझे जीवन में शांति मिली है। इन्हीं से मृत्यु के समय शांति मिलेगी।" **मैक्समूलर** ने भी कहा है कि, उपनिषद वेदांत-दर्शन के प्रमुख स्रोत हैं। इनमें मानव-तत्त्व चिन्तन अपनी पराकाष्ठा पर देखा जा सकता है। "वे किसी भी काल और किसी भी देश के मानव मस्तिष्क की अद्भुत सृष्टि समझे जायेंगे।" **गेडन** के मतानुसार, "भारत में धार्मिक सुधार के सभी प्रयास उपनिषदों के अध्ययन से उत्पन्न हुए हैं।" सारांश में दार्शनिक साहित्य के इन प्राचीनतम ग्रन्थों का विश्व के साहित्य में सर्वदा अपना स्थान रहेगा।

## II. भगवद्गीता और उसकी शिक्षाएँ (The Bhagwad-Geeta)

**महान् ग्रन्थ**—श्रीमद्भगवद्गीता की गणना विश्व-साहित्य के जाज्वल्यमान ग्रन्थ-रत्नों में की जाती है। बाइविल के बाद गीता ही संभवतः ऐसी पुस्तक है जिसका विश्व की अनेकानेक भाषाओं में अनुवाद किया गया है। **डॉ० राधाकृष्णन्** ने इस ग्रन्थ के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "किसी ग्रन्थ का मनुष्य के मन पर कितना अधिकार है, उसे उस ग्रन्थ की कसौटी समझा जाए तो कहना होगा कि गीता भारतीय विचारधारा में सबसे अधिक प्रभावशाली ग्रन्थ है।" गीता की प्रशंसा में **डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल** ने कहा है, "विश्व के साहित्य में कर्मशास्त्र का और मोक्षशास्त्र का ऐसा रहस्यपूर्ण ग्रन्थ कोई दूसरा उपलब्ध नहीं है, जिससे गीता की तुलना की जा सके।" **विलियम वॉन हंबोल्ट** के मत में, "यह सबसे सुन्दर, शायद अकेला, सच्चा दार्शनिक काव्य है जो किसी भी जानी हुई भाषा में मिलता है।" **महात्मा गांधी** के शब्दों में, "गीता मेरी शक्ति का आधार है। निराशा और नितांत एकाकी क्षणों में वह मेरे लिए प्रकाश की किरण है।"

**गीता महाभारत का अंग है**—गीता भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'महाभारत' के भीष्म पर्व का एक भाग है। इसमें भीष्मपर्व के 23वें से लेकर 40वें तक कुल 18 अध्याय सम्मिलित हैं। प्रारम्भ के कुछ संवाद कौरवराज धृतराष्ट्र-संजय के बीच में हैं। परन्तु, शेष सभी संवाद कृष्ण-अर्जुन के मध्य हैं। इस तरह, यह महाभारत का ही अंश है; एक बहुत बड़े नाटक की घटना है। परन्तु, वह

अपने में सम्पूर्ण है तथा उसका अपना अलग स्थान व महत्त्व है। **डॉ० राजबली पाण्डेय** के अनुसार, "धर्म, दर्शन और नीति की दृष्टि से महाभारत का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग श्रीमद्भगवदगीता है। यह प्रवृत्तिमार्गी भक्तिमूलक ज्ञानाश्रयी वैष्णव धर्म का प्रतिपादन करती है। इसमें कृष्ण को पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त भगवान् स्वीकार किया गया है। उन्हीं के द्वारा अर्जुन को यह उपदिष्ट है। इसीलिए इसको श्रीमद्-भगवद्गीता कहते हैं। इसमें कृष्ण केवल ईश्वर ही नहीं, परब्रह्म भी हैं। इसलिए गीता केवल ईश्वरवाद का ही प्रतिपादन नहीं करती, अपितु ब्रह्मवाद पर आधारित धर्म का भी।"

**श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को उपदेश**—महाभारत-युद्ध के अवसर पर जब कौरवों और पाण्डवों दोनों पक्षों की सेनाएँ कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी थीं तभी पाण्डव पक्ष के प्रमुख योद्धा अर्जुन का मन यह देखकर विचलित हो उठा कि जिन लोगों से उसे युद्ध करना है, वे सब उसके बन्धु-बान्धव, सखा, मित्र, गुरु आदि ही हैं। उसके मन में मोह जाग उठा तथा उसने अपने अस्त्र-शस्त्र उतारकर रख दिये। यह देखकर श्रीकृष्ण ने, जो कि उसके रथ के सारथी बने हुए थे, उससे इसका कारण जानना चाहा। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को उत्तर दिया कि मैं थोड़ी-सी भूमि व सम्पत्ति के लिए, अपने भाइयों, सम्बन्धियों और गुरुजनों का खून नहीं बहाना चाहता। इस पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को प्रभावपूर्ण उपदेश देकर उसके मोह का अन्त किया। श्रीकृष्ण के दार्शनिक एवं पांडित्यपूर्ण उपदेश ने अर्जुन के ज्ञान-चक्षु खोल दिये, उसकी मोह-निद्रा भंग हुई तथा अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए वह धर्म-युद्ध के मैदान में कूद पड़ा। श्रीकृष्ण ने जो उपदेश अर्जुन को दिया, वही दिव्य-संदेश भगवद्गीता में संकलित है। परम्परा के अनुसार, गीता का उपदेश अर्जुन को मार्ग-दर्शन के लिए दिया गया, परन्तु वास्तव में गीता एक विश्व-दर्शन है। अर्जुन की तरह किं-कर्त्तव्य विमूढ़ हुए हर-एक मनुष्य के लिए गीता का उपदेश कल्याण-पथ का निर्देश है। अर्जुन उन सामान्य मानवीय त्रुटियों और कमजोरियों का प्रतिनिधित्व करता है जिसे माया-मोह के प्रभाव में सांसारिक जीवन के संघर्षों और कष्टों के रूप में मनुष्य निरन्तर अनुभव करता है। गीता के प्रथम अध्याय में आत्मा को उसी संशय, भ्रम, अन्धकार एवं अविवेक की स्थिति में चित्रित किया गया है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"हे अर्जुन ! धर्मयुद्ध से पलायन नहीं करना चाहिए। धर्मयुद्ध क्षत्रिय का कर्त्तव्य है, जो उसे इस लोक में कीर्ति और मरने के बाद स्वर्ग प्रदान करता है। आत्मा नित्य है, इस कारण शोक करना अनुचित है। शरीर के नाश के साथ आत्मा का विनाश नहीं होता। मनुष्य का यह कर्तव्य है कि अपने मन को वासनाओं और कामनाओं से हटाकर कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होवे। सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय का विचार न करके मनुष्य को अपने कर्म में लगा रहना चाहिए।" यही कर्म-योग है।

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दी गई शिक्षाओं के सम्बन्ध में, संक्षेप में, कहा जा सकता है कि—(1) श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम-कर्म करने की शिक्षा दी– "हे अर्जुन ! तुम्हें कर्म करने का अधिकार है, फल की इच्छा का नहीं। (2) श्री कृष्ण ने आत्मा की अमरता का सन्देश देते हुए अर्जुन को स्पष्ट रूप से कहा है कि अपने भाई-बन्धुओं की मृत्यु का शोक नहीं करना चाहिए—"यह आत्मा, शरीर नष्ट होने पर उसी प्रकार दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो जाती है, जिस प्रकार कि मानव जीर्ण-शीर्ण वस्त्र उतारकर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है। (3) श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह भी शिक्षा दी कि अहंकार रहित होकर मनुष्य को भगवान् में श्रद्धा रखते हुए कार्य करना चाहिए। अस्तु, श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेश सर्वमानवता के लिए हितकर व अनुकरणीय हैं।

**भगवद्गीता के मुख्य सिद्धान्त एवं शिक्षाएँ**

गीता भारतीय धार्मिक और दार्शनिक साहित्य की अनमोल कृति है। वेदों और उपनिषदों की विचारधारा स्फटिक की तरह उज्ज्वल होकर गीता में प्रकट हुई है। गीता अध्यात्म-विद्या अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान का अपूर्ण ग्रन्थ है। उपनिषदों के संदेश को गीता ने जन-साधारण के लिए अनुभव एवं बोधगम्य बनाकर घर-घर पहुँचा दिया है। गीता से हमें जिन बातों का उपदेश मिलता है, वे शिक्षायें निम्नानुसार हैं।

**1. कर्मयोग** (*निष्काम कर्म*)—भगवद्गीता की पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट है कि उसकी प्रमुख शिक्षा कर्मयोग की है। कर्म-योग में कर्म का शाब्दिक अर्थ है 'कर्त्तव्य' अथवा 'जो कर्म किया जाय'। परन्तु, गीता में यहाँ कर्म का अर्थ उन कर्त्तव्यों से लेना चाहिए जो सामाजिक परम्पराओं के अनुसार विभिन्न वर्णों के उत्तरदायित्व के रूप में निर्धारित किये गये थे। योग का तात्पर्य है 'अपने को उसमें लगाना' या 'जोड़ना'। इस तरह, कर्म-योग का तात्पर्य यह हुआ—'अपने सामाजिक—उत्तरदायित्व का पूरी तरह निर्वाह करना'। गीता के कर्म-योग सिद्धान्त के अनुसार कर्म को साधन नहीं वरन् कर्म को ही साध्य समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, कर्म आरम्भ करने से पूर्व अथवा कर्म करते समय किसी प्रकार उसके फल का भाव मन में न आना चाहिए।

श्रीकृष्ण गीता के चौथे अध्याय में कहते हैं कि, "मनुष्य को बुद्धि पूर्वक विचार करने का निरन्तर अभ्यास करने से वह दृष्टि मिल जाती है जिससे वह निश्चय कर सके कि उसे क्या करना है और क्या नहीं। लेकिन जब कभी कोई कार्य करे तो उसे अपना कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व समझकर करे।" गीता के दूसरे अध्याय में भी श्रीकृष्ण ने कहा है, "तुम्हारा सम्बन्ध केवल कर्म करने से है, उसके फल से नहीं।" दूसरे शब्दों में, हमें फल की चिन्ता किये बिना कर्म करना चाहिए।

अस्तु, कर्त्तव्य-कर्म का पालन करते रहना और अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार के फल की इच्छा न रखना ही कर्म-योग है। कृर्त्तत्व (मैं कर्त्ता हूँ) के अहंकार और कर्म-फल की कामना का त्याग इस कर्म-योग का अनिवार्य अंग है।

कामना रहित कर्म होने के कारण कर्म-योग को 'निष्काम कर्म' भी कहते है। गीता के अनुसार यदि फल के प्रति आसक्ति न रखी जाय तो कर्म-बन्धन का कारण नहीं होता, वरन् वह मोक्ष का साधन बन जाता है। गीता का कहना है कि व्यक्तिगत लाभ या कल्याण का विचार त्यागकर कर्म करने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है यथा—"हे अर्जुन ! तू अनासक्त होकर निरन्तर कर्त्तव्ययुक्त कर्मों को करता जा। अनासक्त होकर काम करने वाला मनुष्य परमात्मा को प्राप्त होता है।" सारांश में, कर्म के इस सिद्धान्त का मुख्य परिणाम यह होता है कि कार्य करने वाला अनुचित कर्म नहीं करता है। जब मनुष्य स्वार्थ रहित होकर कार्य करता है तो ईश्वर प्राप्ति में तो सहायक होता ही है, वह दूसरों के लिए भी कल्याणकारी होता है।

2. **ज्ञान योग**—गीता के ज्ञान योग के सिद्धांत का तात्पर्य है आत्मा-शुद्धि एवं आत्म-ज्ञान। आत्म-ज्ञान की अवस्था में मनुष्य अपने को सम्पूर्ण मानव मात्र में देखता है। उस अवस्था में मनुष्य का सम्पूर्ण माया-मोह समाप्त हो जाता है। आत्म-ज्ञान के प्रकाश में कर्मों का अन्धकार समाप्त हो जाता है और फिर व्यक्ति को कर्म-फल भोगने की आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञान-योग से परम-सत्य की अनुभूति होती है।

गीता ने यह प्रतिपादित किया है कि "यह शरीर नाशवान है; परन्तु इसमें निवास करने वाली आत्मा अमर है।" जिस तरह हम फटे-पुराने, जर्जर और मलिन कपड़ों को त्याग कर नये कपड़े पहन लेते हैं; उसी प्रकार आत्मा समय आने पर इस जर्जर और अकर्मण्य शरीर का त्याग कर नया शरीर ग्रहण कर लेती है। गीता के अनुसार, आत्मा देश और काल के वशीभूत नहीं होता, इसकी सत्ता सर्वत्र है। यह अव्यक्त और विकार रहित है। आत्मा का यह सच्चा स्वरूप समझ पाते ही मनुष्य के सब दुःख दूर हो जाते हैं।

3. **भक्ति योग**—एकाग्र चित्त होकर भगवान् को आत्म-समर्पण किये बिना कोई साधना सफल नहीं हो सकती, यह गीता की शिक्षा है। निराकार के प्रति भक्ति होना कठिन है। अतः गीता में सगुण (अर्थात् शरीरधारी) ईश्वर की कल्पना की गई है। इस ईश्वर को कृपालु एवं भक्तों का रक्षक माना गया है। गीता का कहना है कि जो अपना सब कुछ अर्पित करके ईश्वर के चरणों में अपने को झुका देता है उसके लिए प्रभु का द्वार खुला हुआ मिलता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि "यदि पापी मनुष्य भी अनन्य भाव और पूर्ण प्रेम के साथ मेरी (ईश्वर की) भक्ति करता है तो वह भी धर्मात्मा ही है, क्योंकि वह एक निष्ठावान इच्छा को लेकर मेरी (ईश्वर की) शरण में आया है और इसीलिये वह एक धार्मिक आत्मा-सम्पन्न व्यक्ति है। भगवान् स्वयं किसी के पुण्य या पाप को ग्रहण नहीं करता।" गीता का कहना है कि व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी देवता की भक्ति कर सकता है।

4. **ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय**—गीता की रचना से पूर्व ईश्वर तथा मोक्ष प्राप्ति के लिये तीन अलग-अलग मार्ग माने जाते थे—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग। गीता ने इन तीनों विचारों को समन्वित करने का महत्त्व-पूर्ण कार्य किया। उसने यह मत प्रतिपादित किया कि ये तीनों परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। गीता में कहा गया है कि ईश्वर के प्रति भक्ति तथा कर्मों में सुधार तभी सम्भव है, जबकि हमें ईश्वर के गुणों एवं शक्तियों का सही ज्ञान होगा। इसी प्रकार, यदि हममें ईश्वर के प्रति पूर्ण-भक्ति और आस्था न होगी तब तक न तो हम उसे जानने की चेष्टा करेंगे और न ही उसे प्राप्त करने के लिये अपने कर्मों को सुधारने की चेष्टा करेंगे। इसी तरह, भक्ति तभी सम्भव है जब कि हम ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान के आधार पर अपने कर्मों को सुधारेंगे। कहने का तात्पर्य यही है कि गीता भक्ति, ज्ञान और कर्म में घनिष्ठ सम्बन्ध मानती है और एक के बिना दूसरे की स्थिति को स्वीकार नहीं करती है। ज्ञान और भक्ति के बिना अच्छे कर्म नहीं हो सकते; कर्म तथा ज्ञान के बिना भक्ति सम्भव नहीं है और कर्म तथा भक्ति के बिना ज्ञान का कोई लाभ नहीं है, ऐसा गीता का विश्वास है।

**स्थितप्रज्ञ : पूर्ण मानव का आदर्श**—गीता में श्रीकृष्ण ने मानव का आदर्श रखा है जिसके अनुसार 'स्थितप्रज्ञ मानव' एक पूर्ण एवं आदर्श मानव है। स्थित-प्रज्ञ का परिभाषिक अर्थ है 'स्थिर बुद्धि वाला'। दूसरे शब्दों में, 'स्थितप्रज्ञ वह मानव है जिसकी बुद्धि स्थिर होती है।' वह सुख-दुःख, मान-अपमान, सफलता—असफलता, राग-द्वेष आदि में समत्व भाव को अपनाता है। वह क्षमाशील, सदा-शयी, सदाचारी और प्रत्येक प्राणी के प्रति मैत्री-भावना रखता है। गीता में ऐसे गुणों की विशद विवेचना की गई है जो मनुष्य को एक सहनशील, कार्यरत एवं निर्भीक व्यक्ति बनाकर मोक्ष प्राप्ति एवं सांसारिक कर्त्तव्यों को दृढ़ता से करने के लिए प्रेरित करते हैं।

गीता में कहा गया है—"जो व्यक्ति मन में स्थित सारी कामनाओं को त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट रहता है; जो दुःख से उद्विग्न नहीं होता और जो सुख की इच्छा नहीं करता; जो राग, भय और क्रोध से सर्वथा मुक्त है; जो शुभ तथा अशुभ वस्तुओं को प्राप्त होने पर न तो प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है; जो पूरी तरह अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने वश में किये हुए है; वह स्थितप्रज्ञ है अर्थात् उसकी बुद्धि स्थिर होती है।" सारांश यह है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में अहं, बल, काम, क्रोध तथा लोभ का भाव नहीं होना चाहिये। उसे एकाग्र-चित होकर ईश्वर में लीन होना चाहिये। जो व्यक्ति स्थित-प्रज्ञ हो जाता है वह न किसी वस्तु की इच्छा रखता है और न किसी के बारे में शोक करता है, केवल ईश्वर भक्ति की ओर ही ध्यान देता है। उसके कर्म पवित्र

और शुभ होते हैं। ऐसा चरित्रवान व्यक्ति, वास्तव में, समाज के लिए एक बड़ी निधि सिद्ध होता है।

**गीता का मूल्यांकन**—गीता की शिक्षाओं का जब हम मूल्यांकन करते हैं तो ऐसा लगता है कि इसका मुख्य उद्देश्य है जीवन की समस्याओं को सुलझाना और सत्कर्म को प्रोत्साहित करना। मानव जीवन में भावनाओं और कर्त्तव्यों के बीच परस्पर संघर्ष आदिकाल से होता आया है। गीता ने इस द्वन्द्व को समाप्त करने के लिए समुचित मार्ग-दर्शन किया है। **एम० हिरियन्ना** नामक विद्वान ने लिखा है कि **"गीता आद्योपान्त सहिष्णुता की भावना से अनुप्राणित है जो हिन्दू विचारधारा का एक प्रमुख लक्षण है।"** गीता का धर्म एक ऐसा धर्म है जिसे हर कोई अपना सकता है। इस धर्म में जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि का कोई भेद-भाव नहीं रखा गया है। वर्तमान युग में, जबकि विश्व युद्ध के बादल चारों ओर मंडरा रहे हैं, गीता का विश्व-बन्धुत्व का सन्देश हमारा मार्ग-दर्शन कर सकता है। गीता का निष्काम कर्म-योग भी आज के मानव का मार्ग-दर्शन करके पारस्परिक वैमनस्य को मिटाने में सहायक हो सकता है। संक्षेप में, गीता "अभी तक भारतीय धर्म और दर्शन का जितना विकास हुआ था, उसके उत्तमांश का सार प्रस्तुत करती है।"

## III. योग दर्शन : के अष्टांग सिद्धान्त
**(Yoga : Eight Fold Means)**

'योग' भारतीय धर्म से सम्बन्धित एक दार्शनिक विचारधारा है, जिसके प्रवर्त्तक आचार्य पातंजलि माने जाते हैं। प्राचीन ऋषियों तथा तत्त्व-ज्ञानियों ने योग की उपयोगिता एक स्वर से स्वीकार की है। कैवल्य अथवा मोक्ष प्राप्त करने के लिए जिस मार्ग का अनुसरण और जिन साधनाओं को करना आवश्यक है, उनका विस्तृत विवरण योग-दर्शन में ही मिलता है। योग-दर्शन का 'सांख्य' के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। सांख्य में यदि सैद्धांतिक पक्ष है तो उसका व्यावहारिक पक्ष योग में मिलता है। एक तरह से इन दोनों को एक दूसरे का पूरक कहा जा सकता है।

उपनिषद में सबसे पहली बार योग का उल्लेख आया है। योग की क्रियाओं से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, मन स्थिर होता है, हृदय पवित्र होता है, आत्मा भौतिक जीवन से ऊंची उठ जाती है और ब्रह्म को समझने में सुगमता होती है। कौषीतकि उपनिषद कहता है कि "राग-द्वेष–भावना, वृत्ति का पूरी तरह दमन करना चाहिए। प्राण-वायु को रोकने से भी चित्त को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। सब कुछ छोड़कर एक-एक पदार्थ पर मन को एकाग्र करने से चित्त में स्थिरता आती है।" आचार्य पतंजलि द्वारा रचित 'योग-सूत्र' योग-दर्शन

का प्रमाणित ग्रन्थ माना जाता है। योग दर्शन का उद्देश्य जीवात्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराना है ताकि वह स्वयं को मानसिक विकारों से परे समझे। योग-शास्त्र में हमें उन व्यावहारिक साधनों का उल्लेख मिलता है, जिनके द्वारा हम अपने को एकाग्र कर सकते हैं।

**'योग' का अर्थ व परिभाषा**—आचार्य पतञ्जलि ने 'योग' की परिभाषा इन शब्दों में की है—"योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" अर्थात् **"चित्त की समस्त वृत्तियों पर नियन्त्रण करना ही योग है।"** मानव-मन चंचल होता है, इस चंचल मन या चित्त को एकाग्र करने की साधना ही योग है। योग के सम्बन्ध में **श्रीकृष्ण ने गीता में कहा** है कि, "योग न तो किसी प्रकार का चमत्कार है और न शरीर को किसी प्रकार का कष्ट देना ही योग है। जो व्यक्ति आहार तथा विहार में सन्तुलन वरतता है; जो कर्मतत्त्व चेष्टाओं में अति का पालन नहीं करता तथा जो सोने और जागने में निश्चित नियम का पालन करता है, उसी व्यक्ति का योग-साधन ठीक है।"

जीवात्मा को यहाँ तरह-तरह के दुःख भोगने पड़ते हैं। इन दुःखों का कारण यह है कि मनुष्य की आत्मा भ्रमवश अपने को 'चित्त' समझ लेती है, जबकि वास्तविकता में वह उससे भिन्न है। फलस्वरूप वह इस संसार के दुःख-सुख, राग-द्वेष में पड़ जाती है। यही 'आत्मा-का-बन्धन' है जो उसे मोक्ष प्राप्त नहीं करने देता। इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय–योग है जिससे चित्त (मन) की वृत्तियां शांत हो जाती हैं तथा अपने को चित्त के विकारों से अलग समझने लगती है। इसी अनुभव को **'योग का आत्म-ज्ञान'** कहा जाता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति समस्त दुःखों से छुटकारा पा जाता है, यही मुक्ति है। सारांश में, **'योग चंचल चित्त को एकाग्र करने की साधना है।'** अतः इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। योग चित्त की चंचलता को जीतने का मार्ग दर्शाता है तथा चित्त को नियन्त्रित कर उसे परमात्मा की भक्ति की ओर ले जाने में सहायक होता है।

## अष्टांग-साधना : योग के आठ साधन

योग-दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार सांसारिकता का उद्भव इच्छाओं के कारण होता है। इसलिए चित्त की वृत्तियों को रोकने एवं अच्छे-बुरे विचारों एवं इच्छाओं के नाश के लिए योग का अभ्यास आवश्यक है। परन्तु चित्त की प्रवृत्तियों को एक दिन में नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। इसके लिए सतत् प्रयत्नशील रहना पड़ता है। चित्त की शुद्धि और पवित्रता के लिए योग आठ प्रकार के साधन बतलाता है। इसी कारण इसे अष्टांग-योग (आठ अंगों वाला योग) भी कहा जाता है। ये आठ साधन इस प्रकार हैं; (1) यम, (2) नियम,

(3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान और (8) समाधि। ये आठों योग के अंग कहलाते हैं।

1. यम (Restraint)—शारीरिक, मानसिक तथा वाणी सम्बन्धी संयम को 'यम' कहते हैं। 'यम' का अर्थ संसार के प्राणिमात्र के साथ सौहार्द्र स्थापित करना है। 'यम' के अनुसार किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट या आघात नहीं पहुँचना चाहिए। योग के अनुसार चित्त पर नियन्त्रण करने के लिए इस प्रकार का संयम वहुत जरूरी है। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), अपरिग्रह (संग्रह वृत्ति का निरोध) और ब्रह्मचर्य-पालन। इन पांचों यमों का पालन प्रत्येक योगी के लिए अनिवार्य है।

2. नियम (Culture)—योग का दूसरा अंग 'नियम' या सदाचार का पालन है। नियम भी पांच हैं—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान। शौच अथवा शुद्धता तन और मन दोनों के लिये आवश्यक है। सन्तोष से अभिप्राय यह है कि मनुष्य को जो मिले उसी में सन्तोष प्राप्त करना चाहिए। तप का आशय यह है कि सर्दी-गर्मी सहने की क्षमता पैदा की जाए। स्वाध्याय से आशय है अच्छे धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन में संलग्न रहना चाहिए। ईश्वर-प्राणिधान से अभिप्राय यह है कि ईश्वर-चिन्तन और उसकी भक्ति प्रतिदिन करनी चाहिए।

3. आसन (Posture)—योग-दर्शन शरीर और मन को पुष्ट और निरोग रखने के लिए कुछ आसन वताता है जिन्हें योगासन कहते हैं। बैठने के जिस ढंग से चित्त स्थिर रह सके तथा शरीर को सुख मिले, उसे ही 'आसन' कहते हैं। यम और नियम जहां चित्त-वृत्ति के निरोध के लिए वातावरण का निर्माण करते हैं, वहाँ आसन मन और तन दोनों को अनुशासित और नियन्त्रित करने की शिक्षा देते हैं। योग-आसन का नियमित अभ्यास करने से शारीरिक विकार और इन्द्रिय दमन में सहायता मिलती है। इन आसनों के द्वारा शरीर के सभी अंग, विशेषकर स्नायुमण्डल, इस प्रकार वश में किये जा सकते हैं कि वे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकें। पद्मासन, मयूरासन, भद्रासन, वीरासन आदि विभिन्न आसनों का योग-दर्शन में उल्लेख है।

4. प्राणायाम (Breath-Control)—प्राणायाम के द्वारा श्वास गति को नियन्त्रित किया जाता है। प्राणायाम की तीन अवस्थाएँ—पूरक, कुम्भक, और रेचक—होती हैं। पूरक से अभिप्राय है—पूरा श्वास अन्दर खींचना, कुम्भक में, श्वास को भरसक अन्दर रोकना, और रेचक के अन्तर्गत नियमित विधि से श्वास को धीरे-धीरे वाहर छोड़ना। इस प्रक्रिया से हृदय पुष्ट होता है। और उसमें वल आता है। इसके अतिरिक्त शरीर और मन में भी दृढ़ता आती है श्वास-क्रिया पर

नियन्त्रण करने से मन शान्त अवस्था में आ जाता है। ध्यान-अवस्था अथवा समाधि के लिए प्राणायाम आवश्यक है। इस तरह, प्राणायाम चित्त की वत्तियों को नियन्त्रित करने में काफी सहायक है।

5. **प्रत्याहार** (Withdrawl of Senses)—इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना प्रत्याहार कहलाता है। इस योग के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषय से हटाया जाता है। इसका लक्ष्य चित्त को भौतिक वस्तुओं के पीछे दौड़ने से रोकना है। प्रत्याहार के माध्यम से इन्द्रियों (नाक, कान, आंखें आदि) को मन के वश में किया जाता है। जब इन्द्रियां पूर्णतया मन के वश में आ जाती हैं तो सांसारिक विषयों का मन पर प्रभाव पड़ना बन्द हो जाता है। रूप, रस, गन्ध, शब्द अथवा स्पर्श आदि का योगी के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। दूसरे शब्दों में, चित्त की वृत्तियां शान्त हो जाती हैं।

6. **धारणा** (Attention)—'योग-सूत्र' में कहा गया है कि चित्त को किसी एक देश (स्थान) में स्थिर कर देने का ही नाम धारणा है। किसी भी एक वस्तु में—चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म, भीतर हो या बाहर—चित्त को एकाग्र कर देने को धारणा कहते हैं। धारणा में कुशलता प्राप्त करने के बाद ही समाधि की अवस्था तक पहुँचा जा सकता है।

7. **ध्यान** (Meditation)—किसी एक वस्तु पर निर्बाध ध्यान स्थिर रखना ही 'ध्यान-अवस्था' है। लगातार ध्यान के द्वारा योगी किसी भी वस्तु का असली स्वरूप जान लेता है।

8. **समाधि** (Concentration)—यौगिक साधना का अन्तिम चरण और ध्यान की सर्वोच्च अवस्था समाधि है जिसमें ध्येय के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं रह जाता। समाधि की अवस्था में ध्यान करने वाला मन, ध्यान तथा ध्येय तीनों के बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता और वे एकाकार हो जाते हैं।

**आठ सिद्धियां**—'योग दर्शन' के अनुसार योग का अभ्यास करने से साधक को कुछ विशेष सिद्धियां प्राप्त होती हैं। ये सिद्धियां आठ प्रकार की हैं। अतः इन्हें **'अष्टसिद्धि'** भी कहते हैं। ये हैं :

(1) **अणिमा**—योगी चाहे तो अणु के समान छोटा या अदृश्य बन सकता है। (2) **लघिमा**—योगी चाहे तो रुई से भी हल्का हो उड़ सकता है। (3) **महिमा**—योगी चाहे तो पहाड़ के समान बड़ा बन सकता है। (4) **प्राप्ति**—योगी चाहे तो कहीं से भी कोई वस्तु मंगा सकता है। (5) **प्राकाम्य**—योगी की इच्छा-शक्ति बाधा रहित हो जाती है। (6) **वशित्व** योगी सब जीवों को वशीभूत कर

संकता है। (7) ईशित्व—योगा सब वस्तुओं पर नियन्त्रण कर सकता है। (8) यजकामावसायित्व-—योगी की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

**योग दर्शन का महत्त्व**—भारत की धार्मिक एवं आध्यात्मिक परम्परा में योग का बहुत महत्त्व है। धर्म एवं दर्शन के गूढ़ तथ्यों का ज्ञान तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य का चित्त एवं हृदय शुद्ध एवं शान्त हो। आत्म-शुद्धि एवं आत्म-ज्ञान के लिए योग ही सर्वोत्तम साधन है। योग-दर्शन में प्रयुक्त साधना की विधियों को सभी भारतीय धर्मों व दर्शनों ने मान्यता दी है। इन्हें जीवन में उतारने से शरीर, मन और इन्द्रियां संयम सीखती हैं। शारीरिक और आत्मिक तेज और बल में इससे वृद्धि होती है। योगी अपनी साधना के बल पर त्रिकालदर्शी हो सकता है। वैसे योग-साधन का वास्तविक लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है।

सारांश में, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए योग की उपयोगिता दिन पर दिन पहिचानी जा रही है। योग की साधना मानव व्यक्तित्व के विकास और मोक्ष-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। वास्तव में, वर्तमान में भी योग्याभास की वही उपयोगिता और उपादेयता है, जो प्राचीनकाल में थी।



# 3

# आधारभूत धार्मिक विचार
## (Fundamental Religious Ideas)
## जैन एवं बौद्ध धर्म
### (Jainism And Buddhism)

● जैन धर्म



● बौद्ध धर्म



---

**जैन धर्म** (The Jainism)

'जैन धर्म' को संगठित रूप वर्धमान महावीर ने ही दिया, किन्तु जैन साहित्य और जैनाचार्यों के अनुसार महावीर अन्तिम और 24 वें तीर्थंकर थे। जैनियों का विश्वास है कि जैन धर्म चौबीस तीर्थंकरों के उपदेशों का परिणाम है। प्रथम बाईस तीर्थंकरों के जीवन काल्पनिक कथाओं तथा नितान्त अस्पष्ट और अतर्क्य जन-विश्वासों से इतने आच्छादित हैं कि उनके विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना दुष्कर है। तेईसवें तीर्थंकर जिनका नाम पार्श्वनाथ था जो वर्धमान महावीर से लगभग 250 पूर्व हो चुके थे, वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। वे बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र थे और उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के निमित्त राजकीय विलास का जीवन त्याग दिया। उनके प्रमुख उपदेश चार थे—अहिंसा, सत्य भाषण, अस्तेय और सम्पत्ति का त्याग। ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ ने अपने नवीन धर्म के लिए संघ बनाया था। वर्धमान महावीर के माता-पिता और उनके परिवार के लोग पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतएव यह स्वाभाविक था कि वर्धमान अपनी युवावस्था में जैन सिद्धांतों द्वारा अधिक प्रभावित हुए।

**I. वर्धमान महावीर का जीवन-परिचय (599–527 ई. पू.)**

पार्श्वनाथ के बाद, वर्धमान महावीर जैनियों के 24 वें और अन्तिम तीर्थंकर हुए। इन्हीं के समय में, पार्श्वनाथ का "निर्ग्रन्थ" सम्प्रदाय का नाम "जैन"

मत पड़ा। ई० पू० 599 में, वे वैशाली गणराज्य के कुण्डग्राम में एक प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल में पैदा हुए, उनका नाम वर्धमान रखा गया उनके पिता का नाम शिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। त्रिशला देवी वैशाली राज्य के राजा चेटक की वहिन थी। मगध के राजा बिम्वसार ने चेटक की पुत्री चेलना से विवाह किया था। अतएव वर्धमान मगध के प्रमुख व प्रतिष्ठित राजवंश से सम्वन्धित थे। इस प्रकार वर्धमान का कुल अभिजात वर्गीय था और इससे उनके धर्मप्रसार में वड़ी सहायता मिली होगी।

परम्परा के अनुसार, ज्ञान तथा कला के सभी क्षेत्रों में वर्धमान को उच्च शिक्षा दी गयी और यशोदा नामक एक राजकुमारी से इनका विवाह हो गया। इनके एक कन्या उत्पन्न हुई थी जिसका पति महावीर का प्रथम शिष्य हुआ और तत्पश्चात् जैन धर्म की प्रथम शाखा का नेता वन गया। अपने माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् 30 वर्ष की अवस्था में वर्धमान ने अपने बड़े भाई की अनुमति लेकर, घर-बार त्याग दिया और सत्य की खोज में संन्यासी परिव्राजक हो गये। वारह वर्ष के कठोर तप के बाद तेरहवें वर्ष में वैशाख माह की दशमी के दिवस जृम्भिक ग्राम के बाहर, पार्श्वनाथ शैलशिखरों के पास ऋजुपालिका नदी के उत्तर तट पर उन्हें 'केवल्य' ज्ञान प्राप्त हुआ। इस सर्व श्रेष्ठ ज्ञान की उपलब्धि तथा सांसारिक सुख-दुःख से अन्तिम मुक्ति प्राप्त होने से वर्धमान 'अर्हत', (पूज्य), 'जिन' (विजेता), 'निर्ग्रन्थ' (बन्धन-रहित) और 'महावीर' कहलाये।

पूर्ण ज्ञानी होने के पश्चात् महावीर जीवन-पर्यन्त अपने ज्ञान और अनुभव के प्रचार-प्रसार हेतु उत्तर भारत की विभिन्न जनपदों में पैदल यात्रा की। महावीर ने सभी वर्गो के लोगों में अपने धर्म का प्रचार किया। इनके अनुयायियों और सहायकों में मगध के राजा विम्वसार और अजात शत्रु जैसे शासक और लिच्छवी और मल्लों जैसी गणजातियाँ थीं। वे 30 वर्ष तक कौशल, मगध और इसके पूर्व के प्रदेशों में निरन्तर भ्रमण कर अपने सिद्धान्तों और उपदेशों का प्रचार करते रहे। धीरे-धीरे वहुत-से लोग—राजा, महाराजा, समृद्ध वैश्य और व्यापारी एवं जन-साधारण—उनके भक्त और अनुयायी हो गये। आखिर, ईसा पूर्व 527 में पटना जिले में पावापुरी में 72 वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हुआ। ये गौतम वुद्ध के समकालीन थे। महावीर स्वामी ने जैन-धर्म के सिद्धान्तों को सुव्यवस्थित और विस्तृत किया और उसे अत्यन्त लोकप्रिय वनाया, इसी कारण लोग उन्हें ही जैन-मत संस्थापक मानते हैं।

## II. जैन-धर्म के सिद्धान्त और शिक्षाएँ

जैन-धर्म के सिद्धान्त उनके समृद्ध धार्मिक साहित्य में सुरक्षित हैं। यह साहित्य अधिकांशतः प्राकृत भाषा में है और इसमें सुरक्षित सिद्धान्तों के उपदेशक जैन-धर्म के 24 वें तीर्थंकर महावीर स्वामी माने जाते हैं। परवर्तीकाल में जैन-

धर्म का साहित्य संस्कृत भाषा में भी लिखा गया। महावीर की मृत्यु के बाद ही पाटलिपुत्र में एक सभा हुई जिसमें सर्वप्रथम जैनमत के सिद्धान्तों को संकलित किया गया। परन्तु उनको अन्तिम रूप 800 वर्ष पश्चात् ईस्वी सन् में वल्लभी की सभा में दिया गया। इस सभी में उनके 41 'सूत्र', 12 'नियुक्ति' (अर्थात् भाष्य), एक 'महाभाष्य' और अनेक 'प्रकरिणका' (या फुटकर ग्रन्थों) के रूप में बांट दिया गया।

जैनमत की अपनी विशिष्ट मान्यताएँ हैं कि वह—

(1) जगत को अनादि, शाश्वत और स्वाधरित मानता है।

(2) किसी जगत नियंता परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता।

(3) वेदों को अपौरुषेय ग्रन्थ या आदि ज्ञान नहीं मानता।

(4) पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्तों में विश्वास करता है।

(5) 'निर्वाण' या जन्म-मरण से मुक्ति को तपश्चर्या के द्वारा ही प्राप्य समझता है। इसके लिए मनुष्य को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और पूर्ण त्याग के नियमों का आचरण अनिवार्य मानता है।

(6) सब चराचर जगत में यहाँ तक कि मिट्टी के कण-कण में भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है।

(7) "जिन" या "तीर्थंकरों" और उनके सिद्धान्तों में विश्वास और उपरोक्त नैतिक नियमों का पालन ही मुक्ति का एक मात्र साधन मानता है। यही जैन "त्रिरत्न" हैं। अहिंसा परमोधर्मः "उसका सर्वोपरि सिद्धान्त है।"

(8) "तीर्थंकर" "परमात्मा" अर्थात् महान और मुक्त आत्माएँ हैं परन्तु वे जगत के कर्ता नहीं हैं। वे किसी का भला-बुरा नहीं कर सकते। व्यक्तिगत निर्वाण केवल व्यक्ति की साधना का ही फल है। इसलिए जैनमत में "भक्ति" की सी परिचर्या का कोई स्थान नहीं है। मन्दिर और मूर्तियाँ केवल पवित्र स्मारकों के रूप में मानी जाती हैं, जिनसे साधक प्रेरणा प्राप्त कर सकता है न कि कोई वरदान। जैनमत के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत है।

**जीव और पुद्गल**—जैन-धर्म यह मानता है कि संसार में प्राणियों का जन्म 'जीव' (आत्मा) और 'पुद्गल' (शरीर) नामक दो तत्त्वों के परस्पर मिलने से होता है। इनमें से जीव प्राणवान् है और पुद्गल प्राणहीन। जीव और पुद्गल में घनिष्ट सम्बन्ध है तथा दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जिस प्रकार एक मोटरकार और इसका इन्जन गतिशील होने के लिए एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं; उसी प्रकार प्राणी की उत्पत्ति के लिए जीव और पुद्गल का एक-दूसरे से मिलना बहुत जरूरी है।

**कर्म और पुनर्जन्म**—जैनमत ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानता, क्योंकि ऐसा करने से उसे संसार के पापों और कुकर्मों का कर्ता भी मानना पड़ता है। जैन-

धर्म ने मनुष्य को ईश्वरीय हस्तक्षेप से मुक्त करके अपना स्वयं भाग्य-विधाता माना है। अपने सांसारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य अपने कर्म के लिए उत्तरदायी है। उसके सारे सुख-दुःख उसके क्रर्म के ही परिणाम हैं। इस जगत में जितने भी प्राणी हैं, वे सब अपने-अपने संचित कर्मों से ही संसार में भ्रमण करते है और उन्हीं के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियाँ पाते हैं। किये हुये कर्मों का फल भोगे बिना जीव का छुटकारा नहीं होता। इस प्रकार कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है।

**बन्धन ओर उससे मुक्ति : मोक्ष**—जैन दर्शन के अनुसार जीव (आत्मा) तथा कर्म अथवा पुद्गल का संयोग ही 'बन्धन' कहलाता है। जीव के दो भेद हैं—मुक्त तथा बद्ध। मुक्त जीव वे हैं जो बन्धन-मुक्त हो गए हैं अर्थात् जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर ली है। बद्ध जीव वे हैं जो बन्धन में हैं। राग-द्वेष, रति, मोह आदि से प्रेरित मनुष्य की विभिन्न सांसारिक क्रियाओं द्वारा कर्मों का प्रवाह जीव की ओर चलता रहता है। जीव इन कर्मों से आच्छादित होता रहता है। "जीव इस नश्वर संसार में आकर कर्मों में लिप्त हो जाता है और उसका फल भोगने के लिए ही बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेता है और इस तरह जन्म-मरण के बन्धन में बँध जाता है। दूसरे शब्दों में, आत्मा अपने कर्मों से अपना शुद्ध स्वरूप भूलकर संसार-चक्र (जीवन-मरण के चक्र) में पड़ जाती है।"

कर्म बन्धनों से मुक्ति पाना जैन धर्म का चरम लक्ष्य है। बन्धन (भले-बुरे हर प्रकार के कर्म) से मुक्ति पाने को ही मोक्ष कहा गया है जीव को चाहिए कि वह बन्धनों के कारणों को नष्ट कर दे। "जब आत्मा अपनी साधना और तपस्या से ज्ञान प्राप्त करता है तो इस चक्कर से निकलकर मुक्त हो जाता है।" जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है तो भौतिक तत्त्व का विनाश हो जाता है और आत्मिक तत्त्व ऊपर की ओर चढ़ जाता है। इस प्रकार मोक्ष चिर शाश्वत्, उर्ध्वगामिनी गति है।

**त्रि-रत्न: कैवल्य या मोक्ष प्राप्ति के तीन साधन**—जैन धर्म के अनुसार मनुष्य में अज्ञानता ही काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि उत्पन्न करती है और आत्मा को बन्धन में जकड़ लेती है। पूर्व-जन्म के कर्म-फल से बचने के लिए जैन-धर्म त्रि-रत्नों के पालन का आदेश देता है। महावीर ने साधना या विनय के मार्ग में कैवल्य या मोक्ष प्राप्ति के लिए तीन साधन—(1) सम्यक्-ज्ञान, (2) सम्यक्-दर्शन और (3) सम्यक्-चरित्र—बतलाये हैं, इन्हीं को त्रि-रत्न (तीन रत्न) कहते हैं।

1. **सम्यक्-ज्ञान**—इसका अर्थ है जैन धर्म तथा मुक्ति के विषय में पूर्ण ज्ञान होना सच्चा और पूरा ज्ञान सर्वज्ञ तीर्थंकरों के उपदेशों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से प्राप्त होता है। अस्तु, संशय रहित तथा दोष रहित ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। जब सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो मनुष्य भौतिक अंश से प्रभावित न रहकर आध्यात्मिक अंश से प्रकाशित हो जाता है और सभी बाधक कर्म, जीव अथवा आत्मा से अलग हो जाते हैं।

2. सम्यक्-दर्शन—इसका अर्थ है जैन तीर्थंकरों में पूरा विश्वास रखना। यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना ही सम्यक्-दर्शन है। श्रद्धा अन्धविश्वास जनित न होकर, पूर्णतः युक्ति संगत हो और वह सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही उत्पन्न होती है।

3. सम्यक् चरित्र—इसका अर्थ है सदाचार पूर्ण नैतिक जीवन-यापन करना और तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना। सम्यक् चरित्र की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपनी इन्द्रियों, वाणी और कर्मों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए। ऐसा करने से ही उनकी आत्मा सांसारिक प्रवाह में नहीं बहेगी और उसकी मुक्ति भी प्राप्त हो जायेगी। जैनधर्म का यह सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है क्योंकि इसके द्वारा ही जीव कर्मों के भार से मुक्त होकर अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य 'निर्वाण' अर्थात् 'मोक्ष' को प्राप्त कर सकता है।

पंच महाव्रत—ज्ञान और श्रद्धा का कोई महत्त्व नहीं, जब तक उनका उपयोग जीवन में न हो। अस्तु, नैतिक जीवन बिताने के लिए जैन धर्म में सबसे अधिक जोर पांच व्रतों पर दिया गया है। महावीर स्वामी ने (1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय, (4) अपरिग्रह, और (5) ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया था। आत्मा को पाप से बचाने के लिए इन पांच महाव्रतों का अनुपालन जरूरी है।

1. अहिंसा—यह जैन धर्म का सर्वोपरि सिद्धान्त है। अहिंसा का अर्थ है—प्राणी मात्र के प्रति मन, वचन और कर्म से ऐसा कोई कार्य न करना जिससे उन्हें चोट पहुँचे। मनुष्य जाने या अनजाने में भी किसी प्रकार की हिंसा न करे। जैन-धर्म मन, वचन और कर्म से अहिंसा का पालन चाहता है।

2. सत्य—इसका अर्थ है कभी 'झूठ नहीं बोलना चाहिए'। जैन तीर्थंकरों का उपदेश है कि असत्य का त्याग कर हमेशा मधुर और सत्य भाषण करना चाहिए। मनुष्य को अप्रिय, निन्द्य, कठोर एवं पापमयी बात का त्याग करना चाहिए तथा बिना सोचे-समझे भी कुछ न बोला जाए। सत्य-व्रत की पूर्ति के लिए जरूरी है कि मानव क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि पर विजय प्राप्त करने की कोशिशों में लगा रहे।

3. अस्तेय—इसका अर्थ है 'बिना अनुमति के दूसरे की चीज ग्रहण न करना चाहिए।' चोरी करना महापाप माना गया है, जैनियों की मान्यता है कि प्राण जीव का आन्तरिक जीवन है, तो धन-सम्पत्ति का अपहरण उसका बाह्य जीवन। इसलिए किसी भी धन सम्पत्ति का उसके प्राणों के अपहरण के समान ही है।

4. अपरिग्रह—इसका अर्थ है 'माया से मुक्ति पाने हेतु' अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना। जीवन के लिए आवश्यक धन तक ही मनुष्य को सीमित रहना चाहिए। अनावश्यक धन-सम्पत्ति आदि किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए

क्योंकि संग्रह के ही कारण सांसारिक वस्तुओं में आशक्ति बढ़ती है और जीव-बन्धन और पुनर्जन्म के चक्कर में पड़ता है।

5. **ब्रह्मचर्य**—इसका अर्थ है कामवासना का दमन करना तथा संयम के साथ जीवन व्यतीत करना। इसके अनुसार न केवल कर्मों द्वारा इन्द्रिय सुखों का उपभोग बन्द कर देना चाहिए, बल्कि मन और वचन से भी उसके उपभोग की चेष्टा को समाप्त कर देना चाहिये। जैन-धर्म की मान्यता के अनुसार उपर्युक्त पंच महाव्रतों का पालन करने से मोक्ष-मार्ग प्रशस्त होता है।

**अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद का सिद्धान्त**—जैन दर्शन का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। जैन धर्म के अनुसार वस्तु के अनन्त स्वरूप हैं। केवल ज्ञानी अथवा बन्धन मुक्त या अर्हत् ही उन स्वरूपों की अनन्तता को जानते हैं। शेष लोग तो उसके कुछ स्वरूपों को ही जानते हैं। एक वस्तु को अनेक दृष्टिकोण से देखा जा सकता है और प्रत्येक दृष्टिकोण से एक भिन्न निष्कर्ष निकाला जा सकता है। परन्तु इनमें से किसी एक निष्कर्ष द्वारा उस वस्तु के स्वरूप का पूरी तरह बोध नहीं होता। अस्तु, जैन धर्म का कहना है कि किसी भी वस्तु को केवल एक ही दृष्टि से देखकर मत छोड़ो।

जिस प्रकार सात अन्धे व्यक्तियों से हाथी के सम्बन्ध में पूछा गया तो किसी ने उसकी तुलना खम्भे से (पैर छू-कर) किसी ने पंखे से (कान छू-कर) किसी ने शिला से (शरीर छूकर) तो किसी ने रस्सी से (पूंछ छू-कर) की। किन्तु कोई भी उचित उत्तर न दे सका, फिर भी जो कुछ कहा उसमें कुछ न कुछ सत्य अवश्य था, इस प्रकार यह सृष्टि है। संक्षेप में, एक ही दृष्टिकोण को पूर्णरूप से सत्य न मान कर, विभिन्न दृष्टिकोणों में कुछ न कुछ सत्य या उचित मानना ही स्याद्वाद है। डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर' के शब्दों में **"जैन दर्शन के अनेकान्तवाद में समन्वय, सह-अस्तित्व और सहनशीलता का उत्कृष्ट रूप प्रकट होता है।"**

## III. भारतीय संस्कृति को जैन धर्म की देन

जैन धर्म ने भारतीय सभ्यता व संस्कृति पर अमिट छाप छोड़ी है। वर्तमान भारतीय संस्कृति में अनेक ऐसी विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं जो कि मूल रूप में जैनधर्म की देन मानी जा सकती हैं। जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को अनुपम देन है उसे निम्नलिखित रूप में प्रकट कर सकते हैं।

1. **दार्शनिक क्षेत्र में**—जैन विचारधारा ने ज्ञान-सिद्धान्त, स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद, अहिंसा आदि के दार्शनिक विचारों को पनपाकर भारतीय दार्शनिक चिन्तन को गौरवपूर्ण बनाने में योगदान दिया। जैनधर्म के सिद्धान्तों ने हमारे सामाजिक जीवन में एक नवजीवन का संचार किया और भारतीय चरित्र को दृढ़ बनाया। अहिंसा पर आधारित गुरु-निरपेक्ष की हमारी विदेश नीति वर्तमान में भी महत्त्वपूर्ण है। जैन धर्म के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण ने हमारे

देश में धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का वातावरण बनाने में काफी सहायता की है।

2. **साहित्य के क्षेत्र में**—भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी जैन धर्म ने सांस्कृतिक समन्वय को प्रोत्साहन दिया। जैन साहित्य का काफी मात्रा में सृजन हुआ है। जैनाचार्यों ने संस्कृत को ही नहीं, बल्कि अन्य सभी प्रचलित लोक भाषाओं को अपनाकर उन्हें समुचित सम्मान दिया। श्वेताम्बरों के धार्मिक ग्रन्थ अर्ध-मागधी में हैं और 'अंग' कहलाते हैं वे संख्या में ग्यारह हैं। इनमें भद्रबाहु का 'कल्पसूत्र' प्रमुख है। दिगम्बर सम्प्रदाय के धर्म ग्रन्थ संस्कृत भाषा में है। वे चार भागों में 'वेद' के नाम से संकलित किए गए। इनके अतिरिक्त समय-समय पर जैन विद्वान काव्य, दर्शन, व्याकरण, छन्द-शास्त्र, कोष, गणित आदि विविध विषयों पर साहित्य की रचना करके हमारे देश के साहित्य को समृद्ध बनाते रहे हैं। जैनग्रन्थों की एक उपयोगिता इस बात में भी निहित है कि वे प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी के महत्त्वपूर्ण साधन स्वीकार किये गये हैं।

3. **कला के क्षेत्र में**—भारतीय कला के स्वरूप को निखारने और उन्नत बनाने में भी जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन धर्मावलम्बियों द्वारा अपने तीर्थंकरों की स्मृति में अनेक मन्दिरों, मूर्तियों और स्तूपों का निर्माण कराया गया जो आज भी सुरक्षित हैं। इन धार्मिक भवनों को अधिकाधिक सुन्दर, भव्य तथा अलंकृत बनाने का विशेष प्रयास किया जाता था। उनकी अनेक प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों के हाशियों पर रंग-बिरंगे चित्र और वल्लरियाँ बनी पायी जाती हैं। 11 वीं तथा 12 वीं शताब्दियों में जैन कला उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी। आबू पर्वत के निकट 'देलवाड़ा का मन्दिर' अपने शिल्प-सौन्दर्य के लिए विश्व प्रसिद्ध है। मैसूर में श्रवण बेलगोला तथा कर्कल में बाहुबली की विशालकाय प्रतिमा जो 'गोमतेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध है विश्व की आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक है। मथुरा में उपलब्ध अलंकृत द्वार, पाषाण-क्षेत्र तथा प्रतिमायें जैन कला की प्रतीक हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि जैनियों की कला सादगी से पूर्ण है। इसमें हिन्दू कला की चमक-दमक का अभाव है।

4. **सामाजिक क्षेत्र में**—जैन मतावलंबियों का सामाजिक योगदान भी बड़े महत्त्व का है। अहिंसा, जीव-रक्षा और जीव-सेवा के जो आदर्श और कृत्य भारतीय समाज में इतने आदर के साथ रखते हैं, उनमें जैनियों का सदैव ही बड़ा हाथ रहा है। जैन धर्म मूलतः जाति प्रथा में विश्वास नहीं करता। वह जाति को कर्म प्रधान मानता है; जन्म प्रधान नहीं। इसीलिए, महावीर ने जैन धर्म और मोक्ष के द्वार सभी जातियों, वर्गों और वर्णों के लिए खोल दिये। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी को जैन धर्म में दीक्षित किया। परन्तु आगे चलकर यह धर्म वैश्यों तक ही सीमित रहा।

अन्य क्षेत्रों में योगदान—जैन धर्म का आधुनिक भारत में भी महत्त्व है। अहिंसात्मक-सत्याग्रह, भूमिदान, सम्पत्तिदान, भूमि-सीमाबन्दी, धर्म-निरपेक्षता जैसे आधुनिक सिद्धान्तों और कार्यक्रमों में जैन-दर्शन की भावना का न्यूनाधिक रूप में प्रेरक कारण माना जाता है। सारांश में, जैन साधुओं का जीवन आदर्श, त्याग, तपस्या पूर्ण और इतना नैतिक बना रहा कि उन्होंने समाज का समयोचित मार्ग-दर्शन सदैव किया।

## बौद्ध धर्म (The Buddhism)

वह आन्दोलन जिसने ब्राह्मण धर्म को सबसे भारी आघात पहुँचाया, वह बौद्ध धर्म था जो गौतम बुद्ध द्वारा प्रारम्भ किया गया था। यूरोप के लूथर के समान गौतम बुद्ध ने उस भ्रष्टता का विरोध किया जो हिन्दू धर्म में घुस गयी थीं। छटी शताब्दी ई० पू० को धार्मिक क्रान्ति का युग मानने में हमें जो प्रेरणा बौद्ध धर्म के अभ्युदय से होती है उतनी अन्य किसी धर्म से नहीं। इसका कारण यह है कि इस धर्म ने विश्व के अधिकांश भागों को प्रभावित किया था और इसके अमर संदेश से सम्पूर्ण विश्व को शान्ति स्थापना की प्रेरणा मिली थी। वास्तव में, भारतीय धर्मों के इतिहास में बौद्ध मत का स्थान अद्वितीय है। इसने अपने द्वार समाज के सभी वर्गों के लिए खोल दिये थे।

## I गौतम बुद्ध का जीवन-चरित्र (Life of Buddha)

बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध थे। उनका जन्म 566 ई० पू० में नेपाल की तराई में स्थित शाक्य गणराज्य के कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी ग्राम में हुआ था। कालान्तर में यहीं पर सम्राट् अशोक ने एक स्तम्भ (रुम्मिन्देह) स्थापित करवाया था जिस पर आज भी "यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे—यहाँ भगवान उत्पन्न हुए थे" पढ़ा जा सकता है। उनके जन्म का नाम सिद्धार्थ था और गौतम उनका गोत्र था। इनके पिता का नाम राजा शुद्धोधन तथा माता का नाम महामाया था। बालक के जन्म के सात दिन पश्चात् माता महामाया का देहान्त हो गया। अस्तु, सिद्धार्थ का पालन उसकी मौसी और विमाता प्रजापति गौतमी ने किया। इसीलिए इन्हें गौतम भी कहते हैं। गौतम के जन्म पर काल देवल नामक एक तपस्वी ने भविष्यवाणी की थी कि यह बालक आगे चलकर 'बुद्ध' होगा। 'बुद्ध' उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे बुद्धि अर्थात् ज्ञान प्राप्त हो गया है।

बाल्यकाल से ही सिद्धार्थ में मस्तिष्क की चिन्तन-प्रवृत्ति एवं सहृदयता तथा दयालुता के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। शैशव काल में भी राजकीय वैभव राजकुमार के हृदय को मोहित करने में सर्वथा असमर्थ रहा। अपने पुत्र में सांसारिक जीवन के प्रति गहरी उदासीनता देखकर राजा शुद्धोधन ने उनका विवाह यशोधरा नाम की सुन्दर राजकुमारी से कर दिया। इस नव दम्पत्ति के प्रासाद को शुद्धोधन ने भोग-विलास एवं आनन्द की सर्वोत्कृष्ट सामग्री और साधनों से परिपूर्ण

कर दिया। परन्तु दुःखी तथा विषादग्रस्त विश्व के बीच भोग के इन उपकरणों से गौतम के आकुल व चिन्तित हृदय को शान्ति न मिली।

**महाभिनिष्क्रमण**—इन्हीं दिनों गौतम ने चार ऐसे दृश्य देखे जिनसे उनका जीवन पूर्ण रूप से पलट गया। कहते हैं कि नगर-दर्शन के हेतु भिन्न-भिन्न अवसरों पर बाहर जाते हुए गौतम को मार्ग में पहले जर्जर शरीर वृद्ध, फिर व्यथापूर्ण रोगी, फिर मृतक और सबसे बाद को वीत राग प्रसन्न चित्त संन्यासी के दर्शन हुए। इससे उनके दिल और दिमाग पर हर एक की गम्भीर प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने जवानी, स्वास्थ्य और शरीर को अस्थायी, संसार को अनित्य एवं दुःखमय समझा। उन्होंने संन्यासी होने का दृढ़ निश्चय कर लिया। जीवन की अनन्त समस्याओं, उसके कष्टों तथा मृत्यु की भावना से वह आक्रान्त हो गये, उनकी शान्ति भंग हो गयी और वह वासना से रहित एकान्तवास की गम्भीर शान्ति की ओर अधिक आकर्षित हुए। अन्त में, गौतम ने सांसारिक दुःखों से निवृत्ति का मार्ग खोजने के उद्देश्य से एक रात्रि को 29 वर्ष की अवस्था में गृह-त्याग कर दिया। बौद्ध साहित्य में यह गृह-त्याग महाभिनिष्क्रमण के नाम से प्रसिद्ध है।

**ज्ञान की खोज में : महान् बुद्धत्व की प्राप्ति**—निरन्तर छः वर्षों तक गौतम संन्यासी का जीवन व्यतीत करते रहे। इस काल में उन्होंने दो ब्राह्मण आचार्यों के आश्रमों में अध्ययन किया एवं पटना जिले के राजगृह तथा गया के समीप उरुवेला आदि अनेक स्थानों का भ्रमण किया। इतने पर भी उनकी जिज्ञासा नहीं मिटी और न ही सन्तोष हुआ। उन्हें वह प्रकाश कहीं भी नहीं मिला जिसकी उन्हें तलाश थी। तब उन्होंने उरुवेला के सघन वन में कठोर तप किया और अपने शरीर को अनेक कड़ी यातनाएँ दीं एवं सत्य की प्राप्ति के लिए निष्फल प्रयास किये। अन्त में उन्होंने तपस्वी जीवन को त्याग दिया, शरीर यातना छोड़ दी तथा निरंजना नदी में स्नान कर वर्तमान बोध गया में पीपल वृक्ष के नीचे तृण के आसन पर बैठ गये। वहाँ उन्होंने एन्द्रियक सुखों तथा दूषित विचारों से परे रहकर ज्ञान-प्राप्ति का यत्न किया। यहां उन्हें सहसा सत्य के दर्शन हुए और सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें यह प्रकाश मिला कि महान् शान्ति उनके हृदय में ही है, उन्हें वहीं उसकी खोज करनी चाहिए। यही 'महान् बुद्धत्व' कहा गया। तब से वे 'बौद्ध' या 'तथागत' कहलाये। इस तरह अपनी आयु के पैंतीसवें वर्ष में गौतम ने 'बुद्धत्व' प्राप्त किया।

**धर्म-प्रचार**—ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने अपने शेष जीवन को जन-साधारण के हित में लगाने का निश्चय किया। वे उस प्रकाश से जिससे उन्होंने जीवन के सत्य का स्वयं ज्ञान प्राप्त किया था, संसार के प्राणी-प्राणी को बताना चाहते थे जिससे विश्व का कल्याण हो सके। अस्तु, वे बनारस के समीप हिरण-कुंज में गये और वहाँ उन्होंने अपना धार्मिक उपदेश दिया। जिसके परिणामस्वरूप

पांच शिष्य उनके साथ हो गये। उनके भावी जीवन के शेष पैंतालीस वर्ष अनवरत परिश्रम तथा सक्रियता के थे। वे इस काल में एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करते रहे और अवध, बिहार तथा उनके पार्श्ववर्ती प्रदेशों में अपना सन्देश राजा और रंक सबको सुनाते रहे। कोशल नरेश प्रसेनजित एवं मगध नृपति बिम्बसार तथा अजात शत्रु ने उनके सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया और उनके शिष्य हो गये। उन्होंने अपने अनुयायी साधुओं का एक 'संघ' स्थापित किया। वे अपनी जन्म-भूमि में भी गये, उनका पुत्र 'राहुल' भी भिक्षु बन गया।

बुद्ध बुराई का बदला अच्छाई में और घृणा का बदला प्रेम में देने में विश्वास करते थे। उन्होंने जाति-पाँति और ऊँच-नीच की भावना से दूर रहते हुए सभी को उपदेश दिया। इस तरह, "जैसे कोई औंधे को सीधा करदे, ढँके को खोल दे, भूले को मार्ग दिखादे, अँधकार में तेल का दीपक रख दे जिससे कि आँख वाले रूप को देखें, वैसे भगव न बुद्ध ने अनेक पर्याय से धर्म को प्रकाशित किया।" वर्षाकाल को छोड़कर वर्ष के शेषकाल में महात्मा बुद्ध तथा बौद्ध भिक्षु लगातार पर्यटन किया करते थे। इसके फलस्वरूप हजारों स्त्री पुरुष उनके शिष्य बने। उनके अनुयायियों की प्रमुखतः दो श्रेणियाँ थीं। गृह त्याग कर बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करने वाले स्त्री-पुरुष भिक्षुणि और भिक्षु कहलाते थे। शेष अनुयायी वर्ग गृहस्थों का था जो उपासक था उपासिकाएँ कहलाते थे।

महानिर्वाण—दीर्घकाल तक मुक्ति के हेतु उपदेश देते, अनवरत प्रचार एवं वार्तालाप करते हुए धर्म के ये महारथी अन्त में अस्सी वर्ष की अवस्था में 486 ईसा पूर्व में उत्तर-प्रदेश के गोरखपुर जिले में कुशी नगर (वर्तमान कसिया) में निर्वाण को प्राप्त हुए। इसे 'महानिर्वाण' कहते हैं। वैशाख पूर्णिमा के दिन गौतम बुद्ध का जन्म हुआ, इसी पूर्णिमा के दिन उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और इनका निर्वाण भी वैशाख पूर्णिमा को ही हुआ। विश्व इतिहास में ऐसा उदाहरण किसी अन्य जीवन में नहीं मिलता। बुद्ध ने निर्वाण से पूर्व अन्तिम बार अपने शिष्य आनन्द तथा अन्य भिक्षुओं को उपदेश दिया—"आनन्द! शायद तुम ऐसा सोचो कि हमारा शास्ता (मार्ग दर्शक) चले गए, अब हमारा शास्ता नहीं है! आनन्द! ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किए हैं, प्रज्ञप्त किए हैं, मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्ता होंगे।"........'इसलिए, आनन्द! आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप धर्मशरण, होकर विचारो।"

## II. महात्मा बुद्ध के सिद्धान्त एवं उपदेश

बौद्ध धर्म मुख्य रूप से आचार धर्म है। भगवान् बुद्ध ने दर्शन पक्ष पर नहीं, व्यवहार पक्ष पर अधिक जोर दिया। बुद्ध ने ऐसे प्रश्नों पर कोई ध्यान नहीं दिया जो साधारण बुद्धि की पहुँच से परे हों। उन्होंने विशुद्ध धार्मिक क्रियाओं

की अपेक्षा शुद्ध आचरण अर्थात् शुद्ध विचार, शुद्ध कर्म और शुद्ध भावना पर अधिक बल दिया।

बुद्ध का कथन है कि शुद्ध आचरण द्वारा कोई भी व्यक्ति 'निर्वाण' प्राप्त कर सकता है। अनेकानेक अन्य धर्मों के प्रतिकूल बौद्ध धर्म इसी जीवन में निर्वाण दिलाता है। वह मानव के चरमोत्कर्ष का साधन था। वह इहलोक और परलोक की समग्र मान्यताओं का माप-दण्ड था। वह जीवन का विषय है, मृत्यु का नहीं।

भगवान बुद्ध का धर्म किसी यान्त्रिक कर्मकाण्ड, सूक्ष्म दार्शनिकता अथवा पौराणिक अन्ध मान्यता के ऊपर आधारित न था। उनका आधार तो विराग, असंग्रह, सन्तोष और अध्यवसाय जैसे उदात्त सिद्धांत ही थे जो जन-साधारण के लिए भी सुबोध थे। तथागत का धर्म जनवादी था। वह किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति न था। उसके द्वार सबके लिए खुले थे। जड़ मतवादों से परे वह विश्व धर्म था। वह बहुजन-हितार्थ, बहुजन-सुखार्थ, लोक अनुकम्पा के लिए सुख के लिए था। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के शब्दों में बौद्ध धर्म 'आदर्श का महासागर' है 'जिसमें पूर्वीय विचारधारों की भिन्न-भिन्न नदियाँ मिली हैं।' अस्तु, कहा जा सकता है कि महात्मा बुद्ध का धर्म अपने मौलिक रूप में मानवता की उच्चतम प्रतिष्ठा का संस्थापक था।

बुद्ध के प्रमुख सिद्धांत—गौतम बुद्ध के सिद्धांतों को समझने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि गौतम बुद्ध (1) ईश्वर में विश्वास नहीं रखते थे, (2) आत्मा को नित्य नहीं मानते थे, (3) किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण नहीं मानते तथा थे(4) जीवन प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित नहीं मानते थे। गौतम बुद्ध ने वेदों की प्रामाणिकता और अपौरुषेयता को अस्वीकृत किया। पशु—यज्ञों को आपत्ति जनक बताते हुए उनकी निन्दा की। जटिल, अर्थहीन, विस्तृत वैदिक विधियों एवं अनुष्ठानों का भी उन्होंने विरोध किया तथा जाति-प्रथा व ब्राह्मणों के प्रभुत्व को चुनौती दी। बुद्ध के उपदेशों अथवा बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को निम्नलिखित शीर्षकों में समझा जा सकता है—

1, चार आर्य सत्य, 2. अष्टांगिक मार्ग, 3. दस शील (आचरण के नियम), 4. मुख्य दार्शनिक सिद्धांत, एवं 5. अन्य उपदेश।

## चार आर्य सत्य (चत्वारि आर्य सत्यानि)

महात्मा बुद्ध की शिक्षा के मूलभूत सिद्धांत चार आर्य सत्यों में व्यक्त किये गये हैं। बुद्ध ने अपने प्रथम पाँच शिष्यों को चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया था। उन्होंने बताया कि "चार आर्य सत्य हैं" जिन्हें अंगीकार करके ही मनुष्य निर्वाण का पथ पा सकता है। ये सत्य निम्नलिखित थे—दुःख, दुःख का कारण (दुःख समुदाय), दुःख का दमन (दुःख निरोध) और दुःख के शमन का मार्ग (दुःख

निरोध गामिनी प्रतिवाद)। दूसरे शब्दों में, उन्होंने बताया कि जीवन में कष्ट है, इस कष्ट का मूल कारण है और इस कारण को नष्ट करके इसके कष्ट का निवारण किया जा सकता है।

1. **सर्वम् दुःखम**—प्रथम आर्य सत्य यह है कि संसार दुःखमय है। इस जगत में चारों ओर दुःख ही दुःख है। बुद्ध के शब्दों में, "जन्म ही दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय मिलन भी दुःख है, प्रिय वियोग भी दुःख है, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति भी दुःख है।"

2. **दुःख समुदाय**—दूसरा आर्य सत्य यह है कि संसार का दुःख अकारण नहीं है। मनुष्य किसी न किसी कारण से दुःखी होता है। बुद्ध के अनुसार दुःख का मूल कारण तृष्णा है। काम की तृष्णा; भव (उत्पन्न होने) की तृष्णा, विभव की तृष्णा आदि दुःख के मूल कारण हैं। अस्तु, कष्ट का कारण भौतिक वस्तुओं का सुख भोगने की वासना या इच्छा या तृष्णा है। यह तृष्णा ही मानव के जन्म और मृत्यु का कारण है। सतृष्ण मनुष्य कभी भी दुःख से उद्धार नहीं पा सकता। अविद्या और तृष्णा केवल दुःख ही दुःख उत्पन्न करती है।

3. **दुःख निरोध**—तीसरा आर्य सत्य है कि दुःख का निरोध सम्भव है। दुःख के मूल तृष्णा के अन्त करने को दुःख-निरोध कहते हैं। दुःख का नाश तृष्णा के नाश से ही सम्भव है। बुद्ध के शब्दों में, यदि दुःख का अन्त करना है तो तृष्णा का परित्याग करना चाहिए। तृष्णा के समाप्त होने पर ही दुःख की समाप्ति होती है।

4. **दुःख निरोधगामी मार्ग**—चौथा आर्य सत्य यह है कि दुःखों के छूटने का मार्ग अर्थात् उपाय भी है। दुःख के मूल कारण तृष्णा का किस प्रकार विनाश किया जाय यही मनुष्य के सम्मुख वास्तविक समस्या है। बुद्ध के मतानुसार यौगिक क्रियाएँ या तपस्या अथवा शारीरिक यातनाएँ न तो तृष्णा का अन्त ही कर सकती हैं और न पूर्वजन्म तथा उसके कष्टों से मुक्ति ही दिला सकती है। मस्तिष्क की वासनाओं एवं तृष्णा से विरक्त करने के लिए बारम्बार प्रार्थना, या यज्ञ या वेद-मन्त्रों का उच्चारण निष्फल है। बुद्ध ने बताया कि इस तृष्णा का विनाश 'अष्टांगिक-मार्ग' के अनुकरण से ही हो सकता है। अष्टांगिक मार्ग अथवा आठ आचरणों के अनुपालन से अन्तःकरण की शुद्धि होकर ज्ञान का उदय होता है जिससे तृष्णा और अविद्या का नाश होता है।

**अष्टांगिक मार्ग**

यह साधना-मार्ग भोग और तप के बीच का मार्ग है। निर्वाण की अवस्था प्राप्त करने हेतु इसका पालन अति-आवश्यक है। महात्मा बुद्ध ने स्वयं कहा है कि "आनन्द ! इस समय मैंने भी यह कल्याणवर्त्म स्थापित किया है जो एकान्त निर्वेद के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए, उपशम के लिए, अभिज्ञा के लिए, सम्बोधि के लिए—वह यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है।" इस अष्टांगिक-मार्ग में ये बातें हैं :

1. **सम्यक् दृष्टि**—जिन चार सत्यों का बुद्ध ने अपने प्रथम धर्मोपदेश में वर्णन किया है उसका ज्ञान और उनमें विश्वास और श्रद्धा इसको ग्रहण कर मनुष्य पाप-पुण्य, सदाचार-बुराई में भेद कर सकता है।

2. **सम्यक् संकल्प**—इसके अनुसार राग, द्वेष, हिंसा, सांसारिक विषयों के परित्याग के लिए दृढ़ संकल्प जरूरी है। हमें किसी से न तो ईर्ष्या या द्वेप रखना चाहिए और न दूसरों को कष्ट पहुँचाना चाहिए।

3. **सम्यक् वाणी**—जो वाणी सत्य, विनम्रता और मृदुता से समन्वित होती है उसे सम्यक् वाणी कहते हैं। इसका महत्त्व यह है कि हम अपने आपको असत्य भाषण, निन्दा, गाली-गलौज, कठोर शब्द और अर्थहीन वार्तालाप से दूर रखें।

4. **सम्यक् कर्म**—सत्कर्म करना ही सत्य कर्म है। इसका अर्थ यह है कि जो वस्तु हमारी नहीं है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न न करें एवं अत्यधिक शारीरिक तथा सांसारिक विषय-वासना में लिप्त न रहें।

5. **सम्यक् आजीविका**—इसके अनुसार जीवन-यापन हेतु जो जीवन-मार्ग निषिद्ध हैं। उनका अनुकरण न किया जाय। व्यक्ति को ऐसी जीविका के अर्जन के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए जो नैतिक नियमों के विरुद्ध न हो।

6. **सम्यक् व्यायाम**—शुद्ध ज्ञानयुक्त प्रयत्न जिससे धर्म दृष्टि उत्पन्न हो सम्यक् व्यायाम है। इसके अनुसार, अवगुणों के नाश का प्रयास करना; नए अवगुणों से बचना; गुणों को प्राप्त करना एव आचार-विचार द्वारा गुणों में वृद्धि करना चाहिए।

7. **सम्यक् स्मृति**—समस्त कार्यों को विवेकपूर्वक करना सम्यक् स्मृति है। आत्मा और शरीर को ऐसी दृष्टि से देखना कि स्वयं पर नियन्त्रण रहे, सतर्कता हो एवं तीव्र लालसा, उग्र-वासना व विषाद पर विजय प्राप्त हो सके।

8. **सम्यक् समाधि**—चित्त को एकाग्र करना ही समाधि है। चार आर्य सत्यों को निरन्तर ध्यान में रखना चाहिए। अष्टांगिक मार्ग का यह अन्तिम और श्रेष्ठ भाग है।

**मध्यम-प्रतिपदा या मध्यम मार्ग**—"यह अष्टांगिक मार्ग एक ओर अत्यन्त भोग-विलास तथा दूसरी ओर कठोर तप एवं कड़ी शारीरिक यातनाओं के बीच का मार्ग है। इसलिए मध्यम मार्ग (मज्झिम-मग्ग) कहा गया है। इसमें मनुष्य को उपदेश दिया गया है कि वह अपना धार्मिक और नैतिक जीवन किस प्रकार व्यतीत करे। यह मार्ग सरल, शिक्षा व नीति मूलक, व्यवहार प्रधान और तर्क संगत है। चतुर वैद्य के समान महात्मा बुद्ध ने दुःखी मानव को दुःख से निवृत्ति पाने का अचूक मार्ग बताया तथा एकाग्रता व कुशलता से उस पर चलना सिखाया। बुद्ध के अनुसार इसी मार्ग का अनुकरण करने से निर्वाण की प्राप्ति होगी।

## दस शील : आचरण के दस नियम

महात्मा बुद्ध ने लोगों के नैतिक आचरण को उन्नत करने के अभिप्राय: से 'दस शील' पर अधिक जोर दिया। उसके अनुसार जीवन व्यतीत करने से मानव का आचरण उन्नत होगा और वह निर्वाण प्राप्ति की ओर अग्रसर होता जायेगा। उन्होंने अपने अनुयायियों को मन, वचन और कर्म से पवित्र रहने को कहा। दस शील (सदाचार के दस नियम) इस प्रकार हैं :—(1) अहिंसा-व्रत का पालन करना। (2) सदा सत्य बोलना। (3) चोरी न करना। (4) ब्रह्मचर्य अथवा अति भोगविलास से दूर रहना। (5) अपरिग्रह अर्थात् वस्तुओं का संग्रह न करना। बुद्ध के अनुसार इन पाँच नियमों का पालन करना गृहस्थ अनुयायियों तथा साधु उपासकों दोनों के लिए आवश्यक है। इनका पालन करते हुए संसार-त्याग नहीं करने पर भी मनुष्य सन्मार्ग की ओर बढ़ सकता है। परन्तु जो व्यक्ति संसार की मोह-माया छोड़कर भिक्षु जीवन बिताता है; उसके लिए अगले पाँच नियमों का भी पालन करना आवश्यक है : (6) नृत्य-गान आदि आमोद-प्रमोद का त्याग (7) सुगन्धित वस्तुओं का त्याग (8) असामयिक भोजन का त्याग। (9) कोमल शय्या का परित्याग, तथा (10) कामिनी और कंचन का त्याग।

महात्मा बुद्ध ने सदाचार की जो शिक्षा दी वह अत्यन्त सरल है। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य स्वयं अपने प्रयत्नों से सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस मुक्ति के लिए उसे किसी ईश्वर की आवश्यकता है न देवता की। बुद्ध के शब्दों में, **"मुक्ति के लिए दूसरा आश्रय मत ढूँढो। बिना प्रमाद किए अपनी मुक्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहो। ईश्वर अथवा किसी देवता की कृपा पर निर्भर रहने की अपेक्षा अपने कर्मों द्वारा उद्धार करो।"**

## बौद्ध धर्म के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त

**कर्मवाद**—बौद्ध धर्म कर्मवाद में विश्वास रखता है। महात्मा बुद्ध का कहना था कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। अच्छे कर्मों का अच्छा फल मिलता है और बुरे कर्मों का बुरा फल। मनुष्य का यह लोक और परलोक उसके कर्म पर निर्भर है। यदि व्यक्ति अपने दुःखों से मुक्त होना चाहता है तो उसे अपने कर्मों को सुधारने चाहिये। अच्छे कर्म करने पर ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है।

**ईश्वर में अविश्वास**—बुद्ध ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। यों तो कभी भी उन्होंने स्पष्ट शब्दों में ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन नहीं किया। किन्तु जब कभी उनसे ईश्वर के बारे में प्रश्न पूछा जाता तो वे मौन धारण कर लेते थे या प्रश्न को टाल जाते थे।

**निर्वाण**—बुद्ध धर्म का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करना है। 'निर्वाण' का अर्थ है 'बुझना'। बुद्ध का कथन है कि मन में पैदा होने वाली तृष्णा

या वासना की अग्नि को बुझा देने पर निर्वाण प्राप्त हो सकता है। यह निर्वाण इसी जन्म में, इसी लोक में प्राप्त किया जा सकता है। दुःख निरोध की अवस्था का पूर्ण ज्ञान ही निर्वाण अवस्था की प्राप्ति है।

प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त : महत्त्व—बौद्ध धर्म नितान्त कारणवादी है। 'प्रतीत्य' का अर्थ है 'इसके होने से' और 'समुत्पाद' का अर्थ है—'यह उत्पन्न होता है।' अर्थात् किसी कारण से कोई बात उत्पन्न होती है। बिना कारण कुछ घटित नहीं होता। महात्मा बुद्ध ने अनेक बार अपने प्रवचनों में इस कारण-कार्य के दार्शनिक सिद्धान्त की विवेचना की है। प्रत्येक कार्य का फल होता है। एक बात से दूसरी बात उत्पन्न होती है। यदि 'यह' नहीं, तो 'वह' भी नहीं होगा। "इस धर्म (प्रतीत्य समुत्पाद) को न जानने से, न प्रतिवेध करने से ही ये प्रजा में उलझे सूत-सी गाँठ रस्सी सी, मूँज वल्बज सी दुःख, दुर्गति, पतन, विनिपात को प्राप्त हो संसार से पार नहीं हो सकती।" रोग के कारण को जाने बिना निदान नहीं हो सकता। कर्मवाद, क्षणिकवाद, आत्मा की अनित्यता आदि सिद्धान्तों पर प्रतीत्य समुत्पाद के नियम का ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। अतः इस नियम को बौद्ध-दर्शन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार माना जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। स्वयं बुद्ध ने इसे इतना महत्त्वपूर्ण माना कि उन्होंने इसे 'धर्म' की संज्ञा दी।

## महात्मा बुद्ध का मूल्यांकन

बौद्ध धर्म आध्यात्मिक सत्य और प्रेम के सन्देश को दरिद्रों की झोंपड़ियों से लेकर नरेशों के राजमहलों तक ले गया और भारतीय इतिहास पर अपने प्रभाव की अमिट छाप छोड़ गया। भारतीय संस्कृति और धर्म के दीप को भारत की सीमा के परे बौद्ध धर्म सफलतापूर्वक ले गया।

बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान विलड्यूरैण्ट ने लिखा है कि बुद्ध "दृढ़-संकल्प शक्ति वाला, स्वाभिमानी किन्तु व्यवहार और भाषण में सुशील, नम्र, सौम्य और अत्यन्त दानशील था। वाद-विवाद में वह सदा शान्त रहने वाला और दूसरों की भावनाओं को ठेस न पहुँचाने वाला व्यक्ति था। उसने ज्ञान-प्राप्ति का दावा किया था, स्फूरण का नहीं। उसने कभी यह नहीं कहा कि कोई देवता उसके अन्दर से बोल रहा है।"

बुद्ध भविष्य-कथन से घृणा करते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा था—"रहस्यवादी चमत्कारों से मुझे घृणा है। क्योंकि ये हानि पहुँचाने वाले हैं।" वे सत्य के पक्ष में थे। उनमें तर्क-वितर्क की अपार शक्ति विद्यमान थी। उन्हीं के शब्दों में : "तर्क-वितर्क में मुझे न तो कोई भ्रान्त कर सकता है और न ही परास्त। यही कारण है कि मैं तर्क-युद्ध के समय अत्यन्त शान्त और स्थिर बना रहता हूं।" बुद्ध देखने में सुन्दर, विश्वसनीय, प्रभावशाली, व्यक्तित्ववाला, गौरवपूर्ण और राजसी दीख पड़ते थे।

बुद्ध के शिष्यों ने उन्हें ये श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं—"उसने डण्डे और तलवार को एक ओर रख दिया था। रूखापन तो कभी उसके पास फटक तक न पाया था। लाँछन और कलंक तथा दूसरों पर कीचड़ उछालने की जगह उसने जीव-मात्र को अपनी दया का पात्र बनाया। यह बिछुड़े हुओं को मिलाने वाला और मिले हुओं को पुष्टि प्रदान करने वाला व्यक्ति था। इसके अतिरिक्त शान्ति स्थापक, शान्ति-प्रिय और शान्ति प्रचारक आदि-आदि कितने ही विश्लेषणों से उसे सम्बोधित किया जा सकता है।" वास्तव में, महात्मा बुद्ध अपने समय के अद्वितीय महापुरुष थे।

## III. बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय : हीनयान और महायान

बुद्ध के देहावसान के एक शताब्दी पश्चात् बौद्ध संघ दो प्रशाखाओं में विभाजित हो गया—'महासांघिक' एवं 'स्थिर वादिन'। बौद्ध धर्म को 'जातक' तथा 'अवदान' द्वारा अधिक लोकप्रिय बनाने का यह परिणाम था। वह प्रगतिशील प्रशाखा जो अनुशासन के नियमों की कठोरता को कम करना चाहती थी 'महासांघिक' नाम से प्रख्यात हुई। किन्तु वह रूढ़िवादी प्रशाखा जो कठोर संघ-जीवन के मूल के विचार तथा दृढ़ अनुशासन के नियमों का प्रतिपादन करती थी, 'थेरा' या 'स्थविर वादिन' नाम से प्रसिद्ध हुई। महासांघिक ने, जो बौद्ध भिक्षुओं का प्रगतिशील भाग था, साधारण जनता में बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न करने हेतु 'परिमित' (दान, सहिष्णुता, उदारता के गुण) के सिद्धान्तों का उपदेश देना प्रारम्भ किया। पालि-पिटकों (धर्म ग्रन्थों) में प्रतिपादित कठोर भिक्षु-जीवन के विरोध में उन्होंने एक नवीन आन्दोलन का श्रीगणेश किया। यह आन्दोलन बौद्ध धर्म को एकान्त विहारों में से नगरों एवं ग्रामों में ले आया और इसे एकान्त-वासियों के धर्म से जनता के धर्म में परिवर्तित कर दिया। आगे चलकर इसी प्रशाखा से महायान सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध धर्म में लगभग 18 सम्प्रदाय बन गये थे, किन्तु इनमें महायान और हीनयान सम्प्रदाय ही प्रमुख हैं।

**हीनयान सम्प्रदाय व उनके सिद्धान्त**—हीनयान सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के प्राचीन स्वरूप (मूल रूप) को महत्त्व देता है। हीनयान सम्प्रदाय महात्मा बुद्ध को आदि धर्म-प्रवर्त्तक तथा निर्वाण प्राप्त एक महापुरुष मानता है। वह बुद्ध को ईश्वर का अवतार नहीं मानता है। वह कर्मवाद एवं पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। परन्तु बुद्ध की भाँति वह ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखकर स्वयं पर विश्वास रखता है। हीनयान मत का मानना है कि बुद्ध के बताये मार्ग का अनुसरण करने से निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। इस सम्प्रदाय का कथन है कि अपने लिए स्वयं प्रकाश बनो। हीनयान सम्प्रदाय को समयानुसार राजाओं का संरक्षण प्राप्त हुआ, जिससे वह विकसित होता गया और शिक्षित व्यक्तियों का धर्म बन गया।

**महायान सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव**—बौद्ध धर्म के जिन अनुयायियों ने इस कठिन मार्ग को सरल बनाने के लिए कुछ नवीन एवं सरल मान्यताओं का विकास कर उसके अनुसार चलना आरम्भ किया, वे महायानी कहलाये। ईसवी सन् की शुरूआत के साथ-साथ बौद्ध धर्म में हीनयान और महायान का यह भेद स्पष्ट रूप से सामने आ गया। महायान सम्प्रदाय अपनी सरलता के कारण भारतवर्ष में ही नहीं बल्कि चीन, जापान और कोरिया तक में फैल गया। इस सम्प्रदाय ने स्वयं को समय और परिस्थिति के अनुसार ढाला जिससे इसकी सदस्य संख्या बढ़ती ही चली गई।

महायान सम्प्रदाय कुछ अंशों में तो अश्वघोष जैसे विद्वान ब्राह्मणों के जिन्होंने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था, हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म को परस्पर समन्वय करने के प्रयासों का फल था, और कुछ अंशों में उन अनेक नवीन प्रभावों–यूनानी, इसाई, पारसी, मध्य एशिया का फल था जो उत्तरी-पश्चिमी भारत के जीवन में घर कर रहे थे। जब विदेशी आक्रमणकारियों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया तब उसकी मूल विशिष्टताएं विलुप्त हो गयीं। बुद्ध अतीत के धर्मोपदेशक नहीं रहे, वे राम और कृष्ण के समान मानव-जाति की मुक्ति के उद्धारक व ईश्वर हो गये। बौद्धों ने अवतार सिद्धान्त को अपना लिया और ऐतिहासिक गौतम बुद्ध, आदि बुद्ध के विविध अवतारों के अन्तिम अवतार माने जाने लगे और उनकी प्रतिमा की पूजा होने लगी। इसके साथ ही साथ अनेक लक्षणों तथा विशिष्टताओं वाले कई देवी-देवताओं की भी उत्पत्ति हुई। यह बौद्ध धर्म का नवीन रूप, महायान था।

**महायान सम्प्रदाय की विशेषताएँ**—मौलिक बौद्धमत जिसे हीनयान कहते हैं, पूर्णतया बुद्धिवाद पर आधारित था। उसमें प्रतिपादित चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग तथा निर्वाण के विचार केवल बौद्धिक वर्ग के समझ में आ सकते थे। मूल बौद्ध धर्म में गृहस्थों के लिए निर्वाण (मोक्ष) की व्यवस्था हीन थी। इसलिए, बौद्ध धर्म में ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हुई जो सर्वसाधारण को अपनी ओर आकर्षित कर सके और जिसमें गृहस्थों के लिए भी निर्वाण की व्यवस्था हो। महायान मत का उदय इन आवश्यकताओं को पूरा करने में सफल रहा। इस मत की अपनी अनेक विशेषताएं थीं।

महायान सम्प्रदाय की मान्यता है कि बुद्ध के पूर्व भी बौद्ध धर्म के अनेक प्रवर्त्तक हो चुके थे, जिन्हें वे "बोधिसत्व" कहते हैं। महायान मत अपने अकेले के लिए बुद्धत्त्व या निर्वाण को प्राप्त करना उचित नहीं समझता जबकि उसके अन्य साथी दुःख और कष्टों के बन्धन में जकड़े हुए हैं। वह ऐसे लोगों की सेवा को निर्वाण से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझता है। उसके लिए प्राणि मात्र की भलाई और सेवा ही जीवन का परम लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त महायान सम्प्रदाय में

बुद्ध की मूर्ति-पूजा चल पड़ी। महायान वालों ने बुद्ध को परमात्मा और अवतार मानना शुरू कर दिया। यही नहीं, महायान मत की यह मान्यता हो गई कि ईश्वर के अवतार बुद्ध तथा बोधिसत्वों की भक्ति के द्वारा निर्वाण या मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

**हीनयान और महायान सम्प्रदायों में मुख्य अन्तर**—महायान मत प्राचीन वास्तविक धर्म जिसे हीनयान कहते हैं, अनेक बातों में भिन्न था।

(1) बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ, जो महायान मत की विलक्षणता थी, हीनयान मत के सर्वथा प्रतिकूल थी।

(2) हीनयान मत की यह धारणा थी कि व्यक्तिगत रूप से सच्चरित्र जीवन व्यतीत करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है, पर महायान मत का विश्वास था कि निर्वाण की अभिप्राप्ति के हेतु बुद्ध के प्रति भक्ति एवं श्रद्धा तथा उनका पूजन अनिवार्य है।

(3) हीनयान मत के समस्त धार्मिक ग्रन्थ पालि भाषा में लिखे गये, परन्तु महायान ने संस्कृत का आश्रय लिया।

(4) हीनयान सम्प्रदाय वाले गौतम बुद्ध को एक महान् पुरुष के रूप में अपना गुरु, आचार्य तथा पथ-प्रदर्शक मानते हैं। इसके विपरीत महायान सम्प्रदाय वाले तथागत बुद्ध को ईश्वर का रूप देकर उनकी पूजा करने लगे। उसे अवतार मानने लगे थे।

(5) गौतम बुद्ध ने वैदिक धर्म के प्रचलित अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध आवाज उठायी थी, जिसका हीनयान मत वाले अनुसरण करते थे। परन्तु, महायान सम्प्रदाय वालों ने सस्ती लोकप्रियता के चक्कर में तन्त्रों-मन्त्रों का सहारा लिया।

(6) हीनयान में निर्वाण प्राप्त करने के लिए भिक्षु-जीवन ग्रहण करना आवश्यक है। परन्तु, महायान मत में इसे आवश्यक नहीं समझा जाता।

(7) हीनयान की तुलना में महायान का प्रचार विदेशों में बहुत अधिक हुआ।

इस तरह, महात्मा बुद्ध की भविष्यवाणी सत्य हुई कि "उनका धर्म 500 वर्ष तक शुद्ध रहेगा।" महायान के उदय तक बौद्ध-धर्म अपनी शक्ति के चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। उसके पश्चात् धीरे-धीरे उसका ह्रास होता चला गया।

## IV बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति को देन

"बौद्ध मत के प्रसार के फल केवल एक महान् कला और संस्कृति तक सीमित नहीं हैं। उसने अनेक महापुरुषों को भी जन्म दिया है।"

—क्रिस्टोफर हम्फरी

बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार और प्रसार भारतीय इतिहास की एक महान् घटना है। भारतीय संस्कृति की श्री सम्पन्नता में इस धर्म के फलस्वरूप अत्यधिक अभिवृद्धि हुई। भारतीय जीवन के विविध अंगों को ढालने में बौद्ध-धर्म की प्रगति का बहुत बड़ा हाथ रहा। सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सभी अंगों पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव पड़ा। बौद्ध-धर्म की प्रमुख देनों का विवेचन, अध्ययन की सुविधा के लिए, निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत है।

1. **सरल, सुबोध एवं लोकप्रिय धर्म**—बौद्ध धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और क्रान्तिकारी योगदान धार्मिक क्षेत्र में था। बौद्ध-धर्म ने जटिल तथा दुर्बोध कर्मकाण्ड रहित लोकप्रिय धर्म दिया। इससे पूर्व वैदिक धर्म, जिसमें प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक-देवताओं की उपासना प्रधान थी और जिसके उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म के गीत गाये थे, जन साधारण के लिए दुरूह था। परन्तु बौद्ध धर्म अति सरल, सुबोध तथा नैतिक आचरण पर बल देने वाला था एवं उसका द्वार सबके लिए खुला था। इस धर्म की सादगी, भाव-प्रधानता, सरल नैतिक नियम, जनप्रिय भाषा का प्रयोग, उपमा और दृष्टान्तों से धर्मोपदेश का सर्व समान ढंग तथा सामूहिक प्रार्थना और पूजन ने जनता के हृदयों पर गहरी छाप जमा दी। इसने सर्वप्रथम व्यक्तित्व को धर्म में प्रधानता दी और धर्म के मानव-उद्धारक के रूप में व्यक्तिगत तत्त्व प्रस्तुत किया। डॉ० जदुनाथ सरकार के अनुसार, **"बुद्ध ने हमें एक ऐसा लोक-प्रिय धर्म दिया, जो जटिल और समझ रहित रीतियों से मुक्त था तथा जो किसी पुरोहित वर्ग की सहायता के बिना ही किया जा सकता था।"**

2. **उच्च नैतिक आदर्श**—बौद्ध धर्म ने सदाचार, जन-सेवा और स्वार्थ-त्याग के उच्च आदर्शों पर अधिक जोर दिया। बौद्ध धर्म के महायान-मतावलम्बियों ने बोधिसत्व के रूप में जन-सेवा का श्रेष्ठ आदर्श लोगों के सम्मुख रखा। इस आदर्श ने एक ओर बौद्ध धर्म के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म को भी अत्यधिक प्रभावित किया। बौद्ध धर्म ने 'दस शील' जैसे नैतिक सिद्धांतों को दृढ़ता से अपनाकर भारतीय जनता को पुनः नैतिकता और सदाचरण का मार्ग दिखलाया। तथागत बुद्ध के उपदेशों के कारण ही देश में पुनः नैतिक मूल्यों की स्थापना हुई। प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर के शब्दों में **"संसार के समस्त धर्मों में बौद्ध धर्म ही ऐसा धर्म है जो अपनी पवित्रता और शुद्धता के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्रशंसित किया जाता है।"** वैदिक धर्म (ब्राह्मण) के आडम्बर और रूढ़िवाद ने जिस नैतिक आचार को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया था, बौद्ध धर्म ने समाज में पुनः उसकी प्रतिष्ठा की।

3. **हिन्दू ब्राह्मण धर्म पर प्रभाव**—बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। बाद के हिन्दू धर्म पर बौद्ध विचार और नैतिकता के गहरे प्रभाव के सबल प्रमाण हैं। अहिंसा के जिस सिद्धान्त पर बौद्धों ने अधिक जोर दिया,

जिसका भक्तिपूर्वक प्रचार किया और जिसे दैनिक जीवन में क्रियात्मक कर दिया, उसे ब्राह्मणों ने अपने धर्मोपदेश में पूर्ण रूपेण समाविष्ट कर लिया। इससे प्राणी मात्र के प्रति श्रद्धा बढ़ी और रक्तिम यज्ञों की भावना का ह्रास हो गया। बौद्ध धर्म के अप्रत्यक्ष प्रभाव के कारण भागवत धर्म का जन्म हुआ जिसने 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त को पूर्णतया ग्रहण कर लिया। हिन्दू धर्म में यज्ञ आदि आडम्बरों की प्रधानता तथा छूआ-छूत के जोर में कमी आने लगी। धार्मिक दुरूहता भी कम हो गई। धार्मिक अन्ध-विश्वास और समाज में पुरोहित वर्ग अर्थात् ब्राह्मणों का प्रभुत्व भी कम हो गया।

4. **बौद्ध संघ व्यवस्था**—धार्मिक अनुयायियों को अनुशासनशील समुदायों में संगठित कर प्रजातन्त्र प्रणाली पर संघ-व्यवस्था निर्माण करने का श्रेय बौद्ध धर्म को ही है। हिन्दू धर्म के रामद्वारे, मठ और संन्यासी-सम्प्रदायों के अखाड़े और महन्तों के समुदाय बौद्ध धर्म के सम्पर्क के ही परिणाम हैं। इसके अतिरिक्त भारत में साधारण जनता के लिए संगठित और व्यवस्थित रूप से आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा-प्रसार का प्रथम प्रयास बौद्ध संघों ने किया। इस प्रकार प्रथम व्यवस्थित शिक्षा-केन्द्र नालन्दा का बौद्ध विहार था। बौद्ध संघ की कार्य-प्रणाली अत्यन्त जनतन्त्रात्मक थी। संघ ने संगठित रूप से समाज के सामने जिस त्यागपरता, सदाचारिता, अध्ययन शीलता और अध्यवसायशीलता दृष्टांत उपस्थित किया उससे बौद्ध धर्म जनता की अपूर्व श्रद्धा का केन्द्र बन गया।

5. **बौद्धिक स्वतन्त्रता : दर्शन की उन्नति**—वैदिक धर्म में वेदों की प्रामाणिकता तथा पुरोहित-वर्ग के एकाधिकार एवं कर्मकाण्ड की प्रधानता ने व्यक्तिगत बौद्धिक स्वतन्त्रता का नाश कर दिया था। इसके विपरीत बुद्ध ने स्वतन्त्र विचारों को प्रोत्साहित किया और धर्म में व्यक्तित्व को प्रधानता दी। बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि वे उनके वचनों एवं आदेशों को गुरु-वचन मानकर स्वीकार न करें, बल्कि अपने बुद्धि-विवेक की कसौटी पर वैसे ही कस जैसे एक स्वर्णकार सोने को कसता है। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि वे 'आत्म-दीप' हों और अपनी आत्मा को स्वयं अपना मार्ग-दर्शक बनायें। अतएव बौद्ध दार्शनिकों ने निर्वाध होकर तत्त्व-ज्ञान की समस्त समस्याओं पर निस्सन्देह स्वतन्त्रता से मनन किया। फलतः दर्शन शास्त्र में उनकी विचारधाराएँ भारतीय तत्त्व-ज्ञान के उच्चतम विकास की ओर संकेत करती हैं। नागार्जुन, असंग, वसुवन्धु, धर्म-कीर्ति जैसे बौद्ध दार्शनिक विश्व के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों में से हैं जिनकी कृतियों का अध्ययन किये बिना कोई भी व्यक्ति भारतीय दर्शन का आचार्य नहीं कहा जा सकता।

6. **समानता और सहनशीलता**—बौद्ध धर्म ने समाज में जाति-प्रथा के ऊँच-नीच के भावों के विरुद्ध समानता का उपदेश दिया और मनुष्यों को सबका

कल्याण करने की शिक्षा दी। इससे समस्त जातियों व नर-नारी का भेद-भाव विलीन हो गया। महात्मा बुद्ध ने जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया और वर्णों व जातियों के लिये बौद्ध धर्म के द्वार खोल दिये। इससे सामाजिक समानता को बढ़ावा मिला।

7. **साहित्य-सृजन : लोक साहित्य का विकास**—बौद्ध धर्म ने बोल-चाल की भाषाओं को उच्च साहित्य का माध्यम बनाया। स्वयं बुद्ध ने अपने धर्मोपदेश के हेतु जनसाधारण की बोल-चाल की (पालि) भाषा को अपनाया था। बौद्ध-संघों और विहारों में भी प्रवचन और शिक्षा-प्रसार के लिए इन्हीं लोक भाषाओं का प्रयोग किया गया। इससे बोल-चाल की भाषा (प्राकृत) में विस्तृत साहित्य की सृष्टि हुई। पालि भाषा का समूचा साहित्य बौद्ध-धर्म के अभ्युदय का परिणाम था। साहित्यिक ग्रन्थों में 'बुद्ध-चरित' नामक महाकाव्य तथा 'सारियुज-प्रकरण' नामक नाटक बौद्धों की ही देन है। संस्कृत के 'मंजुश्री मूलकल्प' तथा 'दिव्यादान' नामक बौद्ध ग्रन्थों से प्राचीन भारत के इतिहास के विषय में काफी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है।

8. **राजनीतिक और राष्ट्रीय एकता**—बौद्ध धर्म ने समाज में जाति-पांति के, ऊँच-नीच के भावों का विनाश कर सामाजिक और सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करने का प्रत्यन किया। बोल-चाल की भाषा का प्रयोग करने से यह एकता और भी दृढ़ हो गयी। इस धर्म की सादगी और सरलता से यह साधारण जनता का अधिक प्रिय धर्म हो गया और वह उसे देश का धर्म समझने लगे। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने भारतीय राष्ट्र के विकास में योग दिया एवं भारत की राजनीतिक एकता का मार्ग सुलभ कर दिया। प्राचीन काल से भारत विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। बौद्ध सम्राटों अशोक, कनिष्क, हर्ष आदि के प्रयत्नों के फलस्वरूप विशाल साम्राज्यों का उदय हुआ। इतिहासकार ई० वी० हेवेल के शब्दों में : **"भारत को एक राष्ट्र के सूत्र में संगठित करने का श्रेय बौद्ध धर्म को इसी प्रकार है जिस प्रकार सैक्सनी के छोटे-छोटे राज्यों को संगठित करने का श्रेय इसाई धर्म को है। बौद्ध धर्म ने मौर्य-साम्राज्य की स्थापना में बड़ी सहायता की।"**

9. **भारतीय कला के क्षेत्र में महान् देन**—भारतीय जीवन में बौद्ध धर्म की सर्वोत्कृष्ट देन वास्तु कला और स्थापत्य कला के क्षेत्र में है। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का श्रेष्ठतम विकास हुआ। बौद्ध धर्म ने वास्तुकला को खूब प्रोत्साहन दिया। आज प्रायः विश्व के प्रत्येक महान् अजायबघर में बौद्ध कला के अवशेष हैं। बौद्ध कलाकारों ने जिन कलाकृतियों का निर्माण किया, उनका सौन्दर्य और सौष्ठव असाधारण है। बौद्ध विहारों, मन्दिरों एवं स्मारकों को कलापूर्ण ढंग से अलंकृत किया गया और इस प्रकार कालान्तर में

वास्तुकला और स्थापत्यकला की एक नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ। सांची, भरहुत और अमरावती के स्तूपों तथा अशोक के शिला-स्तम्भों एवं कार्ली की बौद्ध गुफाओं की गणना भारतीय कला के सर्वोत्तम नमूनों में होती है। साँची का स्तूप, उसकी चहारदीवारी एवं विशाल व सुन्दर भवन आज भी बौद्ध कालीन कला की श्रेष्ठता को प्रकट करते हैं। बौद्ध चित्रकारों द्वारा गुहाओं एवं मन्दिरों की भित्तियां सुन्दर चित्रकला से अलंकृत की गयीं। अजन्ता, एलौरा, बाघ और बारबरा गुहाओं में बौद्ध कालीन स्थापत्यकला और चित्र कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। प्रो० कोहन के अनुसार, "सभी क्षेत्रों में—चित्रकला में, स्थापत्य में वास्तुकला में और कारीगरी में बौद्ध धर्म ने ऐसी कलाकृतियां उत्पन्न की हैं जो पाश्चात्य कला की उन्नतम कृतियों के समक्ष रखी जा सकती है।" क्रिस्टोफर हम्फरी ने भी लिखा है कि "ईसा की छठी शताब्दी तक भारत में सबसे उत्तम कला बौद्ध कला है। चीन, जापान, बर्मा तथा श्याम में जब से बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ तब से लेकर इस देश के किसी भी युग की सर्वश्रेष्ठ कला—बौद्ध ही है।" सारांश में, सम्राट् अशोक के समय से गुप्तकाल के अन्त तक भारत की सारी कला-कृतियां बौद्ध धर्म की प्रेरणा से अनुप्राणित हैं।

11. **भारतीय इतिहास पर प्रभाव**—भारत के राजनीतिक इतिहास पर बौद्ध धर्म की अमिट छाप है। बौद्ध धर्म ने भारतीय राजा एवं राजकुमारों के हृदयों में रक्तपात तथा युद्ध के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी। बौद्ध नियमों ने ही अशोक को युद्ध-त्याग करने के लिए तथा शान्ति की नीति का अनुकरण करने के हेतु बाध्य किया था। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने देश में सैनिक भावनाओं को कम कर दिया। फलस्वरूप भारत-निवासी सैनिक क्रिया-कलापों और कार्यों से घृणा करने लगे और कालान्तर में उत्तर-पश्चिम से आने वाले बलशाली आक्रमणकारियों के वे शिकार हो गये।

12. **भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार**—सर्वप्रथम बौद्धों ने ही भारतीय संस्कृति को देश की सीमाओं के बाहर सुदूर देशों में प्रसारित किया। सम्राट् अशोक, कनिष्क आदि के शासन काल में बौद्ध भिक्षुओं के जत्थे आस-पड़ोस के देशों में तथागत बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करने गये थे। इनके धर्म-प्रचार के फलस्वरूप तत्कालीन लंका, बर्मा, चीन, तिब्बत, जापान, कोरिया, जावा, सुमात्रा, मध्य-एशिया आदि देशों में बौद्ध धर्म ने अपनी जड़ें बहुत गहरी जमा लीं। इन देशों के लिए भारत एक पवित्र देश हो गया। उन्होंने तथागत की शिक्षाओं के साथ भारतीय संस्कृति के अनेक तत्त्वों को ग्रहण किया। इससे भारत तथा इन बाह्य देशों के बीच "मैत्री पूर्ण" घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो गया। डॉ० जदुनाथ सरकार के अनुसार, "बौद्ध धर्म देश का विश्व व्यापी आन्दोलन था जिसमें जाति का कोई बन्धन नहीं था, अतः सभी प्राचीन पूर्वी देशों ने इसे स्वतन्त्रता पूर्वक स्वीकार

कर लिया।" वास्तव में, बौद्ध धर्म भारत की ओर से विदेशों के लिए एक अमूल्य भेंट थी।

निष्कर्ष—पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि "बौद्ध धर्म ने भारतीय जीवन को लगभग प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावित किया है; जब वह यहाँ से लुप्त भी हो गया तो भी इसका प्रभाव यहाँ रहा।" सारांश में, बौद्ध धर्म ने भारतीय धर्म, संस्कृति, कला आदि सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को व्यापक रूप से प्रभावित किया। ई. बी. हैवेल के शब्दों में : "बौद्ध धर्म ने आर्यावर्त्त के जातीय बन्धनों को तोड़, उसके आध्यात्मक वातावरण में व्याप्त अन्ध-विश्वासों को दूर किया, आर्य जाति में एकता उत्पन्न की और मौर्य वंश के विशाल साम्राज्य की नींव रखी।"



# 4

# सामाजिक संस्थाएँ : परिवार और जाति

## (Social Institutions : Family & Caste)

- **परिवार**
  - I. संयुक्त परिवार प्रथा : विशेषताएँ
  - II. संयुक्त परिवार प्रथा के गुण व दोष
  - III. तीन ऋण, पंच महायज्ञ व चार पुरुषार्थ
  - IV. सोलह संस्कार
  - V. आश्रम-व्यवस्था
- **वर्ण एवं जाति**
  - VI. वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति
  - VII. भारत में जाति-प्रथा : विशेषताएँ
  - VIII. जाति-प्रथा के गुण एवं दोष
  - IX. भारत में नारी की स्थिति

---

### I. संयुक्त परिवार प्रथा : विशेषताएँ

"भारतवर्ष में संयुक्त परिवार प्राचीनकाल से ही प्रचलित रहा है। भूतकाल में यह एक सहयोगी व्यवस्था थी जिसमें सम्पत्ति पर सबका अधिकार था....।"

—प्रो० बाटोमोर

सामाजिक संगठनों में परिवार का एक विशिष्ट स्थान है। परिवार सामाजिक जीवन की पहली इकाई है जो व्यक्ति और समाज के बीच महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होती है। समाज का प्रारम्भिक स्वरूप व्यक्ति को परिवार के रूप में ही देखने को मिलता है। "परिवार समाज का वामन अवतार (संक्षिप्त रूप) है और समाज परिवार का विराट रूप है।" इसमें समाज की सारी प्रक्रियाएँ छोटे रूप में अपना काम करती हुई पाई जाती हैं। विभिन्न संस्कृतियों में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही इस मौलिक संस्था का विकास हो गया था, चाहे उसका प्रारम्भिक रूप आज की अपेक्षा कितना ही भिन्न और व्यापक रहा हो।

भारत में संयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन प्राचीनकाल से है। वैदिक युग में ही आर्यों ने स्वस्थ सामाजिक और राजनीतिक जीवन का विकास कर लिया था। व्यक्ति की अपेक्षा परिवार ही सामाजिक एवं राजनीतिक इकाई समझा जाता था। परिवार के सदस्य एक ही गृह में रहते थे। परिवार का मुखिया पिता होता था और उसे 'गृहपति' कहते थे। परिवार के सदस्यों पर उसका पूर्ण अंकुश होता था। पति और पत्नी के अतिरिक्त आर्यों के परिवार में माता-पिता, भ्राता-भगिनी, पुत्र-पुत्री आदि भी रहते थे। साधारणतया इनमें पारस्परिक स्नेह होता था एवं इस पारिवारिक जीवन की सहृदयता कामना की वस्तु थी। वैदिककालीन परिवारों में सामूहिक उत्तरदाइत्व वहन करना पड़ता था। वर्तमान में भी न्यूनाधिक यह प्रथा भारत में जारी है।

भारतीय समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली एक महत्वपूर्ण विशेषता है। प्राचीनकाल में नाना प्रकार की विपरीत परिस्थितियों के कारण कुछ लोगों के सहयोग से ही भोजन, आवास आदि प्राप्त हो सकता था। इस कारण एक पूर्वज की जितनी संतानें होती थीं, वे प्रायः एक साथ रहती थीं। इस प्रकार संयुक्त परिवार की उत्पत्ति हुई थी। संयुक्त-परिवार प्रथा भारतीय समाज की प्रमुख आधारशिला है, अस्तु इस पर विस्तार पूर्वक विवेचन प्रस्तुत है।

**अर्थ एवं परिभाषा**— एक भारतीय संयुक्त परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता, चाचा-चाची, पुत्र-पुत्रवधु, भतीजे, पौत्र, अविवाहित पुत्रियां और पौत्रियाँ तथा इसी प्रकार के सम्बन्धित लोग रहते हैं। यह भारतीय समाज की ऐतिहासिक, आर्थिक एवं सामाजिक इकाई है। परिवार की सत्ता सबसे बड़ी आयु के व्यक्ति के हाथ में होती है। वही परिवार का मुखिया होता है तथा परिवार की सारी व्यवस्था करता है और परिवार के सब सदस्यों पर नियन्त्रण रखता है। जो पुरुष कमाने योग्य होते हैं काम करते हैं और सारी आमदनी परिवार के मुखिया को सौंप देते हैं। खर्च परिवार का मुखिया करता है और जिसकी जितनी आवश्यकता होती है उसको अपने अनुसार पूरी करता है। खर्च करने में इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि अमुक सदस्य कितना कमाता है।

भारतीय संयुक्त परिवार की जो परिभाषाएं विभिन्न विद्वानों ने दी हैं, उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

"हम उस गृह को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें एकाकी परिवार से अधिक पीढियों के सदस्य (अर्थात् तीन या अधिक पीढ़ियों से) रहते हैं, तथा एक दूसरे से सम्पत्ति, आय एवं पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों से सम्बन्धित हों।"

—डॉ० आई. पी. देसाई

"यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों, उनमें निकट का नाता हो, वे एक ही चूल्हे पर भोजन बनाते हों, तथा एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जाता है।"

—प्रो० एस. एन. दूबे

वास्तव में, संयुक्त परिवार के अर्थ को किसी भी एक निश्चित परिभाषा में बांध देना बड़ा कठिन है। इसे तो हम इसके सामान्य लक्षणों अथवा विशेषताओं से ही अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। 'हिन्दू विधि' में संयुक्त परिवार के अन्तर्गत उन सब लोगों की गणना की जाती है जो सामान्य पूर्वज के वंशज हों, (जिनमें उनकी पत्नियां और अविवाहित लड़कियां भी शामिल हैं) सम्पत्ति संयुक्त हो तो ठीक है, लेकिन अगर न हो तो भी परिवार संयुक्त बना रह सकता है। इसी प्रकार अगर भोजन और पूजा की दृष्टि से परिवार के सदस्य अलग हों तो भी एक हिन्दू परिवार संयुक्त रह सकता है। परन्तु उन्हें संयुक्त परिवार तभी तक माना जाता है जब तक यह प्रमाणित न हो जाए कि परिवार के सदस्यों के मध्य बंटवारा हो चुका है।

विशेषताएं—एक संयुक्त परिवार की मुख्य विशेषताएं संक्षेप में निम्नानुसार है।

1. सभी सदस्य एक ही वंश और रक्त से सम्बन्धित होते हैं।
2. एक ही घर में सब निवास करते हैं।
3. सम्पत्ति और आय में सबका साझा होता है।
4. भोजन एक ही रसोई में तैयार किया जाता है।
5. सामान्य पूजा तथा धर्म होता है।
6. परिवार का आकार बड़ा और असीमित होता है।
7. अधिकांशतः वयोवृद्ध सदस्य परिवार का मुखिया होता है।
8. परस्पर सुमधुर भावनात्मक सम्बन्ध होते हैं।
9. सदस्यों के सांस्कृतिक, शारीरिक और भौतिक विकास हेतु सभी मिल जुलकर काम करते हैं।

## II. संयुक्त परिवार प्रणाली के गुण व दोष

संयुक्त परिवार प्रथा अपने गुणों पर आधारित है और यही कारण है कि वह इतनी प्राचीन होकर भी आज तक बनी हुई है। यद्यपि यह सत्य है कि पश्चिमी समाज व्यवस्था ने हमारी मूल भावनाओं को तथा समाज रचना के मूल आधारों को प्रभावित किया है, फिर भी इसमें विशेष परिवर्तन नहीं ला सके हैं और ऐसी उपयोगी सामाजिक संस्था को किसी न किसी रूप में बनाये हुए हैं।

आर्थिक लाभ—(1) खर्च का बचाव—चूंकि संयुक्त परिवार में सम्मिलित आय व सम्मिलित खर्च होता है, इस कारण कम खर्चे में ज्यादा लोगों का भरण-पोषण होता है। (2) पारिवारिक धन का समान वितरण—इस व्यवस्था के अन्तर्गत आय व सम्पत्ति पर किसी विशेष व्यक्ति का विशेष अधिकार नहीं होता। अस्तु सभी सदस्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति समान रूप से कर सकते हैं। (3) सामाजिक बीमा—शारीरिक या मानसिक असमर्थता या दुर्घटना होने पर संयुक्त

परिवार की प्रत्येक सदस्य की रक्षा करता है। बीमार पड़ने पर सेवा-सुश्रूषा मिलती है। वृद्धावस्था अथवा असमर्थता या बेकारी अथवा दुर्घटना होने पर इस व्यवस्था में पूरा आश्रय मिलता है।

**सामाजिक लाभ :** **(1) बालकों का पालन-पोषण का आदर्श स्थान—** इसमें रहते हुए बच्चे उदारता, सहिष्णुता, सेवा, सहयोग, प्रेम, सद्भाव और आज्ञाकारिता का पाठ पढ़ते हैं। सब मिलकर सबके लिये रहने की भावना से उनमें संकुचित स्वार्थ-भावना का विकास नहीं हो पाता। **(2) समाज की सेवा का अवसर–** चूंकि संयुक्त परिवार में स्त्री, बच्चों, या बूढ़े माँ-बाप के भरण-पोषण का भार किसी एक के सिर पर नहीं होता इस कारण समाज-सेवा की भावना रखने वाले सदस्य को परिवार की चिन्ता अधिक न रखकर देश व समाज की सेवा तथा त्याग करने का अवसर अधिक मिलता है। **(3) धर्म व संस्कृति की रक्षा–** संयुक्त परिवार में संस्कृति, धर्म, परम्पराओं की रक्षा अधिक सरल रहती है। वहाँ सामाजिक तथा धार्मिक कार्य होते ही रहते हैं- अतः प्रत्येक व्यक्ति को इसमें ऐसे रीति-रिवाजों को समझने का अधिक अवसर प्राप्त होता है। **(1)व्यक्तिवादी भावना पर नियंत्रण–** संयुक्त परिवार व्यवस्था व्यक्तिवाद जैसी भावना पर रोक लगाकर समाज को विघटित होने से रोकती है। इसका ध्येय "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना को प्रोत्साहित करना है।

सारांश में, संयुक्त परिवार प्रथा सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में समाजवादी समाज की रचना का अच्छा आदर्श है। इससे जहाँ सुखी कुटुम्बों का निर्माण सम्भव है, वहाँ व्यक्ति के विकास की भी पूर्ण संभावना है।

**संयुक्त परिवार प्रथा के दोष या हानियाँ–** अनेक लाभ होते हुए भी संयुक्त परिवार प्रथा में कुछ अपनी खराबियां हैं जिनके कारण संयुक्त परिवार दिन-प्रतिदिन निर्बल होता जा रहा है। कुछ मुख्य दोष निम्नानुसार हैं:–

(1) यहां दूसरों पर निर्भर रहने और आलस्य की आदत को बल मिलता है जिससे निकम्मे व्यक्तियों की वृद्धि हुई है।

(2) प्रायः बचपन से ही बालक यहाँ परतन्त्र-दूसरों पर निर्भर रहते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधा पहुंचती है।

(3) यहाँ द्वेष व कलह का राज्य रहता है, क्योंकि सदस्यों के पारस्परिक हितों में संघर्ष होता रहता है।

(4) यहाँ स्त्रियों की दशा बड़ी दयनीय होती है।

(5) इसमें कर्त्ता (मुखिया) की स्वेच्छाचारिता रहती है।

(6) संयुक्त परिवार सामाजिक समस्याओं —बालविवाह, दहेज, विधवा विवाह पर रोक, स्त्रियों के शोषण, छूआछूत आदि के केन्द्र बन गये हैं।

## संयुक्त परिवारों के विघटन के कारण

संयुक्त परिवार प्रथा अपनी कमियों के कारण अनुपयोगी तो सिद्ध हुई ही है, परन्तु वर्तमान समय में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी बन गयी हैं कि जिनके कारण इस प्रथा का अपने आप विघटन होता जा रहा है।

(1) व्यक्तिवादी विचारधारा बलवती होती जा रही है। हर व्यक्ति की अपनी रुचियाँ इतनी विशिष्ट हो गयी हैं कि वह उनका पूरा कर पाना संयुक्त परिवार में सम्भव नहीं समझता। अतः व्यक्तिगत कारणों से इस व्यवस्था का विघटन होता जा रहा है।

(2) वर्तमान औद्योगिक युग में व्यक्ति को उसके व्यक्तिगत श्रम का ही मुआवजा मिलता है। अतः वह अन्य लोगों का भरण-पोषण करने में असमर्थ है। लोगों को जीविकोपार्जन के लिए अन्य स्थानों को बाहर जाना पड़ता है। इससे भी संयुक्त प्रथा का विघटन होता जा रहा है।

(3) नवीन अधिनियमों (कानूनों) ने भी संयुक्त परिवार की स्थिरता को आघात पहुंचाया है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, हिन्दू स्त्री का सम्पत्ति अधिकार कानून आदि के कारण भी विघटन को बल मिला है।

## संयुक्त परिवार प्रथा का भविष्य

वर्तमान समाज में कुछ ऐसी शक्तियां काम कर रही हैं जिसके कारण संयुक्त परिवार का विघटन तेजी से हो रहा है और भविष्य में और तेजी से होगा। संयुक्त परिवार का विघटन विशेषकर नगरों में और शिक्षित वर्गों में स्पष्ट है। फिर भी यह अवश्य है कि हिन्दू मनोवृत्ति संयुक्त परिवार के पक्ष में है। भारतीय देहातों में संयुक्त परिवार प्रणाली का प्रभाव एवं अस्तित्व आज भी है, क्योंकि अभी भारतीय ग्रामीण समुदाय में नगरों की तरह क्रान्ति का बिगुल नहीं बज पाया है।

प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि संयुक्त परिवार से अलग होने के बाद भी लोग आपस में सद्भाव बनाये रखने में सफल होते हैं। ये लोग संयुक्त परिवार को तोड़ने के लिए पृथक नहीं होते। इनका उद्देश्य संयुक्त जीवन के दोषों का विशेष कर रोज-रोज स्त्रियों के बीच झगड़ों और अशांति से दूर रहना होता है। वैसे, वर्तमानकाल में व्यक्तित्व अथवा पृथक परिवारों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। फिर भी जो ऐसे नये परिवार बनें उनमें पुराने संयुक्त परिवार के गुणों को कायम रखना चाहिये।

## III. हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब के आदर्श

(तीन ऋण, पंच महायज्ञ, चार पुरुषार्थ)

सन्तानोत्पत्ति एवं बच्चों का लालन-पालन आदि कार्य तो विश्व के सभी परिवार करते हैं; जबकि भारतीय हिन्दू परिवार कुछ विशिष्ट धार्मिक कार्यों को भी सम्पादित करता है। प्रमुखतः तीन ऋणों से उऋण होना, पंच महायज्ञ करना

तथा सोलह संस्कारों को सम्पादित करना प्रत्येक भारतीय हिन्दू परिवार के मुख्य कार्य होते हैं।

**तीन ऋण; अर्थ एवं उद्देश्य**—भारतीय प्राचीन दार्शनिकों की मान्यता थी कि इस संसार में प्रत्येक मनुष्य देवताओं, ऋषियों, माता-पिता, अतिथियों और अन्य प्राणियों से कुछ-न-कुछ साधन, ज्ञान एवं शक्ति प्राप्त करता आया है। उसी के आधार पर वह अपने जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का यह नैतिक कर्तव्य है कि इन ऋणों से उऋण होने का प्रयत्न करे। धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ पर तीन ऋणों का भार होता है जिससे उऋण होना चाहिए।

**1. देव ऋण**—भारतीय दार्शनिकों की मान्यता थी कि मनुष्य को जीवन-यापन के लिए जिन अति आवश्यक साधनों की आवश्यकता रहती है वे सभी दैवी शक्तियों द्वारा ही हमें प्राप्त होते हैं जैसे कि जल, भूमि, वायु इत्यादि। धर्मशास्त्रों के अनुसार, यह ऋण यज्ञ द्वारा पूरा करना चाहिए।

**2. ऋषि-ऋण**—प्राचीन ऋषियों तथा विचारकों ने अपनी-अपनी साधना एवं तपस्या के द्वारा जो ज्ञान अर्जित किया और जिसके सहारे हम जीवन का रहस्य समझ पाये हैं, उनके प्रति भी हम ऋणी हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार, इससे स्वाध्याय द्वारा उऋण समझा जाता है।

**3. पितृ ऋण**—माता-पिता बच्चे का पालन-पोषण करते हैं। उसके शिक्षा की व्यवस्था करते हैं। उसे जीविकार्जन योग्य बनाते हैं इस दृष्टि से हम उनके भी ऋणी हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार, इस ऋण से व्यक्ति सन्तानोपत्ति करके उऋण समझा जाता था।

धर्मशास्त्रों की व्यवस्था के अनुसार उपर्युक्त तीन ऋणों को चुकाना प्रत्येक व्यक्ति का क्रमशः सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। आज भी अनेक हिन्दू परिवारों में इनमें से कुछ बातें नियमित रूप से होती हैं।

उपर्युक्त तीन ऋणों के अतिरिक्त दो प्रकार के ऋण और भी माने गये हैं— **अतिथि ऋण और भूत ऋण**। हम अतिथियों और जीवधारियों के ऋणी हैं क्योंकि हमें उनसे समय-समय पर ज्ञान तथा अन्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। धर्मशास्त्रों में उपर्युक्त वर्णित पांचों ऋणों से उऋण होने के लिए पंच महायज्ञों की व्यवस्था की है।

**पंच महायज्ञ : महत्व**—प्राचीन आर्य यज्ञ, हवन को बड़ा महत्त्व देते थे। इनका विश्वास था कि अग्नि देवदूत का कार्य करती है तथा मनुष्यों द्वारा समर्पित वस्तुएँ देवताओं तक पहुँचाती है। देवता प्रसन्न होकर मानव कल्याण का कार्य करते हैं। अतएव, प्राचीन भारतीय परिवारों के दैनिक कार्यक्रम में अग्रलिखित पांच महायज्ञ करने का विधान था।

1. ब्रह्म यज्ञ—इसको ऋषि यज्ञ भी कहा जाता है। इसमें स्वाध्याय और सन्ध्योपासना ये दो कर्म सम्मिलित हैं। वेदों का अध्ययन करना तथा दूसरों को इनकी शिक्षा देना सर्वोत्तम ब्रह्म यज्ञ है। ब्रह्म यज्ञ व्यक्तित्व का निर्माण करता है और व्यक्तित्व के निर्माण से समाज और राष्ट्र का मार्ग प्रशस्त होता है।

2. देव यज्ञ—इसे अग्निहोत्र भी कहते हैं। इसका आशय यह है कि प्रातः और सायं अग्नि में विभिन्न देवताओं के प्रति "स्वाहा" के साथ कुछ आहुतियाँ देनी चाहिये। इसमें यज्ञ करने की जो विधि है उससे मन और शरीर स्वस्थ बनता है, साथ ही हृदय में कल्याणकारी विचारों को बल मिलता है।

3. पितृ-यज्ञ—परिवार का मृतक सदस्य पितर कहलाता है। अपने मृत पितरों के लिए श्रद्धा एवं तर्पण आयोजित करना, इसे ही पितृयज्ञ कहते हैं। श्राद्ध-पक्ष के अलावा दैनिक रूप से इस यज्ञ का महत्त्व माता-पिता तथा गुरुजनों की सेवा और आज्ञापालन करते हुए श्रेष्ठ कर्मों में लगे रहना है।

4. मनुष्य यज्ञ—इसे अतिथि यज्ञ भी कहते हैं। अतिथि सत्कार प्रत्येक परिवार का आवश्यक कर्तव्य माना गया है। इसमें अतिथि सत्कार, साधु-सन्तों आदि को भोजन, वस्त्र, दक्षिणा आदि से सन्तुष्ट करना, द्वार पर आये हुए को खाली न लौटाना आदि सम्मिलित हैं।

5. भूत यज्ञ—इस यज्ञ का विधान भोजन करने से पूर्व होता है। घर में पकाये भोजन में से कुछ आहुतियाँ अग्नि में डाली जाती हैं। साथ ही प्रत्येक परिवार से आशा की जाती है, कि वह भोजन करने से पहले गाय, कुत्ते, कौवे आदि के लिए अंश अलग करदे। इस यज्ञ से दान और त्याग की भावना तथा असमर्थ प्राणियों की मंगल कामना निहित है।

इस तरह भारतीय परिवार के दैनिक जीवन में, एक हिन्दू गृहस्थी के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह विश्व में जीवन व्यतीत करते हुए देवताओं, पितरों; अतिथियों, यहां तक कि पशु पक्षियों के प्रति भी अपने कर्तव्यों का पालन करेगा। अस्तु, पंच महायज्ञ कोरे कर्म-काण्ड नहीं हैं, बल्कि जीवन को उदात्त और आदर्श बनाने वाले कर्म है। इन पर गृहस्थाश्रम की सफलता निर्भर है।

चार पुरुषार्थ—पुरुषार्थ चतुष्टय को जीवन का लक्ष्य माना गया है। पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ है उद्योग अथवा व्यक्ति के उत्साही कार्य। लेकिन वैदिक संस्कृति में उद्योग की दशा निर्देश—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ओर सतत् उन्मुख रहने में है। मानव जीवन में उदात्त भावनाओं को अपना कर वासना तथा अविद्या रहित जो लोक कल्याणकारी कार्य हैं, जिनके आचरण से प्रत्यक्ष रूप में लोक को और परोक्ष रूप में आत्मा को लाभ पहुँचता है। वे सब पुरुषार्थ माने जाते हैं।

1. धर्म—मनुष्य अपने जीवन में अच्छे से अच्छा कार्य करके तथा दान, दक्षिणा इत्यादि के द्वारा धर्म एवं पुण्य की प्राप्ति करे।

2. अर्थ—इसका दूसरा अर्थ द्रव्य या धन है जिसके द्वारा ही मनुष्य अपने परिवार का पालण-पोषण करता है। प्रत्येक व्यक्ति उचित नैतिक माध्यमों से धन अर्जित करे।

3. काम—व्यक्ति अपने मन की इच्छा-पूर्ति के लिए जो कार्य या विषयभोग करता है उसे ही काम कहते हैं। कामेच्छा पूर्ण करने पर ही मनुष्य सन्तानोत्पत्ति कर पाता है।

4. मोक्ष—इसका शाब्दिक अर्थ 'मुक्ति' से है। इस अन्तिम पुरुषार्थ की साधना के पश्चात् मनुष्य सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पा लेता है।

निष्कर्ष—डॉ प्रभु ने इन्हें आश्रम व्यवस्था का "मानसिक नैतिक आधार" बताया है। धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों पुरुषार्थों का क्षेत्र गृहस्थाश्रम माना गया है। चौथा पुरुषार्थ संन्यासाश्रम में ही सम्भव है।

## IV हिन्दू पारिवारिक सोलह संस्कार

प्राचीन काल में भारतीय दार्शनिकों ने मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए जो योजना निर्धारित की, उसका प्रथम सोपान संस्कार और द्वितीय सोपान आश्रम हैं। मनुष्य के गर्भाधान संस्कार से लेकर श्मशान में अन्त्येष्टि क्रिया तक सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गई थी। इन संस्कारों का धार्मिक व सामाजिक महत्व है। मनु महाराज ने इनका प्रयोजन और स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि "ये शरीर के संस्कार हैं अर्थात् शरीर की शुद्धि करने वाले हैं।" इस तरह, संस्कार वह विलक्षण योग्यता है जिसके द्वारा मनुष्य दोषमुक्त होकर विभिन्न त्रियाओं को करने योग्य बन जाता है।

संस्कारों की संख्या धर्मशास्त्रों में भिन्न-भिन्न बताई गई है। गौतम धर्म-सूत्र में 48 संस्कारों का वर्णन है, परन्तु साधारणतः 16 संस्कारों को ही प्रमुख माना जाता है। इनमें भी कुछ संस्कार जैसे उपनयन, विवाह आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं।

संस्कारों का उद्देश्य—संस्कारों का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों को सांसारिक उन्नति तथा मोक्ष के लिये पूर्ण समर्थ बनाना है। भारतीय शास्त्रकारों की मान्यता है कि ये संस्कार ही मनुष्य के शरीर व मन को विशुद्ध करते हैं। और उसे आत्मा के निवास के योग्य बनाते हैं। इनका हिन्दू समाज में बड़ा महत्त्व है। प्रायः कहा जाता है कि वह (हिन्दू) धर्म में ही जन्म लेता और धर्म में ही मरता है। सारांश में, सामाजिक एवं मानवीय गुणों के विकास में संस्कार बहुत उपयोगी होते हैं।

### सोलह संस्कार: परिचय एवं महत्त्व

1. गर्भाधान संस्कार—मानव जीवन का यह सबसे पहला संस्कार है। इसमें नए प्राणी के गर्भ रूप में आने के लिए उपयुक्त संस्कार शुभ दिन पर किया जाता है और पति-पत्नी सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

2. पुंसवन संस्कार—पत्नी के गर्भ धारण के बाद तीसरे महीने यह संस्कार किया जाता था। इसका उद्देश्य गर्भ में स्थित शिशु को रूप देना होता था। इस संस्कार में देवताओं की स्तुति कर उनसे पुत्र-प्राप्ति की याचना की जाती थी।

3. सीमन्तोन्नयन संस्कार—गर्भवती स्त्री को अमंगलकारी शक्तियों से बचाने के लिए, आठवें मास में, इस संस्कार का विधान किया गया है। इस संस्कार में पति द्वारा पत्नी के केशपाश को सजाकर उसकी माँग भरी जाती है।

4. जातकर्म संस्कार—यह संस्कार बच्चे के जन्म होने पर किया जाता है। समारोह में उपस्थित सब लोग शिशु को आशीर्वाद देते हैं।

5. नामकरण संस्कार—बालक के जन्म के दसवें या बारहवें दिन यह संस्कार किया जाता है। इसमें पिता ही दो चार अक्षरों का सुन्दर नाम रखता है। गृह शुद्धि के लिए हवन भी किया जाता है।

6. निष्क्रमण संस्कार—जन्म के चौथे मास में शिशु को पहली बार घर से बाहर निकालने की क्रिया को 'निष्क्रमण संस्कार' कहते हैं।

7. अन्नप्राशन संस्कार—शिशु को छः मास का होने पर पहली बार आहार देने का कार्य 'अन्नप्राशन संस्कार' कहलाता है। शिशु शुरू में भात, शहद, दही और घी का मिश्रित भोजन दिया जाता है।

8. चूड़ाकर्म संस्कार—यह संस्कार जन्म के पहले से तीसरे वर्ष के मध्य किया जाता है। इसमें बालक के सिर के सभी बालों को कटवाकर चोटी रखना महत्वपूर्ण माना गया है।

9. कर्णवेध संस्कार—यह संस्कार शिशु जन्म के तीसरे से पांचवें वर्ष के मध्य किया जाता है। इसमें बालक के कानों को किसी अच्छे वैद्य द्वारा बींधा जाता था।

10. विद्यारम्भ संस्कार—जब शिशु की अवस्था पढ़ने योग्य हो जाती है, तो विद्यारम्भ संस्कार किया जाता है।

11. उपनयन संस्कार—इसे 'यज्ञोपवीत संस्कार' भी कहते हैं। इस संस्कार का अर्थ बालक का शिक्षा प्राप्त योग्य माना जाना है। यज्ञोपवीत धारण करने योग्य होते ही शिशु को जनेऊ दी जाती है। उपनयन का अर्थ है 'गुरू के समीप ले जाना'। वैसे इसका वास्तविक अर्थ है आचार्य द्वारा आगत शिष्य को दीक्षा दान। अस्तु विद्यार्थी के आचार्य द्वारा 'ब्रह्मविद्या' के लिए स्वीकार किए जाने की विधि को ही 'उपनयन संस्कार कहते हैं। इस संस्कार के समय, विद्यार्थी उत्तरीय और वस्त्र पहनकर, सिर का मुण्डन करवाकर, मेखला और दण्ड धारण करके उपनयन के लिए आचार्य के सामने बैठता है और आचार्य होम करता है तथा बालक को गायत्री मंत्र देता है—आचार्य ब्रह्मचारी (छात्र) को उपदेश देता है—"ब्रह्मचारी हो, जल पीओ, काम करो, दिन में मत सोओ, आचार्य के अधीन होकर वेद का अध्ययन करो।" इसके पश्चात् बालक ब्रह्मचारी बन वेद

आदि का अध्ययन करता है। इस संस्कार के बाद बालक गुरुकुल में अर्थात् गुरु के घर में उसके परिवार का अंग बन कर ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या–अध्ययन करता था।

12. **वेदारम्भ संस्कार**—उपनयन संस्कार के एक वर्ष बाद गायत्री मंत्र की दीक्षा के साथ वेदों का पठन-पाठन शुरू करने को 'वेदारम्भ संस्कार' कहा है।

13. **केशान्त अथवा गोदान संस्कार**—यह संस्कार ब्रह्मचारी के 16 वर्ष की अवस्था में सम्पन्न किया जाता था। इसमें ब्रह्मचारी के केशों को सर्वप्रथम काटा जाता था। इस अवसर पर आचार्य को गौ का दान किया जाता था।

14. **समावर्तन संस्कार**—इसे दीक्षान्त संस्कार भी कहा जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर यह संस्कार होता था। विद्यार्थी आचार्य को दक्षिणा देकर उनका आशीर्वाद ग्रहण कर, आज्ञा लेकर घर लौट जाता था।

15. **विवाह संस्कार**—यह व्यक्ति के गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का सूचक था। इस संस्कार के द्वारा वर-वधु दोनों आजीवन परस्पर एक सूत्र में बन्धे रहने की प्रतिज्ञा करते हैं। इसमें यज्ञ-वेदी की अग्नि के सामने वर को पिता द्वारा कन्या(वधु) का दान किया जाता है।

16. **अन्त्येष्टि संस्कार**—यह जीवन का अन्तिम संस्कार है जो मृत्यु उपरान्त सम्पन्न किया जाता है। इसमें शव को वैदिक मंत्रों के साथ अग्नि को सौंप दिया जाता है। दाह संस्कार के दस दिन तक मृतक के लिए तर्पण एवं पिण्ड दान किया जाता है।

**निष्कर्ष**—वर्तमान काल में, अधिकांश लोग इन संस्कारों में अपनी आस्था खो बैठे हैं। अब केवल उपनयन, विवाह तथा अन्त्येष्टि संस्कारों का प्रचलन रह गया है। कुछ संस्कारों का रूप भी अब काफी बदल गया है।

## V आश्रम व्यवस्था

"आश्रम—प्रथा के द्वारा शान्तिमय उपवनों में हमारे दर्शन –शास्त्र की उन्नति हुई तथा आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र एव साहित्य की शाखाओं को जीवन मिला। यहीं पर हमारी सच्ची प्राचीन सभ्यता विद्यमान थी और इन सब बातों का श्रेय हमारे प्राचीन आर्यों को है।"

—डॉ. जदुनाथ सरकार

आश्रम व्यवस्था को कब किसने जन्म दिया, कहना कठिन है। किन्तु इस बात पर सब एक मत हैं कि यह व्यवस्था निश्चित रूप से वैदिककालीन सांस्कृतिक धरोहर है। इस व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में विभाजित किया गया है।

**चार पुरुषार्थों की धारणा**—भारतीय जीवन में चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्रतिष्ठा हुई थी और इन पुरुषार्थों की सफल साधना ही मानव जीवन का लक्ष्य माना गया था। इनमें मोक्ष अन्तिम लक्ष्य है और अन्य तीन पुरु:

पार्थों में धर्म का प्रधान स्थान है। परन्तु, अर्थ और काम की उपेक्षा नहीं की गई है। भारतीय आचार्य धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से पालन करने का निर्देश करते हैं। महाभारत का कथन है—'जीवन में अर्थ और काम का इस प्रकार सेवन करो कि धर्म का उल्लंघन न हो।' सारांश में, इन चारों पुरुषार्थों की साधना हेतु हमारे ऋषियों ने मानव जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया था।

आश्रम व्यवस्था—आश्रम शब्द संस्कृत के श्रम धातु में निकला है जिसका अर्थ है 'परिश्रम या प्रयास करना।' आश्रम व्यवस्था मुख्य रूप से एक मानसिक नैतिक व्यवस्था है जिनमें आयु के विभिन्न स्तरों में पृथक-पृथक कर्तव्यों का निर्वाह आवश्यक माना गया है। आयु के अन्तर के साथ व्यक्ति की रुचियों, मनोवृत्तियों और कार्य क्षमताओं में भी परिवर्तन स्वाभाविक है। अतः व्यक्तित्व का समुचित विकास तभी सम्भव है जब इन परिवर्तनशील गुणों के बीच आदर्श सन्तुलन रखा जाए। आश्रम व्यवस्था में इसी सन्तुलन के निर्वाह का दृष्टिकोण निहित है।

आश्रम का शाब्दिक अर्थ विश्राम स्थल या एक पड़ाव है। जिस प्रकार भारतीय समाज का वर्गीकरण चार भागों अथवा चार वर्णों में किया गया था, उसी तरह मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन विस्तार को भी चार भागों में विभाजित किया गया था—ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। मनुष्य की तत्कालीन आयु 100 वर्ष मानते हुए, प्रत्येक आश्रम के लिए 25 वर्ष रखे गए थे।

1. ब्रह्मचर्याश्रम—यह मनुष्य जीवन का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। इसका एक मात्र उद्देश्य पूर्ण संयम और साधना के साथ अध्ययन द्वारा जीवन का निर्माण करना होता है। मनु-स्मृति आदि धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आयु के प्रथम 25 वर्षों में ब्रह्मचर्य-आश्रम के नियमों का पालन करते हुए गुरु के पास जाकर विद्याभ्यास करना चाहिए। इसे ब्रह्मचर्य कहने का कारण कदाचित् यह था कि इसमें ब्रह्म अर्थात् वेद के अध्ययन के लिए विद्यार्थी या ब्रह्मचारी गुरु के संरक्षण में रहता हुआ अपना जीवन बड़े संयम से बिताता था। यह आश्रम इस विश्वास पर आधारित था कि ब्रह्मचर्य ही एक ऐसी साधना है जो मनुष्य को दैहिक दैविक और भौतिक उन्नति के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान करती है। ब्रह्मचर्य आश्रम के सभी दायित्वों को पूरा कर लेने के बाद ब्रह्मचारी गुरु को दक्षिणा चुकाकर उसकी आज्ञा से अपने घर लौट जाते थे। प्राचीनकाल में "ये आश्रम ज्ञान के केन्द्र (विश्वविद्यालय) हो गये और प्राचीन हिन्दू संस्कृति के स्रोत बन गये।"

2. गृहस्थाश्रम—यह जीवन का वह भाग है जिसका प्रारम्भ विवाह-संस्कार से होकर वानप्रस्थ आश्रम के पूर्व तक बना रहता है। यह दूसरा आश्रम जिसमें 25 वर्ष तक ब्रह्मचारी रहने के बाद मनुष्य प्रविष्ट होता है। गृहस्थाश्रम में, जीवन के अगले 25 वर्ष अर्थात् 50 वर्ष की अवस्था तक, मनुष्य विवाह करके विवाहितजीवन बिताये। धन उपार्जन करे तथा संतान उत्पन्न कर उनका लालन-पोषण करे। जीवन

की इस अवस्था में व्यक्ति गृहस्थ रहते हुए भी संयम, नैतिकता, सामाजिक मर्यादा, व्यक्तिगत और सामाजिक उत्तरदायित्व आदि के पाठ पढ़ता है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "गृहस्थ सारे समाज की आधार-शिला है।"

शास्त्रकारों के अनुसार, गृहस्थाश्रम की सफलता ही वास्तव में जीवन की सफलता है। इसी आश्रम में जीवन का पूर्ण विकास होता है। वशिष्ठ सूत्र में लिखा है कि जैसे छोटी-वड़ी नदियां समुद्र में जाकर स्थित होती हैं, वैसे ही तीनों आश्रम गृहस्थ में स्थिति प्राप्त करते हैं, उसी की सहायता से जीवित हैं (6/90)। अन्य आश्रमों का भरण-पोषण करने से यह ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ आश्रम है। इसके अतिरिक्त, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमों में केवल धर्म और मोक्ष केवल इन दो पुरुषार्थों की साधना हो सकती है, जबकि गृहस्थाश्रम में धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों की साधना सम्भव है।

3. **वानप्रस्थ-आश्रम**—गृहस्थाश्रम के दायित्वों को पूर्ण कर व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है। शास्त्रकारों के अनुसार इस आश्रम में सपत्नीक अथवा बिना पत्नी के प्रवेश किया जा सकता है। वानप्रस्थाश्रम में पत्नी के साथ संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए व्यक्ति धीरे-धीरे सम्पूर्ण परिवार और उसका मोह त्याग कर संन्यास-आश्रम के लिए अपने आपको तैयार करता है। प्राचीनकाल में जो व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते थे उनका जीवन त्याग और तपस्या का होता था। ग्राम अथवा नगर के बाहर कुटी बनाकर वह निवास करता एवं कन्द-मूल खाकर जीवन-निर्वाह करता था। इसमें वेदों का अध्ययन तथा यज्ञ करने-कराने का विधान था। शिष्य उनसे निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते थे। इस तरह, वानप्रस्थी के निःस्वार्थ भाव से किए गए कार्य सामाजिक अभ्युदय के कारण बनते थे।

4. **संन्यासाश्रम**—यह जीवन का अंतिम आश्रम है। उपर्युक्त तीनों आश्रमों में व्यक्ति तीनों ऋणों—देव ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण को चुका देता था, अतः इस चौथे आश्रम में वह सब कर्मों का परित्याग कर मोक्ष प्राप्ति की ओर उन्मुख होता था। विषय सुख से विमुख संन्यासी ब्रह्म में लीन होकर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास करता था। गहन चिन्तन द्वारा वह आत्मा और परमात्मा के गूढ़ रहस्यों को खोजने में लगा रहता था। इस अवस्था में सभी सांसारिक बंधन टूट जाते थे और व्यक्ति भिक्षु या परिव्राजक के रूप में दण्ड-कमण्डल धारण करके विचरण करता था।

## VI. वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति

वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन की एक विशेषता है। प्राचीनकाल से ही भारतीय सामाजिक संगठन वर्ण–श्रम–व्यवस्था पर आधारित रहा है।

**अर्थ एवं उद्देश्य**—'वर्ण' के शाब्दिक अर्थ तीन निकलते हैं—अक्षर, रंग तथा वृत्ति के अनुरूप। परन्तु, वर्ण-व्यवस्था को शाब्दिक अर्थ के आधार पर नहीं

समझा जा सकता। इसे एक लाक्षणिक शब्द माना जा सकता है जो गुण और कर्म के माध्यम से सामाजिक स्तरीकरण को दृढ़ता प्रदान करता है। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक वर्ण के लिए उसका सामाजिक कर्त्तव्य या धर्म निर्धारित था, जिसका अच्छी तरह से पालन सामाजिक हित की दृष्टि से बहुत जरूरी था। प्राचीन भारतीय समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में वर्गीकृत था और इस वर्गीकरण का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक संगठन, सुव्यवस्था तथा समद्धि को स्थिर रखना था। इसका एक अन्य प्रमुख उद्देश्य समाज में अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा की परिस्थितियाँ उत्पन्न न होने देना भी था। धार्मिक कृत्य ब्राह्मणों को, राजनीतिक और सैनिक कार्य क्षत्रियों को, व्यापारिक एवं आर्थिक कार्य वैश्यों को सौंपकर समाज में सन्तुलन स्थापित किया गया था। शूद्रों का परम कर्तव्य था इन तीनों वर्णों की सेवा करना।

**वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति**—वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के बारे में कई विचार-धाराएँ हैं। एकमत तो यह है कि भारत में आने से पूर्व ही आर्यों में वर्ण-व्यवस्था का जन्म हो चुका था। परन्तु, दूसरा मत यह है कि आर्यों के समाज में शुरू में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। उनके भारत में आने पर ही अनार्य जातियों के सम्पर्क में आने से उनमें वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ। आर्यों में वर्ण-व्यवस्था का जन्म ऋग्वेद काल में हुआ या उसके बाद में हुआ, इस बात पर भी विद्वानों में मतभेद हैं वैसे, अधिकांश विद्वानों के मतानुसार वर्ण व्यवस्था का विचार आर्यों के भारत में आगमन के उपरान्त ही उत्पन्न हुआ।

**विराट पुरुष के अंगों से वर्णों की उत्पत्ति : दैवी सिद्धांत**—ऋग्वेद के प्रारम्भिक भाग में वर्ण अथवा जातियों का कोई उल्लेख नहीं है। समाज-व्यवस्था का जिस रूप में उल्लेख मिलता है, वह इतना ही है कि उनका एक समाज था जो भाई-चारे के सिद्धांत पर आधारित था तथा जिसका नेतृत्व पुरोहित एवं राजा के हाथों में निहित था। फिर भी कई कारणों से जनता में भिन्न-भिन्न वर्ग, भिन्न-भिन्न श्रेणियां बन रही थीं और भविष्य के सामाजिक संगठन का अंकुर जम रहा था।

परन्तु, ऋग्वेद के अंतिम भाग के लिखे गये पुरुष-सूक्त में चार वर्णों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में आने वाले पुरुष सूक्त में कहा गया है—

"ब्राह्मणोऽस्य मुख मसीद् बाहु राजन्य कृतः
उसतदस्य च द्वैश्यः पदभ्याम शूद्रोऽजायत।"

इस तरह, इन वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा से बतलायी गई है जो इस संसार का रचयिता है। पुरुष सूक्त के अनुसार, "विराट पुरुष अथवा सृष्टा के मुख से ब्राह्मण, उसकी भुजाओं से राजन्य (क्षत्रिय), जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।" इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि चारों जातियों का सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था से उतना ही गहरा है जितना शरीर के चार मुख्य भागों का

शरीर के साथ। और इन चारों ही विभागों को इस समाज को जीवित रखने के लिए अपनी-अपनी भूमिका निभानी है।

यहाँ एक बात अवश्य ध्यान देने की है कि ऋग्वेद में इस बात का उल्लेख कहीं नहीं है कि इन चार वर्णों में मुख्य कौन है और कौन नहीं। ऋग्वेद ने तो चारों ही वर्णों को बराबर महत्त्व दिया है। शरीर के लिए जिस प्रकार चारों भाग अनिवार्य तथा अविच्छिन्न हैं, उसी प्रकार समाज के लिए चारों वर्ण। अतः श्रेष्ठता एवं निम्नता की बात स्वार्थ से वशीभूत होकर, बाद में जोड़ी गयी प्रतीत होती है। इसलिए, यह प्रश्न विचारणीय है कि वर्ण-व्यवस्था के अनुसार, ब्राह्मणों को समाज में इतना महत्व क्यों दिया गया और शूद्रों को इतना निम्न स्थान क्यों दिया गया ?

अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि समाज को ही एक विराट पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस आधार पर वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति पूर्व-वैदिक काल में ही हो चुकी थी। परन्तु, मैक्समूलर, कोलब्रुक, मंगलदेव शास्त्री आदि विद्वान पुरुष सूक्त को वैदिक कालीन नहीं मानते। कदाचित् उसे बाद में जाकर ऋग्वेद में जोड़ दिया गया है। ऋग्वेद में और कहीं भी वर्ण-व्यवस्था अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र शब्दों का उल्लेख नहीं मिलता इसलिए पुरुष सूक्त के आधार पर ही यह नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेद काल में ही आर्यों में वर्ण-व्यवस्था का पूरी तरह विकास हो चुका था।

(2) **वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का कर्म-विभाजन का सिद्धांत**—कर्म के अनुसार जातियों की उत्पत्ति की बात महाभारत में स्वीकार की गयी है। ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण सारा संसार ही ब्राह्मण था, अस्तु, बाद में जाकर कर्मों के अनुसार वर्णों का विभाजन धर्म-शास्त्रों द्वारा किया गया। 'मनुस्मृति' में मनु ने कहा है कि "ब्राह्मण का कर्तव्य अध्ययन तथा अध्यापन, यज्ञ करना और करवाना दान लेना तथा दान देना था। क्षत्रिय का कर्त्तव्य जन-रक्षा, यज्ञ करना तथा अध्ययन करना था। वैश्य भी अध्ययन तथा यज्ञ करते थे, परन्तु उनका मुख्य कर्तव्य पशुपालन कृषि एवं व्यापार था। शूद्र का कर्तव्य केवल इन तीनों उच्चतर श्रेणियों की सेवा करना था।"

अतः कर्म-विभाजन के सिद्धांत पर यह कहा जा सकता है कि परिस्थितियों के अनुरूप जैसे-जैसे आर्यों के समाज और संस्कृति का विस्तार हुआ, उनके समाज में चातुवर्ण्य विभाजन का विकास होता गया। यह लोगों के अन्तर्निहित गुण अथवा स्वभाव एवं उनके द्वारा किये जानेवाले विभिन्न प्रकार के कर्मों केआधार पर किया गया। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वर्ण-व्यवस्था अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जन्म पर आधारित नहीं थी। परन्तु बाद में जाकर वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित न होकर, जन्म पर आधारित हो गई। प्रारम्भ में कर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था होने से मनुष्य किसी वर्ण(जाति विशेष) से बंधा हुआ नहीं था। वह इच्छानुसार

अपना वर्ण (कर्म में परिवर्तन कर) बदल सकता था। परंतु धीरे-धीरे समय गुजरने के साथ एक जैसे काम करने वाले लोगों के खान-पान, विवाह-सम्बन्ध आपस में होने लगे तथा उनके सामान्य सामाजिक सम्बन्ध भी अन्य कर्म करने वाले लोगों से टूटने लगे। और आगे चलकर धर्मशास्त्रों द्वारा एक-दूसरे वर्ण के मध्य सम्बन्धों पर कठोर अंकुश लगा दिये गये। परिणामस्वरूप, वर्ण-व्यवस्था अब कर्म पर न रहकर, जन्म पर आधारित हो गई।

### वर्ण-व्यवस्था का मूल्यांकन

**गुण अथवा लाभ**—(1) वर्ण-व्यवस्था श्रम-विभाजन के महत्त्व को प्रस्थापित करती है। (2) यह सामाजिक संगठन और सुव्यवस्था की शिक्षा देती है। (3) यह अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को रोकती है। (4) इसमें समाज कल्याण की भावना निहित है। प्रो० पी० वी० काणे के अनुसार, "वर्ण का विचार मुख्य रूप से मनुष्य की नैतिक और बौद्धिक योग्यताओं पर बल देता था। इसमें अपने कर्तव्यों के पालन और समाज की सेवा के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों पर जन्म-मूलक अधिकारों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है।" अन्त में, प्रो० **मैनयट विल्सन** के शब्दों में कहा जा सकता है कि वर्ण–व्यवस्था मनुष्य को स्वार्थ-त्याग का पाठ पढ़ाती है, दुराचार से रोकती है, दरिद्रता को दूर करती है तथा उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है।

**दोष या हानियाँ**—(1) वर्ण ने जब अपना लचीलापन खो दिया तो वर्णवाद के कारण हिन्दू जाति अगणित जातियों में विभाजित हो गई। (2) इसने सामाजिक एकता का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। (3) इससे समाज में संकुचित विचारधारा का प्रसार हुआ। (4) इससे उत्पन्न कुप्रथाएँ भारतीय समाज के पुनरुत्थान में बड़ी बाधाएँ हैं। अंत में, डॉ० **वाडिया** के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "वर्ण-व्यवस्था का सबसे बुरा परिणाम यह है कि भारत अस्पृश्यता और साम्प्रदायिकता का घर हो गया जिसके कारण हमारे इतिहास में भाइयों ने भाइयों के खून से होली खेली।"

**निष्कर्ष**—वर्ण-व्यवस्था अब एक रूढ़िवादी परम्परा बन कर रह गई है जिसका कोई भविष्य नहीं है। वर्तमान युग में आज की समाज रचना तो वर्णहीन, जातिविहीन एवं वर्गहीन व्यवस्था की मांग कर रहा है।

## VII. भारत में जाति-प्रथा: अर्थ एवं विशेषताएँ

"भारत जाति व्यवस्था का आगार है, और भारत में शायद ही कोई सामाजिक समूह ऐसा हो, जो इसके प्रभाव से अपने को मुक्त रख सका हो।"

—डॉ० आर० एन० मुकर्जी

जाति-व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन की एक महत्वपूर्ण आधारशिला है। हमारा खान-पान, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, त्यौहार एवं पारस्परिक सम्बन्ध आदि सभी कुछ वर्ण एवं जाति-व्यवस्था पर अवलम्बित है।

**परिभाषा**—अंग्रेजी का Caste शब्द पुर्तगाली शब्द Casta से बना है जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म या भेद होता है। इस अर्थ में जाति-प्रथा प्रजातीय या जन्मगत भेद के आधार पर एक व्यवस्था है। जाति को विविध प्रकार से परिभाषित किया गया है, किन्तु कोई भी एक या दो परिभाषाएँ भारत की जाति-प्रथा को स्पष्ट नहीं कर सकती। वैसे, आधार के लिए, कुछ परिभाषाओं से परिचित होना उपयुक्त होगा।

सर हर्बर्ट रिजले के अनुसार, "जाति, परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन है जिनका कि एक सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पूर्वज, मानव या देवता से एक सामान्य वंश परम्परा का दावा करते हैं, एक ही परम्परात्मक व्यवसाय को करने पर बल देते हैं और सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते हैं जो अपना ऐसा मत व्यक्त करने के योग्य हैं।" डॉ. आर० एन० मुकर्जी ने 'जाति' को परिभाषित करते हुए लिखा है, "जाति जन्म पर आधारित सामाजिक संस्कार और वर्ग-विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था है जो आवागमन, खान-पान, विवाह, व्यवसाय और सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में अनेक या कुछ प्रतिबन्धों को अपने सदस्यों पर लागू करती है।" सारांश में, जाति एक गतिशील व्यवस्था है जिसमें सभी सदस्य विवाह, भोजन तथा सामाजिक क्षेत्रों में एक-से सम्बन्ध रखते हैं।

**जाति-प्रथा की विशेषताएँ**—(i) जाति की सदस्यता जन्म पर आधारित होती है। अर्थात् जिस जाति के सदस्य के घर में जो जन्म लेगा, उसकी जाति भी वही होगी। (2) एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह कर सकते हैं। गैर-जाति में विवाह करने पर उसे जाति से बहिष्कृतकर दिया जाता था। (3) प्राचीन एवं मध्य युग में, प्रत्येक जाति का प्रायः पैतृक व्यवसाय होता था। (4) जाति में खान-पान पर कठोर नियन्त्रण पाया जाता था, ऊँची जाति के व्यक्ति नीची जाति के व्यक्तियों का छूआ भोजन नहीं करते थे। (5) जाति-व्यवस्था में एक तरह का सामाजिक स्तर होता है, कुछ जातियां उच्च मानी जाती हैं, तो कुछ नीच। (6) प्रत्येक जाति में अनेक उप-जातियां होती हैं।

**जातिप्रथा का जन्म और विकास**—जाति-प्रथा की उत्पत्ति कब व किस तरह हुई? इसका निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। प्रायः यह समझा जाता है कि भारत में आर्यो के आने के बाद वर्ण-व्यवस्था आरम्भ हुई-कार्यो के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र नामक वर्ण बने। कालान्तर में वर्ण का स्थान जाति ने ले लिया और कार्यों के अनुसार अनेक उप-जातियां बन गई जिनके अलग-अलग नियम निर्धारित हुए। कालान्तर में जातियों का आधार जन्म एवं वंश-परम्परा बन गया।

हिन्दुओं की जाति-प्रथा का वर्तमान रूप उत्तर वैदिक काल और महाकाव्यों के युग में विकसित हुआ है। अतएव यह 2000 वर्ष से भी अधिक प्राचीनतम है। कालान्तर में यह प्रथा अधिक जटिल हो गई और इसने हिन्दू समाज को तीन हजार से अधिक जातियों और उप-जातियों में विभक्त कर दिया। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० वी० ए० स्मिथ के मतानुसार, जाति उन परिवारों का एक समूह है जो धार्मिक क्रिया-विधि की विशुद्धता को, विशेषकर खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध की पवित्रता के विशिष्ट नियमों को पालने से परस्पर संगठित है। परन्तु, वर्तमानकाल में यह परिभाषा अनुपयुक्त है; क्योंकि अब खान-पान सम्बन्धी कठोर और अपरिवर्तनशील नियम नहीं रहे। आज तो जाति-प्रथा बहुत ढीली और नाम मात्र की है।

**जाति-प्रथा की उत्पत्ति**—किस रूप में और कब इस जाति-प्रथा का प्रारम्भ हुआ, निश्चित रूप से कहना दुष्कर है। निस्सन्देह, वर्ण-व्यवस्था से जाति-प्रथा को प्रोत्साहन मिला होगा। जाति प्रथा के उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्त हैं जिनमें से निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—(1) परम्परागत सिद्धान्त (2) धार्मिक सिद्धान्त (3) व्यावसायिक सिद्धान्त, (4) राजनीतिक सिद्धान्त, (5) आर्थिक सिद्धान्त, (6) भौगोलिक सिद्धान्त। इस तरह जाति-प्रथा की उत्पत्ति के कई सिद्धांत प्रतिपादित किये जाते रहे हैं। परन्तु किसी एक निश्चितकाल या समय में जाति-प्रथा की उत्पत्ति हुई है, यह भी कल्पना करना उचित न होगा। विभिन्न मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था का विकास क्रमशः हुआ है।

**जाति-प्रथा का विकास**—जाति-प्रथा एक सामाजिक संस्था है और यह सर्वमान्य तथ्य है कि संस्था की उत्पत्ति नहीं वल्कि विकास होता है। इसी कारण जाति-प्रथा की भी उत्पत्ति नहीं विकास ही हुआ है और इस विकास में कारकों का योग रहा है जैसा कि प्रमाण मिलता है कि प्रारम्भ में हिन्दू समाज में वर्ण-व्यवस्था थी जिसमें काफी उदारता व खुलापन भी था। वर्ण-व्यवस्था ने समाज को विभिन्न समूहों में कालान्तर में बाँट दिया था, और इन समूहों में ऊँच-नीच का संस्तरण भी था। इस दृष्टिकोण से वर्ण-व्यवस्था के साथ जब विभिन्न प्रजातियों और संस्कृतियों का एक ओर मिलन और दूसरी तरफ संघर्ष हुआ तथा रक्त की शुद्धता और धार्मिक पवित्रता के विचारों एवं सामाजिक विभाजन को दृढ़तापूर्वक लागू किया गया, तो उसी वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप दिन-प्रति-दिन बदलता रहा और काफी समय पश्चात् ही भारतीय जाति-प्रथा के सभी लक्षण स्पष्ट हो सके। इस तरह जाति-प्रथा का विकास हुआ है, जन्म या उत्पत्ति नहीं। अतः जी० एन० हट्टन के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "भारतीय जाति-प्रथा अन्य कहीं भी इस प्रकार मिश्रित रूप में न पाये जाने वाले अनेक भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक कारकों की अन्तःक्रियाओं का स्वाभाविक परिणाम है।"

रक्त और वंश की भावना, कार्य की दार्शनिकता, राजनीतिक प्रभुता का आधारभूत विचार और श्रम-विभाजन की प्रवृत्ति, सभी ने जाति-प्रथा के निर्माण में अपना-अपना योग दिया है; फिर भी चार वर्णों में मूलतः आरम्भ होने वाली जाति-प्रथा अधिक जटिल हो गयी। कालान्तर में ये चार श्रेणियाँ छोटी-छोटी जातियों और उपजातियों में विभाजित होती ही गयीं। आज ये जातियाँ, धन्धों, धार्मिक विश्वासों या दार्शनिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित नहीं हैं, परन्तु केवल जन्म से ही मनुष्य की जाति या उपजाति निर्दिष्ट हो जाती है। जातियों की संख्या की वृद्धि के साथ-साथ इस प्रथा की कठोरता और अपरिवर्तनशीलता भी विकसित हो गयी।

**जाति व्यवस्था क्यों कठोर हो गई ?**—गुप्त युग तक जाति व्यवस्था में गतिशीलता और उदार दृष्टिकोण की प्रधानता रही। परन्तु, पूर्व-मध्यकाल (700 ई० से 1000 ई०) में जाति-व्यवस्था वर्तमान जात-पांत के रूप में वदल गई। पुरानी स्मृतियों पर भाष्य लिखे गये। जाति के वन्धन कड़े कर दिये गये और खान-पान, व्यवसाय तथा विवाह के मामलों में अनेक प्रकार के कठोर प्रतिवन्ध लगा दिये गये। अनुलोम विवाह का भी निषेध कर दिया गया। विभिन्न वर्णों के भीतर भी अनेक जातियाँ तथा उपजातियाँ वनती गई। जातियों ने रूढ़ता धारण करली। उनका लचीलापन समाप्त हो गया। जाति अव व्यवसाय के आधार पर न होकर, जन्म से होने लगी। व्यवसाय वदल सकता था; पर अपनी जाति नहीं। परन्तु, वर्तमान में, पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा ने जाति-वन्धन ढीले कर दिये हैं।

## VIII. जाति-प्रथा के गुण एवं दोष

जाति-व्यवस्था में, संसार की अन्य वस्तुओं की भांति, गुण और दोष दोनों देखने को मिलते हैं।

### जाति-प्रथा के गुण अथवा लाभ

**1. समाज में दृढ़ता की भावना**—जाति-प्रथा से समाज के संगठन में मज-वूती वनी रही। व्यक्ति अपने आपको जाति का सदस्य मानता रहा और जाति समाज की इकाई बनी रही।

**2. व्यवस्थित समाज की रचना**—जाति-विभाजन से प्रत्येक व्यक्ति को अपने समुदाय और अपने कार्य का शुरू में ही ज्ञान हो गया और उसे यह भी मालूम हो गया कि उसे जीवन-पर्यन्त इस निश्चित कार्य को करना है, अतः उसके जीवन में एक प्रकार की व्यवस्था आरम्भ से अन्त तक वनी रही और समाज को इस बात की निश्चिन्तता हुई कि जीनव का कोई भी कार्य ऐसा न वचा जिसे कोई न करता हो।

**3. भारतीय संस्कृति की रक्षा**—हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारे आदर्श प्राचीन युग की ही देन हैं, इसका कारण यही रहा कि जातियों ने संस्कृति

की रक्षा का भार अपने कन्धों पर उठाये रखा । प्रत्येक जाति के निश्चित रीति-रिवाज, धार्मिक क्रियाएं, जीवन की विशेष पद्धतियां, भोजन तथा वेष-भूषा निर्धारित सी हो गयीं । इस प्रकार संस्कृति एवं समाज अबाध गति से आगे बढ़ते रहे ।

4. **कार्यकुशलता, प्रशिक्षण एवं विकास**--श्रम-विभाजन के आधार पर निर्धारित होने के कारण इस प्रथा ने आर्थिक शक्ति और धन्धों तथा कार्यों की दक्षता को प्रोत्साहित किया। जब जन्म से जाति निर्धारित होने लगी, तब इस प्रथा ने एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को व्यावसायिक शिक्षा व कुशलता प्रदान करके श्रम का परिरक्षण किया । भारतीय उद्योगों ने प्राचीन काल में जितनी लोकप्रियता प्राप्त की वह सब इसी व्यवस्था का परिणाम है ।

5. **जातिगत एकता**--जाति-व्यवस्था के कारण उस समुदाय विशेष में एकता बनी रही और वर्ग-विशेष के व्यक्ति एक-दूसरे के सुख-दुःख में साथ देते रहे। उनमें बन्धुत्व की भावना को प्रेरणा दी और एक जाति के सदस्यों में अधिक एकता, दृढ़ता और संगठन उत्पन्न किया । संकट और बेकारी के समय एक ही जाति के सदस्य सदैव अपनी जाति के अन्य बन्धुओं की सहायता और सहयोग पर निर्भर रहते थे । इस प्रकार स्वार्थ-त्याग, प्रेम और लोकसेवा के नागरिक गुणों को प्रोत्साहित करने में यह प्रथा अधिक उपयोगी सिद्ध हुई ।

6. **व्यक्तिगत जीवन पर नियंत्रण**--जाति की पंचायतों और उनके नियमों ने व्यक्ति को संगठित संस्था के अधिनस्थ कर दिया, दुर्गुणों का विरोध किया, जीवन को संयमित किया और दरिद्रता का निवारण किया ।

7. **रक्त की पवित्रता**--जाति-व्यवस्था रक्त की पवित्रता बनाये रखने में भी सार्थक सिद्ध हुई । सजातीय विवाह होने से ऐसी पवित्रता एवं शुद्धता बना रहना सम्भव हो सका । इसका प्रभाव यह हुआ कि संस्कार हीन बालकों का जन्म नहीं हो सका जिससे समाज अनेक दोषों से बचा रहा । अतएव, जाति-प्रथा लाभप्रद सामाजिक संस्था प्रमाणित हुई है ।

## जाति-प्रथा के दोष अथवा हानियां

जाति-प्रथा का दूसरा पक्ष भी है। उपयोगिता अनुपयोगिता के साथ जुड़ी हुई है और यही कारण है कि रूढ़िगतजाति-व्यवस्था ने समाज की लाभ के स्थान पर हानि अधिक की है और अपने अनेक दोषों के कारण वर्तमान-काल में अनुपयोगी एवं हानिकारक होती जा रही है ।

1. **ऊंच-नीच की भावना: एकता में बाधक**—जाति-व्यवस्था ने समाज में ऊँच-नीच की भावना को जन्म दिया है । इस कारण समाज का प्रत्येक वर्ग एक दूसरे को हीन-दृष्टि से देखने लगा । शूद्रों की स्थिति इतनी दयनीय हो गई कि उससे मुक्ति पाने के लिए अनेकों ने धर्म परिवर्तन कर बौद्ध, इस्लाम या इसाई धर्म को अंगीकार करना श्रेष्ठ समझा ।

**2. राष्ट्रीय भावना का अभाव**—जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को सैंकड़ों वंश परम्परागत जाति और उपजातियों में विभाजित कर दिया और इस प्रकार वर्ग-अभिमान और पृथकत्त्व की भावना प्रज्वलित की, दृष्टिकोण संकीर्ण किया और समाज के अनेक विभागों के मध्य परस्पर गहरी खाइयां खोद दीं। इस रूप से इसने राष्ट्रीय और सामूहिक चेतना का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। इस प्रकार यह प्रथा एकता के तत्व की अपेक्षा विभिन्नीकरण और विश्लेषण का तत्व प्रमाणित हुई।

**3. स्पर्धा, ईर्ष्या और द्वेष की भावना का जन्म**–विभिन्न जातियों के मध्य स्पर्धा आरम्भ हो गयी और उसके कारण वैमनस्य स्थापित हो गया। वे एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करने लगीं, इससे ईर्ष्या और द्वेष और भड़क उठा। अतः जो शक्ति समाज के विकास में लगनी चाहिए थी, वह उस कार्य में न लगकर समाज विरोधी कार्यों में लग गई। इससे समाज और राष्ट्र को वहुत हानि हुई।

**4. कार्यक्षमता में गिरावट**—वरावर एक ही जाति में निश्चित व्यवसाय तथा वैवाहिक सम्वन्धों के कारण उस जाति के लोगों की कार्य करने की क्षमता में कमी आती चली गई। उनमें विकास की क्षमता कम होती चली गई। यह मत जीव-शास्त्र के अनुसार सही माना गया है।

**5. आर्थिक और बौद्धिक प्रगति रुक गई**—सामाजिक सुधार के पथ में जाति-प्रथा सदैव रोड़े अटकाती रही, क्योंकि यह आर्थिक और बौद्धिक प्रगति के सुअवसर जनसाधारण के एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रखती रही। सुयोग्य और अनुभवी व्यक्ति जाति-प्रथा की कठोरता के कारण अपने लिए उचित स्थान प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रथा की व्यावसायिक अपरिवर्तनशीलता ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा का दमन करती है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुचलती है और मनुष्य की प्रेरणा-शक्ति पर मृत्यु का वोझ है। चूंकि, मानव-शक्ति और प्रतिभा के अधिकांश भाग का समाज द्वारा सदुपयोग नहीं हो सका, इससे भारतीय सभ्यता और संस्कृति को भारी आघात पहुंचा।

**6. शोषण की समाप्ति में वाधक**—जाति-प्रथा आर्थिक दृष्टि से निर्धन व दुर्बल और सामाजिक दृष्टि से हीन-वर्गों के शोषण में सहायक है और विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों की रक्षक है। इस प्रकार यह आर्थिक असन्तोष और सामाजिक ईर्ष्या-द्वेष को प्रोत्साहन देती है।

**7. सामाजिक अपव्यय**—जातियों की अनावश्यक वृद्धि और इसके वाद की अपरिवर्तनशीलता तथा प्रत्येक जाति के कठोर सामाजिक नियम और प्रतिवन्धों के कारण समय, धन और शक्ति का अपरिमित व्यय हो रहा है। दिखावटी कार्यों में भी अपव्यय होता है।

**8. अन्ध-विश्वास तथा रुढ़िवादिता में वृद्धि**—जाति के अनेकों नियमों-उपनियमों, धार्मिक कर्मकाण्डों, रीति-रिवाजों तथा अन्ध-विश्वासों के वरावर वने

रहने से लोगों में प्रगति करने की चाह नहीं रहती। मनुष्य का जीवन कुंठित, संकुचित और पूर्व-निश्चित सीमाओं में बंध जाता है।

संक्षेप में, "जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज की घनिष्टता को विनष्ट कर दिया, व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कुचल दिया, अत्याचार का साधन प्रस्तुत किया एवं राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में विभिन्नीकरण की शक्तियों को प्रोत्साहित किया। हिन्दुओं के गले में यह लटकता हुआ मील का बड़ा भारी पत्थर है जो इन्हें राजनीतिक और सामाजिक अधःपतन की ओर तीव्र गति से घसीटे जा रहा है।"

## वर्तमानकाल में जाति-प्रथा में परिवर्तन के कारण

पिछले 150 वर्षों से भारत में पश्चिमीकरण की जो प्रक्रिया चल रही है, औद्योगीकरण तथा नगरीकरण का जिस रूप में विकास हुआ है, पाश्चात्य और वैज्ञानिक शिक्षा का जो प्रसार हुआ है, आजाद भारत के संविधान में समानता और धर्म-निरपेक्षता के जो प्रावधान रखे गये हैं, उन सबसे तथा अन्य कारणों से जाति-प्रथा के बन्धन वस्तुतः उतने प्रभावशाली नहीं रहे, जितने पहिले थे। जाति-प्रथा को निर्बल और विघटित करने वाले तत्त्व मुख्यतः इस प्रकार हैं।

1. **पाश्चात्य शिक्षा**—धर्मनिरपेक्ष और वैज्ञानिक पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के परिणामस्वरूप भारत में समानता, मित्रता और स्वतंत्रता की विचारधाराएँ पनपीं जिसके फलस्वरूप जाति-प्रथा दिन-प्रति-दिन निर्बल होती गई।

2. **औद्योगिक उन्नति**—वर्तमानकाल में कारखानों और कार्यालयों में सभी जाति के लोगों को साथ मिलकर काम करना होता है। इससे एक ओर छूआछूत की भावना तथा दूसरी ओर व्यवसाय-पेशा सम्बन्धी प्रतिबन्ध दिन-प्रति-दिन दूर हटते जा रहे हैं।

3. **यातायात साधनों की उन्नति**—मोटर, रेल आदि में सब जाति के लोगों के एक-साथ यात्रा करने से भी खाने-पीने के बन्धनों और छूआ-छूत के विचारों को शिथिल बनाने में सहायता मिली।

4. **राजकीय कानून**—जाति-प्रथा की कट्टरता तथा छूआ-छूत के रोग को समाप्त करने के उद्देश्य से 1954 में **'विशेष विवाह अधिनियम'** तथा 1955 में **'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम'** पारित व लागू किये गये। भारतीय संविधान में आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में अछूतों को भी अन्य भारतीयों के समान ही अधिकार दिये गये। इन सब कारणों से जाति-प्रथा के बन्धनों को ढीला करने में सहायता मिली।

**जाति-प्रथा का भविष्य**—यद्यपि जाति-प्रथा भूतकाल में लाभप्रद रही, परन्तु आज तो इसकी आवश्यकता नहीं है। भारत में आज की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ चिरकाल-सम्मानित जाति-प्रथा के विभेदों को बनाये रखने के लिये अनुपयुक्त हैं। अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो दृढ़तापूर्वक इस प्रथा की जड़ खोद रहे

हैं। आज जाति-प्रथा व धन्धे और व्यवसाय का भेद लगभग विलुप्त हो गया है। आज किसी जाति में जन्मा हुआ व्यक्ति अपने पूर्वजों के ही धन्धे को नहीं अपनाता, बल्कि वह वही धन्धा या व्यवसाय करता है जिसके लिए उसकी प्रतिभा उपयुक्त है या वही कार्य करता है जिसकी ओर भाग्य ने उसे ढकेल दिया है। अनेक कारणों से जातियों में परस्पर खान-पान होने लगा है तथा सामाजिक और राजनीतिक उत्सवों और समारोहों पर लोग मिश्रित होने लगे हैं। इससे जातियों की अपरिवर्तनशीलता, रूढ़िवादिता, संकीर्णता और पृथकत्त्व विनष्ट होने शुरू हो गए हैं और भविष्य में और तेजी से होंगे।

## भारतीय समाज में नारी का स्थान
## (Place of Women in Indian Society)

किसी भी संस्कृति का मापदण्ड उस समाज द्वारा दी गई स्त्रियों की पद मर्यादा है क्योंकि, जैसा प्रसिद्ध समाज शास्त्री प्रो० रायडन का कथन है, "स्त्रियों ने ही प्रथम संस्कृति की नींव डाली है और उन्होंने ही जंगलों में मारे-मारे भटकते फिरते हुए पुरुषों का हाथ पकड़कर उन्हें स्थिर जीवन या "घर" बसाया है।" मानव संस्कृति का भविष्य भी उन्हीं की सहयोगिता और सद्प्रयत्नों पर निर्भर है। प्रत्येक समाज में स्त्रियों और पुरुषों की स्थिति उससे सम्बन्धित आदर्शों और कार्यों के अनुसार निश्चित होती है। युग परिवर्तन के साथ इन आदर्शों और कार्यों में भी परिवर्तन होता रहता है। इसी कारण स्त्रियों और पुरुषों की स्थिति में भी परिवर्तन स्वाभाविक है। भारतीय स्त्रियों की स्थिति में भी यही हुआ जैसा कि निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट होगा।

**प्राचीनकाल में हिन्दू समाज में नारी की स्थिति**—वैदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि स्त्रियों की स्थिति उनके आत्म-विकास, शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति आदि के विषयों में प्रायः पुरुषों के समान थी। पत्नी के रूप में तो उनकी स्थिति बहुत ऊँची थी। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पति-पत्नी द्वारा न केवल संयुक्त अपितु पृथक रूप से भी यज्ञ करने का उल्लेख है। महाभारत के कथनानुसार, "घर घर नहीं, अगर उस घर में पत्नी नहीं।" वैदिक युग में अनेक विदुषी महिलायें हुई हैं। परन्तु, धर्मसूत्र युग में नारियों की स्थिति में गिरावट शुरु हो गई। धर्मसूत्रों में बाल-विवाह का निर्देश दिया गया जिससे शिक्षा प्राप्ति में बाधा पहुँची। उनके लिए धार्मिक संस्कारों में भाग लेने की मनाही कर दी गई। स्त्रियों का प्रमुख कर्त्तव्य पति-आज्ञा पालन हो गया। स्मृति युग में स्त्रियों की स्थिति और भी गिर गई। उनका जो कुछ भी सम्मान इस युग में होता था, वह केवल माता के रूप में होता था, न कि पत्नी के रूप में। इस युग में स्त्रियों के समस्त अधिकारों का अपहरण कर लिया गया। स्मृतिकारों ने यह निर्देश दिया कि स्त्रियों को किसी अवस्था में स्वतंत्र न रखा जाय, बचपन में उन्हें पिता के संरक्षण में, युवावस्था में पति के और वृद्धावस्था

में पुत्र के संरक्षण में रखना ही उचित होगा। विधवाओं के पुनर्विवाह पर कठोर निषेध लगा दिये गये। सारांश में, यह काल सामाजिक और धार्मिक संकीर्णता का युग था।

श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल के शब्दों में, "इस काल में स्त्रियाँ "गृह-लक्ष्मी" से "याचिका" के रूप में दिखायी देने लगीं, 'माता' 'सेविका' बन गयीं, जीवन और शक्ति-प्रदायिनी देवी अब निर्बलताओं का प्रतीक बन गयीं। स्त्री जो किसी समय अपने प्रबल व्यक्तित्व के द्वारा देश के साहित्य और समाज के आदर्शों को प्रभावित करती थी, अब परतन्त्र, पराधीन, निस्सहाय और निर्बल अबला बन चुकी थी।"

पूर्व मध्य-युग अथवा राजपूत काल में स्त्रियों की दशा और भी खराब हो गई। ऊँची जातियों में भी स्त्री-शिक्षा समाप्त हो गई। पर्दा-प्रथा को और भी प्रोत्साहन मिला विधवाओं का विवाह पूर्ण रूप से समाप्त हो गया और सती-प्रथा भी इस समय चरम-सीमा पर पहुँच गई।

**मध्यकाल में नारी की स्थिति**—उत्तर भारत में इस्लाम धर्म के अनुयायी तुर्कों की सल्तनत की स्थापना के कारण भारतीय समाज में एक ऐसा तत्त्व आ गया जिसे हिन्दू समाज कालान्तर में भी आत्मसात न कर सका। इस काल में स्त्रियों की स्थिति प्राचीन भारत जैसी उच्च नहीं थी। लेकिन फिर भी ऐसा विधान था कि पति अपनी पत्नी का आदर करे, उसे आभूषण भेंट करे और उत्तम भोजन दे।" फिर भी, स्त्री का स्थान पुरुष की तुलना में नीचा था। हिन्दू नारियों की तुलना में मुस्लिम स्त्रियों को कुछ विशेष सुविधायें थीं। वे विधवा-विवाह कर सकती थीं और विशेष परिस्थितियों में पति को तलाक दे सकती थीं। उनके लिए सती होने का कोई प्रश्न नहीं था। मुस्लिम स्त्रियों को अपने पिता व माता दोनों की सम्पत्ति में अधिकार मिलता था। सारांश में, इस काल में स्त्रियों की दशा असंतोष जनक ही रही क्योंकि "बाल-विवाह, सती और पर्दा की प्रथायें जारी रहीं और स्त्रियों के प्रति व्यक्तिगत सम्मान कम हो गया।"

किन्तु, इतना सब कुछ होते हुए भी हमें इस युग में मीराबाई, नूरजहां, रानी दुर्गावती, चांद बीबी आदि प्रतिभाशाली नारियों के उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। तत्कालीन उच्च महिलाओं के चरित्र के विषय में सत्रहवीं शताब्दी के पाश्चात्य यात्री एकमत हैं कि उनका आचरण अनुकरणीय था। सम्राट अकबर और जहांगीर ने भी हिन्दू स्त्रियों के सदाचार की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उन्होंने अपने चरित्र और प्रतिभा के बल से राष्ट्र व समाज को और नीचे गिरने से बचाया।

**ब्रिटिश शासन काल में स्त्रियों की स्थिति**—अंग्रेजी शासनकाल में भारतीयों द्वारा समाज सुधार के अनेक प्रयत्न किये गये स्वार्थ, अन्याय और अत्याचार जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं, तब उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी प्रारम्भ हो जाती है। सर्वप्रथम राजा राममोहनराय(1772–1833ई.)ने ब्रह्मसमाज की स्थापना करके

सती-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन किया जिसके फलस्वरूप सन् 1829 में इस कुप्रथा को कानून के द्वारा समाप्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त स्त्रियों को सम्पत्ति अधिकार देने, बाल-विवाहों को समाप्त करने और स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार करने के क्षेत्र में भी राजा राममोहनराय ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये। स्वामी दयानन्द द्वारा सन् 1875 में स्थापित 'आर्य समाज' का उत्तरी भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रचार करने तथा पर्दा-प्रथा और बाल-विवाह का विरोध करने में सबसे अधिक योगदान रहा। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने के लिए विधवा-विवाह का समर्थन और बहु-पत्नी विवाह सम्बन्धी परम्परागत नियमों का विरोध किया तथा स्त्री-शिक्षा को सर्वाधिक महत्त्व दिया।

बीसवीं शताब्दी में, महात्मा गांधी ने सर्वप्रथम संगठित आधार पर स्त्रियों के अधिकारों के औचित्य को स्पष्ट किया। उन्होंने स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी सुधार कार्य को अपने राष्ट्रीय आन्दोलन का एक प्रमुख अंग बना लिया। उन्होंने ब्रिटिश सरकार को भेजे प्रस्तावों में विशेष रूप से स्त्री शिक्षा के प्रसार तथा बाल-विवाह की कानून द्वारा समाप्ति पर विशेष जोर दिया गया। राष्ट्र-पिता गांधी ने स्त्रियों की निद्रा को तोड़कर उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप पहली बार लाखों स्त्रियाँ घर की चहारदीवारी से निकलकर स्वाधीनता-आन्दोलन में कूद पड़ीं। उन्होंने पहली बार अपनी शक्ति और सामर्थ्य को पहचाना। इससे स्त्रियों में एक नवीन चेतना का विकास हुआ। यही चेतना बाद में उनकी प्रगति का आधार बन गयी।

सन् 1929 में विभिन्न संगठनों नेएक होकर 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन का आयोजन किया। पूना में इसके प्रथम अधिवेशन के समय स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने पर बल दिया गया। एक प्रस्ताव पारित करके सरकार से माँग की गयी कि सम्पत्ति, विवाह और नागरिकता में स्त्रियों की परम्परागत निर्योग्यताएँ कानून के द्वारा समाप्त की जाएँ। स्त्रियों की बढ़ती हुई राजनीतिक माँगों के परिणामस्वरूप सन् '1935 के अधिनियम' के द्वारा स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हुआ। धारा सभाओं, बोर्डों व नगरपालिकाओं में स्त्रियों को प्रतिनिधित्व दिया गया।

**स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् स्त्रियों की स्थिति**—सन् 1947 में, भारतीय स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् स्त्रियों की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। डॉ० एम० एन० श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण, लौकिकीकरण और जातीय गतिशीलता को इन परिवर्तनों का प्रमुख कारण माना है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार होने व औद्योगीकरण के फलस्वरूप भी उन्हें आर्थिक जीवन में प्रवेश करने के अवसर प्राप्त हुए। इससे स्त्रियों की पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता कम होने

लगी और स्वतंत्र रूप में अपने व्यक्तित्व का विकास करने के अवसर मिले। संचार के साधनों, समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं का विकास होने से स्त्रियों ने अपने विचारों को अभिव्यक्त करना शुरू किया। संयुक्त परिवारों का विघटन होने से स्त्रियों के पारिवारिक अधिकारों में वृद्धि हुई। सामाजिक कानूनों के प्रभाव से एक ऐसे सामाजिक वातावरण का निर्माण हुआ जिसमें बाल-विवाह, दहेज-प्रथा और अन्तर्जातीय-विवाह की समस्याओं से छुटकारा पाना सरल हो गया।

## नारी की स्थिति में सुधार और उसके कारण

भारतीय स्त्रियों की स्थिति में, देश की आजादी के बाद, जो परिवर्तन हुआ है, उसे निम्नलिखित क्षेत्रों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:--

1. **शिक्षा की प्रगति**--स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् स्त्री-शिक्षा में व्यापक प्रगति हुई। इस तथ्य को इसी बात से समझा जा सकता है कि सन् 1872 में भारत में ऐसी केवल 2,054 स्त्रियां थीं जो कुछ लिख-पढ़ सकती थीं, जबकि 1971 की जन-गणना के समय तक शिक्षित स्त्रियों की संख्या बढ़कर लगभग 4 करोड़ 83 लाख से भी अधिक हो गयी। लड़कियों के लिए आज कला और विज्ञान के अतिरिक्त गृह-विज्ञान, हस्तकला, शिल्पकला और संगीत की शिक्षा प्राप्त करने के अवसर उपलब्ध होने के कारण स्त्रियों को बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा से तो छुटकारा मिला ही है, साथ ही साथ उन्होंने समाज-कल्याण और महिला-कल्याण में भी व्यापक रुचि लेना आरम्भ कर दिया है। स्त्री-शिक्षा की चहुंमुखी प्रगति को देखते हुए डॉ. के. एम. परिणक्कर ने यह निष्कर्ष दिया कि **"स्त्री-शिक्षा ने विद्रोह की उस कुल्हाड़ी की धार तेज कर दी है जिससे हिन्दू सामाजिक जीवन की जंगली झाड़ियों को साफ करना सम्भव हो गया है।"**

2. **आर्थिक जीवन में बढ़ती हुई स्वतन्त्रता**—वर्तमान में शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, समाज-कल्याण, मनोरंजन, उद्योगों और कार्यालयों में स्त्री-कर्मचारियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। स्त्रियों को आर्थिक स्वतंत्रता मिल जाने के कारण उनमें आत्मविश्वास, कार्यक्षमता और मानसिक स्तर में इतनी प्रगति हुई है कि उनके व्यक्तित्व की तुलना उस स्त्री से किसी प्रकार नहीं की जा सकती जो आज से कुछ वर्ष पहले तक संसार की सम्पूर्ण लज्जा को अपने घूंघट में समेटे हुए और पुरुष के शोषण को सहन करती हुई घुटन में अपना जीवन व्यतीत कर रही थी।

3. **पारिवारिक अधिकारों में वृद्धि**—आज की स्त्री पुरुष की दासी नहीं बल्कि उसकी सहयोगीनी और मित्र है। परिवार में उसकी स्थिति एक याचिका की न होकर बल्कि प्रबन्ध की है। बच्चों की शिक्षा, पारिवारिक योजनाओं का रूप निर्धारण करने में स्त्री की इच्छा का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

4. **सामाजिक जागरुकता**—स्त्रियां आज अनेक प्रगतिशील संगठनों का निर्माण कर रही हैं। डॉ० परिणक्कर ने लिखा है कि "कुछ मेधावी स्त्रियों ने जो

उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है, वह भारत के लिए उतने महत्त्व की बात नहीं है जितनी कि यह बात कि कट्टर पंथी और पिछड़े समझे जाने वाले ग्रामीण व्यक्तियों के विचार भी करवट लेने लगे हैं। यहां स्त्रियां उन सामाजिक बन्धनों से बहुत कुछ मुक्त हो चुकी हैं जिन्होंने उन्हें रूढ़ियों और 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' की विचारधारा से जकड़ रखा था।

**राजनीतिक चेतना में वृद्धि**—भारत के अनेक प्रान्तों में विधायक तथा केन्द्र में सांसद स्त्रियों के निर्वाचित होने के साथ, श्रीमती इन्दिरागांधी का भारत की सर्व-प्रथम महिला प्रधान मंत्री निर्वाचित होना सम्पूर्ण संसार के लिए कम आश्चर्य की बात नहीं है।

**निष्कर्ष**— भारतीय नारियों को आज प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समकक्ष अधिकार हैं। वे नौकरियों, राजकीय सेवाओं तथा व्यवसायों एवं अनेकानेक विभागों में प्रवेश कर चुकी हैं। आज भारत ही नहीं बल्कि संसार के सभी देशों में स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने की जोरदार मांग उठ खड़ी हुई है। अब विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अब कोई धर्मशास्त्र अथवा मनगढ़न्त पुराण भारतीय स्त्रियों को अपनी उन्नति करने से नहीं रोक सकते।



# 5

# हमारी साहित्यिक धरोहर

## (Literary Heritage)

## महाकाव्य, कालिदास तथा तुलसीदास

### (Epics, Kalidas and Tulsidas)

I. रामायण—आदि महाकाव्य : महत्त्व

II. महाभारत—भारतीय ज्ञान का विश्वकोष

III. महाकाव्यकालीन-सभ्यता और संस्कृति

IV. महाकवि कालिदास और उनका साहित्य

V. गोस्वामी तुलसीदास और उनका साहित्य

---

हमारी प्राचीन धरोहर व परम्परा के रूप में हमें जो कुछ मिला है, वह या तो साहित्यिक रूप में मिला है अथवा कलात्मक अवशेषों के रूप में । इन दोनों में भी साहित्यिक रचनायें हमारी उस काल की रचनायें हैं जिस समय संसार का कोई ग्रन्थ नहीं रचा गया था । अतः वे हमारे लिए ही नहीं संसार के सभी लोगों के लिए गौरव की वस्तु हैं । वे केवल भारतीयों की ही धरोहर नहीं, मनुष्य-मात्र की धरोहर हैं । वह एक ऐसा साहित्य है जो विशद और विस्तृत होते हुए संसार की सर्वश्रेष्ठ श्रेणी में रखा जाता है और आज तक ऐसा सर्वोच्च एवं सर्वगुण सम्पन्न साहित्य विश्व के प्राचीन इतिहास में नहीं लिखा गया ।

भारत के सुविशाल और समृद्ध साहित्य में हमारी जाति की सभ्यता और संस्कृति के सच्चे स्वरूप की झांकी मिलती है । हम अपने देश के सांस्कृतिक विकास के विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों को तभी भली प्रकार समझ सकते हैं, जब हम उन युगों के प्रतिनिधि महाकवियों और साहित्यकारों की रचनाओं का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन करें । हमारा प्राचीन साहित्य हमें संस्कृत भाषा में उपलब्ध होता है । इस संस्कृत साहित्य रूपी समुद्र का विविध विषयी रूपी अनेक गंगाओं ने बहुमूल्य अमृत-रूपी जल से श्रृंगार किया और उसके उदर को परिपूरित किया । प्रस्तुत

अध्याय में, हमारा विषय-क्षेत्र रामायण और महाभारत, कालिदास और तुलसीदास के साहित्य तक सीमित है। वैसे, संस्कृत में सबसे पहले जिन ग्रन्थों की रचना हुई वे वेद थे।

## महाकाव्य : रामायण तथा महाभारत

महाकाव्यों के अन्तर्गत 'रामायण' और 'महाभारत' दोनों प्राचीन महाकाव्य सम्मिलित हैं। ये दोनों ग्रन्थ भारत के लौकिक संस्कृत साहित्य तथा संस्कृति के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। वास्तव में भारतीय लौकिक साहित्य का प्रारम्भ ही इन्हीं ग्रन्थों से होता है। "ये दोनों ही महाकाव्य हिन्दू धर्म के नये स्वरूप की देन हैं। इसमें विष्णु के दो मुख्य अवतार राम और कृष्ण मुख्य रूप से अंकित किये गये हैं।" इनमें तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दशाओं व समस्याओं का विशद विवरण मिलता है। जिस प्रकार प्राचीन आर्यों की धार्मिक अनुश्रुति परम्परा वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में संग्रहीत हैं, वैसे ही उनकी ऐतिहासिक गाथाएँ, आख्यान और अनुश्रुति रामायण तथा महाभारत में संग्रहीत हैं। डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार के मतानुसार "जहाँ वैदिक सूत्र-साहित्य निर्विवाद ब्राह्मण ग्रन्थ हैं; वहाँ कहा जा सकता हैं कि रामायण और महाभारत में क्षत्रियों का दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है। ये दोनों ही महाकाव्य न तो किसी एक कवि और न किसी युग की रचना कहे जा सकते हैं। निश्चय ही दोनों में क्रमागत युगों में काफी परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए हैं।"

## I. रामायण--आदिमहाकाव्य : महत्त्व

रामायण हिन्दूओं का सबसे प्राचीन महाकाव्य है जिसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की थी। रामायण का अन्तिम संस्करण जो हमारे सम्मुख है ईसवी पूर्व सन् 200 या 300 माना जाता है। परन्तु यह महाकाव्य अपने रचनाकाल के बहुत ही पूर्व के समय का वर्णन करता है। आर्य धर्म की ध्वजा कैसे साहसपूर्ण आन्दोलन द्वारा दक्षिणी भारत तथा लंका तक फहराई गई, इसकी कुछ कल्पना रामायण द्वारा ही हो सकती है। ऐतिहासिक दृष्टि से रामचन्द्र की दक्षिण-यात्रा आर्यों की दक्षिण-विजय का प्रथम वृत्तान्त है। अनुमानतः इसके पश्चात् आर्यों की सभ्यता व संस्कृति का विस्तृत प्रभाव दक्षिण में फैला।

वाल्मीकि रामायण के वर्तमान संस्करणों में लगभग 24,000 श्लोक हैं और सात काण्ड हैं। वे सात काण्ड इस प्रकार हैं—बाल काण्ड, अयोध्या काण्ड, अरण्य काण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड, और उत्तर काण्ड। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मूल रामायण में कुल पांच काण्ड थे। उसमें बाल काण्ड तथा उत्तर काण्ड नहीं थे। इन दोनों काण्ड की शैली से यह सम्भव लगता है कि ये दोनोंकाण्ड बाद में जोड़े गये हों जैसा कि प्राचीन काल के अन्य ग्रन्थों के साथ अक्सर हुआ है।

**संक्षिप्त मूल कथानक व वर्ण्य-विषय**—महाकवि वाल्मीकि ने सूर्य वंशी नरेश दशरथ और उनके पुत्रों, विशेषतः राजा राम की यशोगाथा वर्णन की है जो रामायण का मुख्य वर्ण्य-विषय है। अयोध्या-नरेश दशरथ ने तीन विवाह किये थे। सबसे बड़ी रानी कौशल्या के पुत्र राम थे; दूसरी रानी सुमित्रा से दो पुत्र उत्पन्न हुए— लक्ष्मण और शत्रुघ्न और तीसरी रानी कैकई से भरत का जन्म हुआ। राम का विवाह विदेह-नरेश जनक-पुत्री सीता के साथ हुआ था। ज्येष्ठ पुत्र राम अपने माता-पिता के अति आज्ञाकारी पुत्र थे। वृद्धावस्था में दशरथ ने जब राम को राज-सिंहासन पर बिठाना चाहा तो कैकई ने दुराग्रह करके राम को 14 वर्ष के लिए वनवास में भिजवा दिया। सीता और लक्ष्मण भी राम के साथ वन गये। इस पर राजा दशरथ की पुत्र-वियोग में मृत्यु हो गयी। ननिहाल में रह रहे कैकई के पुत्र भरत को जब इसका पता चला तो वह बहुत दुःखी हुए और रामचन्द्र जी को वापस लाने घर से निकल पड़े। चित्रकूट पर्वत पर उनकी रामचन्द्रजी से भेंट हुई। भरत ने बहुत अनुनय-विनय किया, किन्तु राम ने पिता को दिए वचन को तोड़ना स्वीकार नहीं किया। वनवासकाल में लंका-नरेश रावण सीता का हरण कर लेता है। इस पर सीता की प्राप्ति के लिए राम को लंका पर चढाई करनी पड़ती है। और उन्हें शिव-उपासक रावणका वध करना पड़ता है। चौदह वर्ष समाप्त होने पर राम, सीता व लक्ष्मण के साथ अयोध्या लौटते हैं और वहां एक आदर्श राज्य की स्थापना करते हैं।

**आर्य-संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ-रामायण**—रामायणमें उस काल की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक अवस्था तथा संस्थाओं, प्रथाओं आदि के विषय में सुन्दर चित्रण मिलता है। इसमें दो भिन्न संस्कृतियों का संघर्ष देखने को मिलता है। आर्य संस्कृति के प्रतिनिधि राम हैं, तो अनार्य संस्कृति का रावण। ये दोनों संस्कृतियां भिन्न-भिन्न जीवन मूल्यों को प्रस्तुत करती हैं। जहाँ राम नैतिकता, न्याय, सत्य अथवा भलाई के पक्षपाती हैं, वहाँ रावण में अनैतिकता, असत्य तथा बुराई के दर्शन होते हैं।

रामायण में आर्य-पारिवारिक जीवन के उच्चत्तम आदर्शों का निरूपण है। राम आर्य जीवन के उच्च आदर्श के प्रतीक हैं। वे आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति और अपनी प्राणाधिक प्रियतमा को लोकानुरंजन के लिए परित्याग कर देने वाले आदर्श राजा हैं, रामराज्य आज तक आदर्श राज्य माना जाता है, सीता भारतीय नारीत्व की साक्षात प्रतीक हैं। भारतीय स्त्रियों के लिए वह पवित्रता और पतिव्रत धर्म के लिए आज भी आदर्श हैं। कौशल्या जैसी माता और लक्ष्मण जैसे भाई आज भी हिन्दू समाज में आदर्श और अनुकरणीय माने जाते हैं।

**रामायण का साहित्यिक मूल्यांकन**—भारत का आदि काव्य होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से इसे परिमार्जित, व्यवस्थित तथा अद्वितीय काव्य-ग्रन्थ कहा जा

सकता है। अलंकार, शैली, रस, चरित्र-चित्रण, देव कथाओं–सभी दृष्टि से यह काव्य महत्त्वपूर्ण है। महाभारत की तुलना में रामायण में सौन्दर्य, चेतना और चरित्र-चित्रण अधिक प्रभावोत्पादक हैं। रामायण में संयोग और वियोग दोनों का चित्रण अदभुत है। भाषा की स्निग्धता, भावों की सरलता, विचारों की गहनता इस ग्रंथ की काव्यगत विशेषताएं हैं। भारतीय साहित्य पर रामायण का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

**रामायण का महत्त्व**—प्रसिद्ध विद्वान विन्टरनित्ज ने लिखा है कि "रामायण सम्पूर्ण भारतीय जनता की सम्पत्ति बन गई है और इसने शताब्दियों से एक बड़े राष्ट्र के विचारों तथा काव्यों को प्रभावित किया है।" वैसे कुछ पाश्चात्य विद्वान जैसे विन्सेंट स्मिथ, मैकडानल, हन्टर आदि इसे केवल साहित्यिक ग्रन्थ मानते हैं, ऐतिहासिक नहीं। वे रामायण का जन्म लोक कथाओं व लोक गीतों से मानते हैं जो बाद में अनेक कथा-प्रसंगों से जुड़ जाने के कारण वृहद् महाकाव्य में बदल गया है। परन्तु, भारतीय विद्वानों के अनुसार उपर्युक्त धारणायें युक्तिसंगत नहीं हैं। आधुनिक अनुसंधान व उत्खनन कार्यों से रामायण की ऐतिहासिकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। अस्तु, सारांश में कहा जा सकता है कि **"रामायण जैसा कहीं भी कोई दूसरा महाकाव्य ऐसा नहीं है जिसने जन-मानस को इतने दीर्घकाल से लगातार और व्यापक रूप से प्रभावित किया हो।"**

## II. महाभारत : भारतीय ज्ञान का विश्वकोष

महाभारत आर्य-संस्कृति का सुप्रसिद्ध महाकाव्य है। महाभारत के रचयिता ऋषि वेद व्यास माने जाते हैं। महाभारत का अन्तिम संस्करण जो आज हमारे सम्मुख है ईस्वी पूर्व सन् 200 के लगभग की रचना है। डॉ. बेनी प्रसाद ने लिखा है कि "काव्य के ओज, प्रसाद और चमत्कार के लिए महाभारत की समानता संस्कृत साहित्य में केवल रामायण से ही हो सकती है। महाभारत में बहुत-से उपाख्यान, संवाद, गीत इत्यादि शामिल हैं जिनकी रचना संभवतः मूलकथा के आस-पास हुई थी पर जो पीछे से मिलाये गये हैं। महाभारत हिन्दू धर्म, नीति, समाज-सिद्धांत और कथाओं का विश्व-कोष है।

**वर्ण्य-विषय**—महाभारत में कुल 18 पर्व हैं जिसमें कुरुवंश की उत्पत्ति से लेकर महाभारत-युद्ध में वीरगति प्राप्त योद्धाओं की अन्त्येष्टि क्रिया तथा विजेताओं के स्वर्ग गमन तक की कथा है। कथा अत्यन्त रोचक है। कौन नहीं जानता कि पाण्डु के पांच पुत्र–युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने अपने चचेरे भाइयों अर्थात् धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों कौरवों से बहुत अनबन, निर्वासन और संधि प्रस्तावों की निष्फलता के बाद, कुरुक्षेत्र में महायुद्ध किया था और बड़ी कठिनाई एवं मार-काट के बाद विजय प्राप्त की थी।

कौरवों में दुर्योधन की हठधर्मी के कारण कुरुक्षेत्र के मैदान में महाभारत का युद्ध लड़ा गया। 18 दिन तक निरंतर भयकर युद्ध हुआ। दोनों पक्षों में अनेक रथी-महारथी मारे गए। इनमें भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, दुःशासन आदि ने कौरवों की ओर से तथा अभिमन्यू आदि ने पाण्डवों की ओर से वीर-गति पाई। कौरव-वंश का नाश हो गया। इस गृह-कलह में समस्त भारतवर्ष झुलस गया, क्योंकि उस काल के देश भर के प्रमुख राजाओं ने एक या दूसरे पक्ष की ओर से युद्ध में भाग ले लिया था।

**महाभारत का महत्व**—महाभारत केवल कौरव-पाण्डवों के संघर्ष की कथा ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के सर्वांगीण विकास की गाथा भी है। इसमें तत्कालीन धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक आदर्शों का अमूल्य एवं अक्षय संग्रह है तथा भारतीय नीति का विशाल दर्पण है। कतिपय विद्वान महाभारत को सर्वप्रधान काव्य, समस्त दर्शनों का सार, स्मृति, इतिहास एवं चरित्र-निर्माण की खान तथा पंचम वेद मानते हैं। मानव-जीवन की ऐसी कोई समस्या या पहलू नहीं जिस पर इस ग्रन्थ में सविस्तार विवेचन न हो। युधिष्ठिर आज भी सत्य के प्रतीक माने जाते हैं और कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाता है। विस्तार में कोई भी काव्य महाभारत की समता नहीं कर सकता। यूनानियों के महाकाव्य इलियड और ओडेसी दोनों मिलकर इसका आठवां भाग हैं। उपाख्यानों द्वारा लोक-धर्म के अनेक अंगों पर प्रकाश डाले जाने से इसे उपदेशात्मक ग्रन्थ कहते हैं और धार्मिक दार्शनिक विचारों का समावेश होने से इसे हिन्दू धर्म का धर्मशास्त्र कहा गया है।

**महाभारत—एक महाकाव्य के रूप में**—महाभारत का मूल कथानक युद्ध का है। अतः यह स्वभाविक ही था कि इसके रचयिता का ध्यान सौन्दर्य चर्चा पर अधिक न जाकर नीति-बोध व धर्म-चर्चा पर जाता। इसमें प्रकृति-चित्रण भी अधिक नहीं है तथा नारी-सौन्दर्य पर भी कम लिखा गया है। महाकाव्य की नायिका द्रौपदी का भी सौन्दर्य-वर्णन नहीं किया गया है। कदाचित् इसका प्रमुख कारण यही है कि यह सच्चे अर्थों में वीर-काव्य है और उसका रचयिता महाभारत के वीरतापूर्ण कार्यों के वर्णन में ही संलग्न हो गया है। इस तरह, साहित्यिक दृष्टि से महाभारत इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं है, जितना रामायण।

**निष्कर्ष**—महाभारत की कथा में कहां तक ऐतिहासिक कल्पनाएं हैं—यह बताना असम्भव है। डॉ. बेनी प्रसाद का मत है कि "शायद मूल-कथा की मोटी-मोटी घटनाओं में ऐतिहासिक सत्य है, पर बाकी छोटी-छोटी बातों और कथानक मुख्यतः कवियों की करामात है।" अस्तु, यही कहा जा सकता है कि महाभारत का वर्णन चाहे ऐतिहासिक हो अथवा कल्पना-मिश्रित, फिर भी उनसे तत्कालीन सभ्यता की बहुत सी बातों का पता लगता है। हिंदू राजनीति का ब्यौरेवार वृत्तान्त सबसे

पहलीबार महाभारत में मिलता है। सामाजिक संस्थाएं व्यवहार में कैसी थीं, यह भी महाभारत द्वारा अच्छी तरह मालूम होता है। उस समय के तत्त्व-ज्ञान पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

## III. महाकाव्य-कालीन सभ्यता व संस्कृति

महाकाव्यों के अन्तर्गत रामायण तथा महाभारत सम्मिलित हैं। "वैदिक युग के बाद की और बौद्ध युग के पूर्व की भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिए इन दोनों महाकाव्यों से बढ़कर कोई अन्य साधन हमारे पास नहीं हैं।" इनमें धर्म, आचार-विचार, संस्थाएं, प्रथाएं प्रणालियाँ, और आदर्श शताब्दियों से भारतीयों को प्रेरणा दे रहे हैं और हमारे सांस्कृतिक जीवन-निर्माण में प्रमुख भाग लेते रहे हैं।

**राजनीतिक दशा**—इस युग में आर्यों के विशाल राज्य स्थापित हो चुके थे। अधिकांश राज्य राजतंत्रात्मक थे, कुछ गणतंत्रात्मक भी थे। इस काल में उत्तर भारत में अनेकों राज्यों का वर्णन है। विशेषकर महाभारत-काल में भारत अनेकों छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। जो नरेश 'राजन्य कहाने वाले छोटे-छोटे शासकों को अपने आधिपत्य में कर लेते थे, वे 'सम्राट' की उपाधि धारण करते थे। 'दिग्विजय' राजनीतिक प्रभुता का प्रतीक था; यद्यपि पराजित देशों को वास्तव में विजित राज्यों में नहीं मिलाया जाता था। पराजित राजा द्वारा प्रभुता को स्वीकृत कर लेना ही पर्याप्त माना जाता था। अधीनस्थ राजा युद्धकाल में सम्राटों को सहायता और सहयोग देते थे। इस प्रकार 'सामन्तवाद' जिसने प्रारम्भिक और मध्यकालीन भारत की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, भलीभाँति स्थापित हो चुका था। वंश परम्परानुसार राजा का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र होता था।

राजा राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होता था, परंतु वह निरंकुश नहीं था। उसे अपने बन्धुओं, मंत्रियों, पुरोहितों, परामर्शदाताओं और जनता के मत का सम्मान करना पड़ता था। यह माना जाता था कि राजा प्रजा का अनुरंजन और रक्षण करता है और उसके कष्ट का निवारण करता है। दुष्ट, निरंकुश, अत्याचारी राजा सिंहासन से उतार दिया जाता था। वैसे, राजा ऐश्वर्य का केन्द्र था, वह बड़ी शान-शौकत और तड़क-भड़क से रहता था। न्याय दान करना उसका एक प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता था। राजा राज्य का शासन-संचालन मन्त्री-परिषद की सहायता व सहयोग से करता था। सुव्यवस्थित शासन-संचालन के लिए अनेक सामन्त और पदाधिकारी भी थे।

शासन की निम्नतम इकाई 'ग्राम' थी जिसका मुखिया 'ग्रामणी कहलाता था। राज्य-अधिकारियों में से प्रत्येक अपने से ऊपरवाले के प्रति उत्तरदायी होता था

और अन्त में सभी राजा के प्रति उत्तरदायी थे। राजा का कर्त्तव्य माना गया था कि भ्रष्ट अधिकारियों व कर्मचारियों से प्रजा की रक्षा करे। राज्य की आय के प्रमुख स्रोत भूमि की उपज, वाणिज्य-व्यापार, खानों, समुद्रों तथा वनों की उत्पत्ति पर लगाए हुए कर थे।

राज्य के लिए सेनाएँ भी होती थीं। सेना का मुख्य अंग पैदल, रथ, हाथी तथा घुड़सवार होते थे। धनुर्विद्या उस समय बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। युद्ध नियमों के आधार पर लड़ा जाता था। रात्रि को युद्ध बन्द हो जाता था। उस अवधि में, दोनों पक्ष के लोग साधारण व्यक्तियों की तरह आपस में मिला करते थे। निःशस्त्र, निष्कवच और युद्ध से पीठ दिखाने वाले पर प्रहार नहीं किया जाता था। प्रहार करने से पूर्व शत्रु को सूचित किया जाता था; विश्वास देकर या घबराहट में डालकर प्रहार करना एवं परस्पर छलना अनुचित माना जाता था।

सामाजिक दशा—इस काल में सामाजिक जीवन बड़ा सरल और सादा था। लोग महान् सादगी, न्याय-निष्ठा और सच्चाई का जीवन व्यतीत करते थे। वे अपने प्रातः स्नान, प्रार्थना और पूजन में कदाचित ही कभी चूकते थे। उनके आहार और वेष-भूषा भी सादा थे। वैसे, स्त्री-पुरुष दोनों को ही श्रृंगार करने और आभूषण पहिनने का शौक था। आतिथ्य की बड़ी महिमा थी जो वैदिककाल में थी। वैदिक युग की भाँति इस काल में जीवन का दृष्टिकोण आशावादी था। भाग्य की अपेक्षा पौरुष पर अधिक महत्त्व दिया जाता था। अधिकतर जनता मिट्टी के दुर्ग के चतुर्दिक ग्राम में रहती थी और पशु-पालन तथा कृषि-कर्म करती थी। वणिक तथा अन्य व्यवसायी एवं नागरिक नगरों में रहते थे। समाज पहिले की भाँति वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। समाज में जाति-प्रथा पहिले की अपेक्षा अधिक निर्दिष्ट हो गयी थी। चारों वर्णों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पूर्ववत् विद्यमान थी। गृहस्थ में पत्नी का स्थान पति के बराबर समझा जाता था। स्त्रियों में मध्य-युग जैसी परतन्त्रता एवं घोर पर्दा-प्रथा नहीं थी।

आर्थिक दशा—इस काल में अधिकतर जनता पशु-पालन और खेती करती थी। विविध प्रकार के शिल्प-व्यवसाय प्रचलित थे, जिनमें वस्त्र-व्यवसाय अधिक उन्नति पर था, रेशमी वस्त्रों का भी प्रचलन था। स्वर्ण, चाँदी, लोहा, सीसा और रांगे से विविध पदार्थ तैयार किये जाते थे। व्यापार प्रमुख रूप से वैश्यों के हाथ में था। रामायणकालीन आर्थिक व्यवस्था की उन्नति का रहस्य सुशासन माना गया है। लोगों की सामान्य आर्थिक दशा संतोषजनक थी। परंतु, महाभारतकाल में लोगों की आर्थिक दशा गिर चुकी थी। फिर भी सामान्यतः लोग दुःखी न थे।

धार्मिक दशा—वैदिककाल का धर्म अब बदल चुका था। प्राकृतिक शक्तियों के सूचक वैदिक देवताओं का अब लोप हो चुका था और उनका स्थान ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शिव, गणेश, पार्वती आदि देवताओं ने ले लिया था। जिस प्रकार

वैदिक युग में समस्त देवता एक ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के सूचक थे, उसी प्रकार इस युग में ईश्वर के तीन मुख्य उत्पादक, धारक और संहारक शक्तियों के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश हो गये थे। इस त्रिमूर्ति का उत्कर्ष इस युग की विशेषता है।

रामायण के समय तक यज्ञों का महत्त्व खूब रहा। महाभारत के समय में आत्म-संयम और चरित्र-शुद्धि पर अधिक बल दिया जाने लगा। ऐसी धारणा होने लगी थी कि सच्चा यज्ञ तो सत्य, अहिंसा, संयम, वैराग्य, आचार-शुद्धि एवं तृष्णा तथा क्रोध का परित्याग है। तपस्या, कर्म और आत्मा के आवागमन सिद्धांत भी पूर्णतः मान्य हो चले थे। इस काल में, वीर-पूजा में लोगों का विश्वास बढ़ता जा रहा था और अवतार का प्राबल्य हो रहा था। राम तथा कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था। महाभारत के एक भाग भगवद्गीता में इस युग का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रदर्शित होता है। उसमें कर्म, ज्ञान और तप तीनों ही साधनों द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया है। गीता ने पहली बार स्त्री और पुरुष, ऊँच और नीच, द्विज और शूद्र, आर्य और अनार्य, सभी को मोक्ष का अधिकारी समझा।

निष्कर्ष—रामायण और महाभारत की सामग्री से ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में वर्तमान सामाजिक और धार्मिक विश्वासों और संस्थाओं की नींव पूर्णतया रखी गयी थी। सारांश में, कहा जा सकता है कि महाकाव्य काल अपने समृद्ध और विकासोन्मुख जीवन के लिए प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल था।

## IV. महाकवि कालिदास और उनका साहित्य

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वोपरि कलाकार तो हैं ही; यदि उन्हें विश्व साहित्य के सर्वोत्कृष्ट कलाकार भी कह दिया जाय तो अतिशियोक्ति न होगी। कवि कुल गुरु कालिदास द्वारा रचित अनेक काव्य और नाटक विश्व-साहित्य में विख्यात हैं। उनकी समानता अंग्रेजी साहित्य के महान् कलाकार शेक्सपियर से की जाती है; किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि शेक्सपियर ने उत्तमोत्तम नाटक अवश्य लिखे हैं, पर उन्होंने किसी महाकाव्य की रचना नहीं की है। कालिदास तो नाटककार होने के अतिरिक्त रघुवंश, कुमारसम्भव जैसे महाकाव्यों के भी रचयिता हैं। अतः उन्हें शेक्सपियर से भी बढ़कर कवि एवं नाटककार माना जा सकता है।

संक्षिप्त जीवन-परिचय-- सुरभारती के अमर महाकवि कालिदास के जीवन चरित्र के विषय में हमें प्रामाणिक रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है; क्योंकि उन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने जीवन से सम्बन्धित कुछ भी नहीं लिखा है। अतएव उनके विषय में जो कुछ भी कहा या माना जाता है, वह अधिकतर आनुमानिक ही है। न तो इनके जन्म-स्थान का ठीक-ठीक

पता लगता है और न इनकी जन्म तिथि का ही। इनके माता-पिता का नाम तो आज तक किसी को भी मालूम न हो सका। किसी का कहना है कि यह मिथिला निवासी थे, कोई इन्हें बंगाल का रहने वाला बतलाता है और कोई काश्मीर का। परन्तु, उज्जैन और मालवा की तत्कालीन दशा को और उसकी भौगोलिक स्थिति का जो सूक्ष्म वर्णन कालिदास ने किया है उससे विद्वानों की धारणा है कि उसका जन्म संभवत: उज्जैन में हुआ था।

**प्रो० वी० एन० लूणिया** के अनुसार कालिदास के आविर्भाव के विषय में तीन मत हैं। प्रथम मत के अनुसार कालिदास का आविर्भाव ईसा पूर्व की पहली सदी में विक्रम संवत के प्रारम्भ में हुआ। इसके अनुसार कालिदास उज्जैन के विक्रम संवत के प्रवर्त्तक राजा विक्रमादित्य का समकालीन था। वह उसकी राज-सभा का मेधावी साहित्यकार व राजकवि था। **दूसरा मत** यह है कि कालिदास गुप्तकाल में था और **तीसरा मत** है कि कालिदास छठी सदी में था। इन तीनों में दूसरा मत कि कालीदास चौथी पाँचवीं सदी में गुप्तकाल में था अधिक प्रामाणिक और मान्य है। उसका कार्यकाल लगभग 455 ई० तक रहा होगा।

कालिदास के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि वह जन्म से ब्राह्मण थे। और शिव-भक्त थे, किन्तु अन्य देवताओं का आदर करते थे। 'मेघदूत' और रघुवंश इस बात के परिचायक हैं कि उन्होंने भारतवर्ष का विस्तृत भ्रमण किया था। यही कारण है कि उनका भौगोलिक वर्णन बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक है। उन्हें राजसी-जीवन और राज-परिवारों का पूरा ज्ञान था। उन्होंने दरिद्रता का वर्णन कहीं नहीं किया जिससे मालूम होता है कि उनका जीवन बड़ा सुखमय और शान्त था। उन्होंने गीता, रामायण, महाभारत, वेद, पुराण धर्मशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, व्याकरण, छंद शास्त्र और काव्यशास्त्र आदि का गम्भीर अध्ययन किया था, ऐसा उनके ग्रन्थों से विदित होता है। उन्हें अपने जीवन काल में ही पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी।

सारांश में, कालिदास को जीवन की घनी अनुभूति थी। वे विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता थे। उनकी विद्वत्ता उनकी कृतियों में झलकती है। कालिदास की प्रखर मेधा की ऊंचाई तक आज भी अन्य कवि नहीं पहुँच सके। अपने गुणों के कारण कालिदास की कविता विश्व-वन्द्या हो गई है।

## कालिदास एक कवि के रूप में

कालिदास संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि है। उसकी सर्वप्रियता का कारण उसकी सरल, परिष्कृत और प्रसाद-गुण युक्त शैली है। कालिदास की कविता अपने सौन्दर्य, सरसता, सरलता, सादगी भावों और शब्द चयन के लिए प्रसिद्ध है। उनके ओज और प्रसाद गुणों में, वाक्यों की सौम्यपूर्ण चारुता, भाषा और भावों की सूक्ष्मता, उनकी उपमाओं की सुन्दरता, अनुकूलता और विविधतायें

उनके अलंकारों के सौष्टव में, पुरुष और प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण में, विचारों की गंभीरता और अभिव्यक्ति की तीक्ष्णता में, करुणा और प्रेम के भावों के उत्कृष्ट प्रदर्शन में तथा शैली की सरलता एवं शब्द चयन के माधुर्य में, आज तक संस्कृत का कोई भी कवि कालिदास की उपमाओं में जो विविधता, पटुता और सुन्दरता है, अलंकारों का जो साधिकार प्रयोग है, वह संस्कृत के अन्य कवि में नहीं है। उनकी रचनाओं में काव्यात्मकता और सौन्दर्य बोध के साथ-साथ, व्यावहारिक जीवन की शिक्षा और नीति-परक बातें भी हैं।

**कालिदास की शैली की मुख्य विशेषतायें**—कालिदास की काव्य-शैली पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उसकी शैली की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं। (1) **गुण और रीति**—कालिदास सरस वाणी के रस कवि थे। उनकी रचना में सर्वत्र प्रसाद गुण मिलता है। कालिदास की लोकप्रियता का प्रधान कारण है उनकी प्रसाद पूर्ण, लालित्ययुक्त और परिष्कृत-शैली। उनकी शैली में प्रसाद, माधुर्य और ओज इन तीनों गुणों की सत्ता है। (2) **भाषा**—उनकी भाषा सरस, सरल और मनोरम है, उसमें क्लिष्ट रचना, क्लिष्ट कल्पना और दुरुह प्रयोगों का अभाव है (3) **वर्णन-कुशलता**—कालिदास प्रत्येक वस्तु का सजीव वर्णन कुशलता पूर्वक करता है। जहां पर जैसा भाव है, वहां पर उसकी भाषा उसी प्रकार की है। वह प्रकृति के वर्णन में बहुत पटु है। (4) **सौन्दर्य-प्रेम**—कालिदास सौन्दर्योपासक कवि थे। वे सौन्दर्य की कोमल भावनाओं के सच्चे पारखी थे। (5) **भाव-व्यंजना**—कालिदास मानव-हृदय की कोमल भावनाओं, उसकी उत्सुकता और विह्वलता और उसके विविध भावावेशों के सच्चे पारखी थे।

**समालोचना**—अपने उपर्युक्त गुणों के कारण ही कालिदास की कविता विश्ववन्द्या हो गई है। प्राचीनकाल में कवियों की गणना का प्रसंग आने पर कालिदास का नाम सर्वप्रथम कनिष्ठिका उंगली पर रक्खा गया। बाणभट्ट के अनुसार कालिदास की आम्र मंजरी के समान सरस-मधुर सूक्तियों को सुनकर किसके हृदय में आनन्द का उद्रेक नहीं होता। नवम शताब्दि में आनन्द वर्धनाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' में लिखा है कि इस संसार में अनेक कवि पैदा होते हैं फिर भी उनमें से कालिदास के समान दो-तीन या अधिक से अधिक पांच-छः व्यक्तियों को ही महाकवि की उपाधि दी जा सकती है। टीकाकार मल्लिनाथ ने तो कालिदास की कला के बारे में यहां तक लिखा है, "कालिदास की वाणी के सार को आज तक केवल तीन व्यक्तियों ने ही समझा है, एक तो ब्रह्मा, दूसरे सरस्वती तीसरे कालिदास स्वयं। मेरे समान पुरुष तो उसको ठीक-ठीक समझने में असमर्थ हैं।"

कालिदास की सर्वतोमुखी प्रतिभा उन्हें विश्व-साहित्य में असाधारण स्थान प्रदान करती है। उन्होंने महाकाव्य व गीत काव्य सभी में अपनी प्रखर प्रतिभा का समान रूप से परिचय दिया है कोई भी एक कृति इनमें उनकी बराबरी नहीं कर

सकता। भारतीय आदर्श के अनुसार काव्य की अन्तरात्मा "रस" की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति कालिदास के काव्यों में हुई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। कालिदास, वास्तव में, संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से हैं।

कालिदास की चार काव्य रचनायें—कालिदास की चार काव्य कृतियां प्रामाणिक मानी गई हैं—ऋतुसंहार, मेघदूत, रघुवंश और कुमार संभव। रघुवंश और कुमार संभव महाकाव्य हैं, ऋतुसंहार नीतिकाव्य है व मेघदूत खण्डकाव्य है।

ऋतु संहार—यह कालिदास की संभवतः और प्रारम्भिक कृति है। यह अत्यन्त छोटा और सरल सादा काव्य है। इसमें छः सर्ग हैं और 153 श्लोक हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ऋतु का वर्णन है। इस ग्रन्थ में वर्ष की छः ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर और वसंत) का, उनकी गर्मी-सर्दी का, उनमें फूलने वाले पेड़-पौधों का, ऋतुओं के जीव-जन्तुओं का, मनुष्यों और अन्य प्राणियों पर पड़ने वाले ऋतुओं के प्रभाव का बड़ा भावुक और मधुर वर्णन किया गया है। इस रचना में कालिदास का सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण और प्रकृति प्रेम दोनों परिलक्षित होते हैं।

कवि कालिदास ऋतुओं को केवल प्राकृतिक रूप में ही नहीं देखता उन्हें वह मनुष्य की भावनाओं के साथ जुड़ा हुआ पाता है। ये ऋतुएं मनुष्य के मन में विभिन्न भावनाओं को जन्म देने में कारक का कार्य करती हैं। वे मनुष्य को आह्लादित करती हैं, उसे उदास करती हैं तो कभी उसकी आकांक्षाओं को तीव्र करती हैं। इस तरह कवि सभी स्थानों पर प्रकृति को मनुष्य की सहचरी के रूप में देखता है। कवि ने इस ग्रंथ में ऋतुओं का बहुत ही सजीव और सरल चित्रण किया है। शरद ऋतु का वर्णन कितना मोहक है —'शरद ऋतु कांस के वस्त्र पहिने हुए, खिले हुए कमल के सुन्दर मुखवाली शरद ऋतु हसों की ध्वनि के नूपुर पहिने हुए है। इसका शरीर पके हुए धान के समान सुन्दर है। ऐसी शरद्-ऋतु नव-वधु के समान धरती पर उतर रही है।" ऐसे ही सजीव चित्रण अन्य ऋतुओं के लिये किये गये हैं।

मेघदूत—यह खंड काव्य है। समूचा काव्य मन्दाक्रीता छंद में है और इसमें कुल 130 श्लोक हैं। यह गीतिकाव्य है। इसके दो भाग हैं—पूर्व मेघदूत और उत्तर मेघदूत। प्रथम भाग में यक्ष अपने कर्त्तव्य में आलस करने से अपने स्वामी कुवेर द्वारा अलका नगरी से निर्वासित होता है और वर्षाकाल आने पर अपने निर्वासन स्थान रामगिरि से मेघ को दूत बनाकर अपनी पत्नी के निवास स्थान अलका तक राह बताता उसे वहाँ भेजता है। कालिदास ने रामगिरि से लेकर अलका तक के मार्ग का—नदी, पर्वत, ग्राम, नगर, नर-नारी, प्रकृति आदि का—सरस एवं विस्तृत वर्णन किया है। सबको बड़े भावोद्रेक से प्रस्तुत किया है। दूसरे भाग में उसकी प्रोषित पति का विरहिणी यक्षिणी के विरह में कटे दिनों का करुणामय वर्णन है तथा यक्ष के भेजे गये संदेश का उल्लेख है इस प्रकार मेघदूत में एक विरह विधुर निर्वासित यक्ष तथा उसकी प्रिय पत्नी के वियोग में आतुर दशा का वर्णन है।

इसीलिए, यह वियोग और शृंगार का श्रेष्ठ काव्य है। इसमें मनुष्य की निश्चल, कोमल और गहरी प्रेम भावना अभिव्यक्त हुई है। अभिव्यंजना की सूक्ष्मता, कोमल भावना की अभिव्यक्ति और विषय की बहुलता के कारण मेघदूत को कालिदास की सर्वोत्कृष्ट रचना माना गया है।

मनुष्य की मनोदशा का इतना सजीव चित्रण मुश्किल से ही मिल पायेगा जैसा इस काव्य में बन पड़ा है। इसमें यक्ष व्याकुल होकर कहता है कि, "हे प्रिय, पत्थर के टुकड़े के ऊपर भिन्न-भिन्न रंगों वाली धातु की खड़िया से जब मैं तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूं, उस समय आंसू से मेरी आंखें भर जाती हैं और चित्रमें भी तुम्हारे दर्शन से वंचित कर दिया जाता हूं।" इस काव्य-ग्रन्थ के बारे में प्रो. कीथ का कहना है, "बादल के आगे बढ़ने के वर्णन का चमत्कार अथवा यक्षी के चित्र की करुणा की जितनी प्रशंसा की जाये उतनी थोड़ी है।" सारांश में यह काव्य समय और स्थान की सीमाओं को लांघकर सर्वदेशीय एवं सर्वकालीन हो गया है।

**रघुवंश**— यह कालिदास का प्रसिद्ध महाकाव्य है। इसकी गणना संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में की गयी है। इसमें श्री रामचन्द्र के पूर्वज, दिलीप, अज, रघु और दशरथ का वर्णन है, राम का गुणानुवाद और राम के वंशजों का चरित्र-चित्रण है। इसमें कुल 19 सर्ग हैं। इस महाकाव्य में कालिदास ने युद्ध, अभिषेक, विवाह, निर्वासन, विजय, सद्राज्य, चरित्र-चित्रण आदि का वर्णन सरस, मधुर और लालित्यपूर्ण काव्य शैली में किया है, इसमें कवि ने कई मार्मिक स्थलों का भावपूर्ण वर्णन करके अपनी लेखनी की सार्थकता सिद्ध कर दी है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर के मतानुसार, "रघुवंश में भारतवर्ष के प्राचीन सूर्यवंशी राजाओं का जो चरित्र गान है उसमें कवि की वेदना निहित है।" सारांश में, इसका प्रत्येक पद मनोहर और आकर्षक है। जैसे भाव ऊँचे हैं, भाषा भी उनके अनुसार सरल, आंजल और परिमार्जित है। 'रघुवंश का दूसरा सर्ग तो मानों भारतीय भावों का मधुर सूत्र है।

**कुमार सम्भव**—कालिदास का यह सुन्दरतम महाकाव्य है, उसकी प्रौढ़ कृति है। कुमार सम्भव में 17 सर्ग मिलते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास ने कुमार सम्भव के केवल आठ सर्ग ही लिखे, 9 सर्ग बाद में जोड़ दिये गये। क्योंकि मल्लिनाथ की टीका आठ सर्ग तक ही है तथा बाद में नौ सर्गों की भाषा और शैली विभिन्न है। तथा उनकी काव्यात्मकता में ओज का अभाव है। इस महाकाव्य में शिव-पार्वती के विवाह, कुमार स्वामि कार्तिकेय का जन्म तथा कुमार द्वारा तारकासुर के वध की कथा है। इसमें वसन्त, हिमालय और पार्वती तपश्चर्या का वर्णन तथा शिव-पार्वती संवाद बड़े मनोहर हैं। यह शृंगार रस का काव्य है। इसकी विशिष्टता है—कल्पनाओं की बहुरंगीनी, विषयों की विविधता और अनुभूतियों की उष्णता। इस महाकाव्य में कालिदास ने जीवन-दर्शन के कुछ सत्यों को प्रकट

करने का सफल प्रयत्न किया है तथा ऐश्वर्य्य के साथ तपस्या का महत्त्व सच्चे प्रेम के लिए आवश्यक माना है। तपस्या ही प्रेम को पवित्र बनाती है।

**कालिदास एक नाटककार के रूप में**—कालिदास के नाटक विश्व-विख्यात हैं। इस संबंध में कालिदास ने स्वयं लिखा है कि "मेरे नाटक तो नये हैं; पुराने कितने ही नाटक विद्यमान हैं। परंतु पुराना होने से कोई नाटक उत्तम नहीं कहा जा सकता और नया होने के कारण निन्दनीय भी नहीं माना जा सकता। कृति के गुण-दोष पर विचार करके परीक्षकों को निश्चय करना चाहिए कि कौनसा ग्रन्थ हेय है और कौनसा ग्राह्य।" उसके नाटकों के संवाद संक्षिप्त सरल और रोचक हैं। संवादों की भाषा इतनी चुस्त और मुहावरेदार है कि विषय को अत्यंत आकर्षक बना देती है। उसके प्रत्येक शब्द चुने हुये और उपयुक्त होते हैं। कालिदास मानव-हृदय की कोमल भावनाओं, उसकी उत्सुकता और विह्वलता और उसके विविध भावावेशों के सच्चे पारखी थे। कालिदास के नाटकों में—मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं।

**मालविकाग्निमित्रम्**—कालिदास का यह प्रारम्भिक नाटक है जो पांच अंकों में है; इस नाटक में कालिदास ने शुंग नरेश अग्नि मित्र और विदर्भ प्रदेश की राजकुमारी कुमारी मालविका के प्रेम का वर्णन किया है। मालविका संकटापन्न स्थिति में पड़कर अग्नि मित्र के रनवास में रानी की दासी बनकर रही थी। अग्नि मित्र अपने विदूषक की सहायता से मालविका से मिलने और उसे प्राप्त करने में सफल होते हैं। इस नाटक की महत्त्वशाली घटना यूनानियों का अश्वमेघ यज्ञ द्वारा, भारत से निष्कासन है। अस्तु, ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह नाटक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह कालिदास का प्रारम्भिक नाटक है और इसमें दोष भी हैं परन्तु उसमें उसकी काव्यकला और नाटककार की प्रचुर झलक है।

**विक्रमोर्वशीय**—यह कालिदास का दूसरा नाटक है जो पांच अंकों में है। इसमें प्रतिष्ठान के ऐल राजा पुरुरवा और उर्वशी के प्रणय, विरह और पुनर्मिलन का वर्णन है। जब स्वर्ग जाती हुई अप्सरा उर्वशी का दानव केशी ने अपहरण कर लिया, तब राजा पुरुरवा ने उसकी रक्षा की। फलतः दोनों परस्पर प्रेमबद्ध हो गये दोनों के प्रेम के बीच बार-बार बाधा-विघ्न उपस्थित होते हैं। अन्त में आयु नामक पुत्र पुरुरवा को देकर उर्वशी स्वर्ग को लौट जाती है। यह नाटक गीत काव्यात्मक अधिक है। इसमें अत्यन्त ही भाव प्रवण गीत हैं। पुरुरवा के प्रेम को कवि ने बहुत ही सजीव बना दिया है। उर्वशी के पुत्र के प्रति वात्सल्य पूर्ण भावना को भी कवि ने सफलता पूर्वक चित्रित किया है। इस नाटक में कालिदास ने प्रथम बार अपभ्रंश के छंदों का प्रयोग किया है। मालविकाग्निमित्र नाटक की अपेक्षा इस नाटक में कालिदास चरित्र-चित्रण और कथा-वस्तु को प्रस्तुत करने में अधिक सफल हुआ है।

**अभिज्ञान शकुन्तलम्**—यह कलिदास का विश्वविख्यात नाटक है। यह नाटक सात अंकों में है। यह कालिदास की सर्वांग सुन्दर कोमल कृति है, जो भारतीय नाट्य साहित्य की मुकुट मणि है। यह नाटक संस्कृत साहित्य का ही नहीं, अपितु विश्व साहित्य का उत्कृष्ट और उच्चकोटि का नाटक है। इसकी भाषा, व्यवस्था और रचना बड़ी मनोरम है। इसका कथानक महाभारत से लिया है, परन्तु नाटक को निर्दोष और सर्वांग-सुन्दर बनाने के लिए नाटकार कवि ने मूल कथा में कुछ परिवर्तन कर दिये हैं। इन परिवर्तनों से कथा और अधिक मनोहर और आकर्षक बन गई है। महाभारत की निर्जीव कथा में इन्होंने नव-जीवन फूँक दिया है।

**कथावस्तु**—इस नाटक में कालिदास ने महाभारत की प्रख्यात दुष्यंत-शकुन्तला की कथा का नाटकीय ढंग से विकास किया है। ऋषि कण्व के आश्रम में दुष्यंत-शकुन्तला का मिलन, शकुन्तला के हृदय में प्रेम की लुभावनी गुद-गुदी शकुन्तला को दुर्वासा ऋषि का शाप, शकुन्तला द्वारा दुष्यंत की दी गई अंगूठी का खो जाना, शकुन्तला की विदाई, दुष्यंत की राजसभा में शकुन्तला का प्रवेश, मछुआरों का दृश्य, दुष्यंत और शकुन्तला का पुनर्मिलन आदि नाटक के प्रभावोत्पादक दृश्य हैं। इस नाटक में जहाँ कालिदास ने एक बार दुष्यंत के रूप में एक आदर्श नरेश का स्वरूप प्रस्तुत किया है, वहीं दूसरी ओर शकुन्तला के स्वरूप में उन्होंने विशुद्ध भारतीय युवती और पत्नी का श्रेष्ठतम रूप भी प्रस्तुत किया है। इस नाटक में मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति में, चरित्र-चित्रण के प्रस्तुतीकरण में और प्रकृति के चित्रण में कालिदास ने अद्भुत नाट्य कौशल का परिचय दिया है।

**समालोचना**—यह नाटक शकुन्तला तथा दुष्यंत के प्रणय पर आधारित तो है ही परन्तु इसमें प्राकृतिक दृश्यों का जो स्वाभाविक चित्रण हुआ है, मनुष्य की मनोभावनाओं का सशक्त निरूपण हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ लगता है। नाटक में कई ऐसे मार्मिक स्थल हैं जो अनायास ही पाठकों के मन को मोह लेते हैं—शकुन्तला की कण्व मुनि के आश्रम से विदा, पेड़—पौधों से, पक्षियों से, पशुओं से मिलने व विदा कुछ ऐसे कारुणिक दृश्य हैं जो सहज ही मन को आकर्षित कर लेते हैं। मानव और प्रकृति में भावनाओं का आदान-प्रदान और आत्मीयकरण इस नाटक की शक्ति है। कवि ने जिस रूप में इसको प्रस्तुत किया है, वह उन्हीं की विशेषता है। आश्रम की सभी लतायें शकुन्तला को अपनी बहिन मानती हैं; मृग शिशु शकुन्तला के मन की बातों को जानते हैं, विदाई के अवसर पर उनका कपड़ा खींचते हैं; उसके वियोग में सारी वनस्थली रो पड़ती है। वृक्ष आँसू की तरह पत्ते गिराते हैं, मृग घास खाना और मयूर नाचना छोड़ देते हैं। सचमुच ऐसा सजीव चित्रण कालिदास जैसे कवि-नाटककार की महान् देन है। शकुन्तला की सुकुमारता, उसकी पवित्र मुग्धता उसका वियोग, उसकी तपस्या सभी का कवि ने बड़ी सफलता के साथ निरूपण किया है। यही कारण है कि भाषा की प्राञ्जवलता, भावों की गहराई, सजीव चित्रण,

रसों के सही निरूपण के कारण यह ग्रन्थ विश्व के महान् साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान सुरक्षित करा सका है।

**महत्त्व व स्थान**—इस नाटक का संस्कृत साहित्य में इतना ऊंचा स्थान है कि उसको पढ़े बिना कोई व्यक्ति साहित्यिज्ञ नहीं कहला सकता। गत सोलह सौ वर्षों से भारतीय साहित्य की रत्न-राशि में यह ज्वाजल्यमान हीरे की भाँति चमक रहा है। इस नाटक का अनुवाद संसार की सब शिष्ट भाषाओं में हो चुका है। विदेशी साहित्यकारों ने इस नाटक की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे की रचना "फाउस्ट" पर इसका प्रभाव पड़ा है।

जर्मन कवि गेटे का कहना है कि शकुन्तला विश्व की सर्वश्रेष्ठ कल्पना-कृतियों में एक है जिसमें **"यौवन का फूल और प्रौढ़ावस्था का फल"** एक साथ मिल सके हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर का मत है कि **"न तो शैक्सपियर का, न अन्य किसी पश्चिमीय अथवा भारतीय लेखक का नाटक कालिदास के इस नाटक की समानता कर सका है।"** प्रो० मेकडानल ने भी इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सारांश में, "शकुन्तला" में कालिदास की प्रतिभा अपने सर्वोच्च शिखर पर दिखाई देती है।

## V. गोस्वामी तुलसीदास और उनका साहित्य

भारतीय साहित्य धरोहर में महात्मा तुलसीदास का नाम और उनकी अमर रचना 'रामचरित मानस' अति उल्लेखनीय है। वाल्मीकि ने जिस प्रकार संस्कृत में रामायण महाकाव्य रचकर विश्व में अपना नाम सदैव के लिए अमर कर दिया, उसी प्रकार तुलसीदास ने हिन्दी में 'रामचरित मानस' महाकाव्य की रचना कर अपनी यश-चन्द्रिका से इस संसार को हमेशा के लिए आलोकित कर दिया है। यदि यह कहा जाय कि तुलसीदास के जोड़ का सत्कवि विश्व-साहित्य में दूसरा नहीं हुआ तो अत्युक्ति नहीं होगी। मध्यकाल के कवियों में तुलसी का स्थान श्रेष्ठतम कवियों में से है—इससे सभी सहमत हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने तो 'तुलसीदास को महात्मा बुद्ध के बाद उत्तरी भारत का सबसे बड़ा जन-नायक माना है।' डॉ० रमेश चन्द्र मजूमदार ने लिखा है कि "रामभक्ति के लेखकों में सबसे अधिक प्रसिद्ध तुलसी दास थे। वे न केवल उच्चकोटि के कवि थे, वरन भारत-निवासियों (हिन्दुओं) के लिए आध्यात्मिक गुरु भी थे, जहाँ उनका नाम एक घरेलू शब्द हो गया है और जहाँ उनकी स्मृति की लाखों व्यक्तियों द्वारा अर्चना की जाती है।"

**संक्षिप्त जीवन-परिचय**—गोस्वामी तुलसीदास का जन्म ई० सन् 1533 में राजापुर-तहसील जिला बांदा (यू. पी.) में हुआ था। ये सरयूपारीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। तुलसी के बचपन का नाम रामबोला रखा गया था। बचपन में ही माता-पिता के स्वर्गवास हो जाने तथा संरक्षक न मिलने के कारण तुलसीदास का बचपन बड़ी कठिनाई में

बीता था। उन्हें भिक्षा माँगकर अपनी उदरपूर्ति करनी पड़ी। कदाचित इसी अवस्था में रहने के कुछ समय बाद उन्होंने रामभक्ति की दीक्षा ली। उनके गुरु का नाम बाबा नरहरिदास था जिनके साथ काशी में पंच गंगा घाट पर जाकर रहे। वहीं पर रह रहे एक अन्य महात्मा शेष–सनातन ने इस बालक का नाम तुलसीदास रखा और उसे व्याकरण, वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास, पुराण और काव्य व नाटक 15 वर्ष तक पढ़ाये। कुछ काल पश्चात् 20 वर्ष की अवस्था में तुलसी का विवाह रत्नावली नामक सुन्दर कन्या से हुआ। कुछ दिन इन्होंने गृहस्थ का जीवन व्यतीत किया। थोड़े दिन बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो बचपन ही में मर गया। इनकी पत्नी सुन्दर थी पर गर्वीले स्वभाव की और तीखी थी, एक दिन उसकी व्यंग्योक्ति सुनकर तुलसीदास की वैराग्य भावना जाग उठी और उन्होंने गृह त्याग कर दिया। उस समय उनकी अवस्था 30 साल के लगभग थी। घर से निकलकर वे कुछ दिन काशी और फिर अयोध्या रहे। पीछे तीर्थाटन को निकल पड़े और जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, द्वारका होते हुए बद्रिकाश्रम गये, वहाँ से कैलाश और मानसरोवर तक गए। अन्त में चित्रकूट में आकर रहने लगे। वहाँ इनका बहुत से साधु-सन्तों और विद्वानों से सत्संग हुआ। फिर वहाँ से चलकर 1565 ई० में अयोध्या में रहने लगे, जहाँ रहकर उन्होंने 'रामचरितमानस' लिखना प्रारम्भ किया। बालकाण्ड, अयोध्या काण्ड और अरण्यकाण्ड वहां लिखने के बाद वे काशी चले आये और वहीं रहकर रामायण को सपूर्ण किया।

अब तुलसीदास भक्त और महात्मा माने जाने लगे थे। और इनकी मित्रता अम्बर-नरेश महाराजा मानसिंह, महान अकबर के मन्त्री अब्दुर्रहीम खानखाना, भक्त सूरदास, प्रसिद्ध भक्त नाभाजी आदि से हो गई थी। काशी में उनके विरोधियों-शैव व नाथ सम्प्रदाय वालों ने उन्हें काफी मानसिक और शारीरिक कष्ट पहुँचाया। 1624ई.के लगभग तुलसीदास जी की 91 वर्ष की अवस्था में काशी में ही मृत्यु हुई।

## तुलसीदास की रचनायें ; काव्य विशेषतायें

तुलसीदास ने बड़ी मात्रा में साहित्य तैयार किया। प्रामाणिक आधारों पर उनके द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ माने जाते हैं:—1. रामचरितमानस 2. विनय पत्रिका 3. कवितावली 4. गीतावली 5.कृष्ण गीतावली 6. दोहावली 7. रामलला नहछू 8. वैराग्य संदीपनी 9. पार्वती मगल 10. जानकी मंगल 11. बरवै रामायण तथा 12. रामाज्ञा प्रश्न। तुलसीदास ने इनके अतिरिक्त भी साहित्य रचा है, ऐसा माना जाता है। परंतु उचित प्रमाणों के अभाव में उस साहित्य को तुलसी के नाम के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

**तुलसीदास : पण्डित और कवि**—आचार्य चतुरसेन शास्त्री के अनुसार, तुलसी संस्कृत, हिन्दू दर्शन और धर्मशास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनकी अद्भुत वर्णन शैली, परिमार्जित भाषा और दार्शनिक भावों से ओत-प्रोत आध्यात्म वर्णन

इस बात को प्रकट करते हैं। पर पीछे ज्यों-ज्यों वे जीवन में आगे बढ़ते गये विद्वान की अपेक्षा कवि अधिक रह गये। उनकी प्रबन्ध रचना, चरित्र-चित्रण और भाव-प्रदर्शन अप्रतिम है। मानव समाज के स्वभाव से उनका गम्भीर परिचय था। इसी से वे ज्ञान के संस्थापक और भक्ति के प्रतिष्ठाता के रूप में अमर हुए। अपनी कविता की धारा में उन्होंने सैकड़ों, हजारों नए भावों और मुहावरों का सफल प्रयोग किया, जो सर्वथा मौलिक है। उनके हाथों में पड़कर प्रांतीय अवधी बोली समस्त उत्तराखण्ड की पूजनीय भाषा हो गई। उनके स्पर्श से व्रज भाषा भी निखर गई। उनके विचार स्पष्ट और निश्चल थे। उनमें न वंचक उक्ति थी, न अति-रंजना। उनकी कला में व्यापक सहृदयता का ऐसा प्रदर्शन है कि मानव-हृदय उस पर मुग्ध हो जाता है।

**काव्य की विशेषतायें**—तुलसीदास जी के काव्य में निम्नलिखित विशेषतायें थीं जिनके फलस्वरूप उत्तरी भारत में वे अधिक जन-प्रिय हो गया।

(i) **रस-सामग्री**—तुलसीदास रस-सिद्ध कवि हैं। उनकी सभी महत्त्वपूर्ण कृतियों में प्रभावशालिनी रस निबंधता हुई है। उनके प्रति पाद्य-विषय के अनुरूप भक्ति-रस ही मुख्य है, अन्य रसों की योजना गौण रूप में की गई है।

(ii) **चरित्र-अंकन**—चरित्रांकन कथात्मक काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः तुलसी ने चरित्रांकन की सभी विशेषताओं की ओर पूर्ण ध्यान दिया है। उनके पात्रों में ऐसी असाधारण विविधता पाई जाती है, जो बहुत ही कम कवियों की कृतियों में मिलती है।

(iii) **शब्दार्थ सन्तुलन**—तुलसी के काव्य में शब्दों और उनके अर्थों का सन्तुलन आश्चर्यजनक है। एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर जुड़ा हुआ है और उसे वहाँ से हटाया नहीं जा सकता।

(iv) **अलंकार योजना**—उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में कोई ऐसा स्थल नहीं मिलेगा, जहाँ उन्होंने अलंकार योजना न की हो। उनके अलंकारों का सौन्दर्य शब्द और अर्थ दोनों के वैचित्र्य पर आश्रित है।

(v) **भाषा पर अधिकार**—तुलसीदास ने तत्कालीन प्रचलित दोनों जन-भाषाओं—अवधि और व्रज भाषा—में साहित्य रचना की और दोनों पर उनका समान रूप से अधिकार था। उनकी 'रामचरितमानस' अवधि की और 'कृष्ण गीतावली' व्रजभाषा की सर्वश्रेष्ठ रचनायें हैं।

(vi) **छन्द योजना**—तुलसीदास ने अपने युग में प्रचलित सभी प्रमुख छन्द-शैलियों का उपयोग किया है। उनके पांच स्थूल वर्ग बनाए जा सकते हैं—दोहा, चौपाई, गीत, कवित्त-सवैया और बरवै। प्रत्येक छन्द की अपनी आकृति है और भावों के अनुकूल ही तुलसीदास ने उनका प्रयोग किया है।

## तुलसीदास का अमर काव्य—रामचरितमानस

रामचरितमानस तुलसीदास की सबसे प्रौढ़ और सर्वांगपूर्ण रचना है। वह सर्व-गुणसम्पन्न प्रबन्ध काव्य है। रामचरित मानस को उन्होंने 2 वर्ष 7 मास में सम्पूर्ण किया था। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के अनुसार, इस काव्य-ग्रन्थ का अयोध्याकाण्ड सबसे उत्कृष्ट और प्रौढ़ अंश है। उसमें उत्तम काव्य के सब गुण हैं, रसों का परिपाक और भावों का विकास उसमें खूब हुआ है। अलंकारों की जगमगाहट मानस-नेत्रों में चकाचौंध उत्पन्न करती है। वास्तव में मानस का अयोध्याकाण्ड तुलसी की कविता का बसन्त है। सम्भवतः यह काण्ड उन्होंने सबसे पहले अयोध्या में लिखा था। इसमें उन्होंने केवल राम और शिव को ही देवभाव से माना है। इस काण्ड में करुण रस का अति प्रभावशाली प्रवाह है। केवल राम के विवाह-प्रसंग पर थोड़ा श्रृंगार और हास्य है। लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड में कवि की प्रतिभा थकी हुई-सी दीख पड़ती है। उत्तर-काण्ड में फिर कवि का तेज प्रकट होता है। यहाँ भक्ति-रस का सुन्दर प्रदर्शन है। यह काव्य रचने के बाद तुलसीदास 49 वर्ष तक और जीवित रहे।

तुलसीदास ने अपनी कविता की भाषा देशकाल और परिस्थिति के अनुसार अधिकांश अवधी, कुछ ब्रजभाषा, कहीं-कहीं बुंदेलखण्डी और थोड़ी भोजपुरिया रखी है। तुलसीदास की भाषा में शुद्ध संस्कृत की संस्कृति और अपनी भाषा का प्रकटीकरण स्पष्ट है। उनकी नैसर्गिक कवित्व शक्ति ने उन्हें बोल-चाल की भाषा में रामचरितमानस लिखने के लिए बाध्य किया। यह स्पष्ट है कि वह विद्वान कवि की ग्रामीण भाषा है। उसमें संस्कृत काव्य का ही अनुकरण है। वह काल मुगल साम्राज्य के उदय का था। उस समय फारसी भाषा का बोलबाला हो चला था। इसलिए तुलसीदास ने फारसी-अरबी शब्दों को भी अपनी कविता में लेने से संकोच नहीं किया। केवल भाषा ही नहीं, इन्होंने कविता की शैली भी हिन्दी की परम्परा के अनुकूल दोहे और चौपाइयों में चुनी। उन्होंने छन्द भी लोक प्रचलित ही चुने थे। रामचरितमानस देशी-विदेशी अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं।

## रामचरित मानस में श्रीराम का चरित्र-चित्रण

रामचरित मानस में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन-वृत का वर्णन किया गया है। इसमें श्री राम के जीवन का विभिन्न अवस्थाओं एवं उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं का गोस्वामी जी ने बहुत ही सरस एवं सजीव ढंग से वर्णन किया है। इसमें राम के बाल्यकाल, युवाकाल एवं प्रौढ जीवन का सुन्दरतम ढंग से वर्णन किया है। श्रीराम को पुत्र के रूप में, भाई के रूप में, पति के रूप में, राजकुमार एवं तपस्वी के रूप में, एक आदर्श राजा के रूप में तुलसीदास ने समाज के सम्मुख उपस्थित किया है। उपर्युक्त प्रत्येक रूप में उनका आदर्श स्वरूप ही प्रस्तुत किया। गया है। सारांश में, श्री राम एक आदर्श मानव हैं, किन्तु विष्णु के अवतार हैं। तुलसी ने अनेक स्थलों पर राम को जगत-सृष्टा कहा है। तुलसी की भक्ति प्रधान

रूप से दास्यभाव की थी। उनके अवतार का उद्देश्य भक्तों व धर्मों का उद्धार करना था।

इसके अतिरिक्त, तुलसी के आदर्श राम ही नहीं थे, सीता भी उनके लिए आदर्श स्त्री थीं, भरत आदर्श भाई थे, कौशल्या आदर्श माता थी, हनुमान आदर्श भक्त थे जिन्होंने राम को अपना आदर्श माना, वे तुलसी के लिए आदर्श बन गये।

वास्तव में, तुलसीदास 'रामचरितमानस' के माध्यम से एक आदर्श राज्य, एक आदर्श समाज तथा आदर्श सामाजिक सम्बन्धों का निरूपण करना चाहते थे, जिनसे उनके समय का राज्य एवं समाज शिक्षा ग्रहण कर सके। अतः उन्होंने हर क्षेत्र के आदर्श व्यक्तियों को 'रामचरित मानस' में स्थान दिया है।

राम, सीता, लक्ष्मण आदि के चित्रण में तुलसीदास ने आदर्श चरित्र का निर्माण किया है जिसके द्वारा हम सत्य के निकट पहुँच सकते हैं और सत्कर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। राम–अवतार के रूप में चित्रित हैं, सीता स्वयं उत्पन्न है फिर भी सीता के बिछोह का दुःख राम अनुभव करते हैं और सीता भी उसी भांति विरह का अनुभव करती हैं। यहाँ सत्य व आदर्श का यथार्थ समन्वय मिलता है।

श्रीराम इस महाकाव्य के धीरोदात्त नायक हैं। कवि ने उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम तथा लोकनायक के रूप में चित्रित किया है। उनके चरित्र में शक्ति, और सौन्दर्य का अपूर्व मिश्रण है। उनके चरित्र में नर तथा नारायण के रूप का अपूर्व समन्वय कर कवि ने हिन्दू समाज के समक्ष भक्ति का आधार प्रस्तुत किया है।

तुलसी ने खल-विनाशक राम के शक्तिशाली जीवन द्वारा लोक-शिक्षा का पाठ पढ़ाया। किस प्रकार अत्याचार का घड़ा भरने पर फूटता है और अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह होता है और शान्ति का युग आता है, यह रामचरितमानस में देखने को मिलता है। तुलसीदास के राम पूर्ण मानव हैं। मानव के सुख-दुःख, राग-विराग की सम्पूर्ण भावनाएँ उनमें हैं। राम के रूप में युग ने जनता का पूर्ण रूप देखा।

सारांश में, मानस में चित्रित श्रीराम माता-पिता के पक्के भक्त एवं आज्ञाकारी पुत्र थे। वे न्याय व वीरता की साक्षात्कार मूर्ति थे। जनता की भावनाओं का आदर करने वाले न्यायी और उदार शासक थे। इसीलिए राम-राज्य आदर्श शासन माना जाता है। तुलसीदास ने मानस में श्रीराम के राज्य का आदर्श प्रस्तुत कर एक आदर्श राज्य के स्वरूप का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस तरह, **"तुलसीदास की यह अद्भुत सफलता है कि उन्होंने आदर्श चरित्र का सफल निर्माण किया है जिसके फलस्वरुप उनकी गणना विश्व के महान् कवियों में की जाती है।"** ऐसे समय में जबकि राज प्राप्ति के लिए राज्य-परिवारों में भाई-भाई एक दूसरे के खून के प्यासे बन रहे थे—उन्होंने राम और भरत को आदर्श रखा। इन्हीं गुणों के कारण रामचरितमानस जनता का अत्यन्त ही लोकप्रिय ग्रन्थ बन गया।

## तुलसीदास की महानता एवं जन-प्रियता

भक्ति आन्दोलन के कवियों में तुलसीदास का स्थान सर्वोपरि है। उनके समय से लेकर आज तक उनकी महानता और जन-प्रियता अपने सर्वोच्च स्तर पर स्थित है। तुलसीदास लोकदर्शी कवि थे। उन्होंने जीवन के विभिन्न पक्षों को सूक्ष्मता से देखा था। उनके समय की कोई भी परिस्थिति उनकी पैनी दृष्टि से नहीं बची थी। वस्तुतः उन्होंने अपने समय की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक-परिस्थितियों के सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं।

**महान् समाज दृष्टा**—तुलसीदास भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के अनन्य भक्त थे। वे समाज का एक विकसित रूप देखना चाहते थे। वे ऐसा समाज चाहते थे जिसमें सभी सुखी एवं प्रसन्न हों। वे समाज को प्राचीन आदर्शों पर आधारित देखना हते थे। वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ राम का सा आदर्श परिवार उन्हें प्रिय था। सीता सी आदर्श पत्नी वे हर स्त्री को देखना चाहते थे। गुरु का सम्मान व आदर्श स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने तत्कालीन पतनोन्मुख हिन्दू समाज के सामने राम-लक्ष्मण जैसे आदर्श व्यक्तियों के चरित्र को सामने रखकर समाज के उच्च आदर्शों की रक्षा करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया।

**महान् राष्ट्र दृष्टा**—तुलसीदास का साहित्य आदर्श समाज की रचना तक ही सीमित नहीं था। उनका आदर्श तो राम-राज्य की स्थापना था जिसमें सभी प्रजाजन सुखी और सम्पन्न हों। जिसमें राजा और प्रजा का सम्बन्ध साधारण सम्बन्धों पर आधारित न होकर पिता और पुत्र के सम्बन्धों पर आधारित हो। राजा का कर्त्तव्य अपनी प्रजा को सुखी देखना था। वे मानते थे—'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।' यही नहीं, राजा को प्रजा प्राणों की तरह प्यारी होनी चाहिए। यह उनका आदर्श था। वे शासन को भय और अन्याय पर आधारित न मानकर प्रजातान्त्रिक सिद्धांतों पर आधारित मानते थे। 'मनसा वाचा कर्मणा' राजा को प्रजा का हितैषी होना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक आदर्श, सुन्दर राज्य की परिकल्पना नहीं की जा सकती। राजा की शोषक मनोवृत्ति और सामन्तशाही प्रवृत्ति ने राजा को मानव से दानव बना दिया था। प्रजा असहाय और अरक्षित थी। अतः तुलसीदास ने आदर्श राज्य की कल्पना अपने महान् काव्य रामचरितमानस में प्रस्तुत की जो कई दृष्टियों से अपनी तरह की मौलिक रचना है। "तुलसी ने अत्याचारी प्रशासकों द्वारा किये गये शोषण के विरुद्ध कोई विद्रोह तो खड़ा नहीं किया, झकझोर देने वाली शब्दावली में उथल-पुथल मचा देने वाला लोमहर्षक वर्णन भी नहीं किया, परन्तु कर उगाहने की आदर्श रीति बतलाकर व्यंजना द्वारा उस शोषण का संकेत अवश्य किया।" इतिहासकार वी० स्मिथ के अनुसार, "तुलसीदास भारत में अपने युग के सबसे महान् व्यक्ति थे—स्वयं सम्राट् अकबर से महानतर।"

**महान समन्वयकारी सन्त**—तुलसीदास ने अपने साहित्य में धार्मिक समन्वय की बात स्वीकार की है। उनका धर्म कभी कट्टरता की सीमाओं से बंधा धर्म नहीं रहा। उन्होंने छोटी-छोटी बातों पर धार्मिक वैमनस्य की भावना की निन्दा की है। उन्होंने धर्म का विशाल, व्यापक एवं महिमामय स्वरूप का अपने काव्य में निर्देश किया है। उनका धर्म समय पर आधारित है, लोक कल्याण उसका साधन तत्व है तथा नियम और शील उसके अंग हैं। इस प्रकार 'शील और नियम, आत्मपक्ष एवं लोकपक्ष के समन्वय द्वारा धर्म की यही सर्वतोमुखी रक्षा रामचरित मानस का गूढ़ रहस्य है।

तुलसीदास ने किसी नवीन पन्थ या सम्प्रदाय को जन्म नहीं दिया। इस पर भी उनका नाम अमर हो गया। वास्तव में, तुलसीदास किसी नवीन सम्प्रदाय की नींव डालने की अपेक्षा विभिन्न विचारधाराओं में समन्वय का प्रतिपादन करना अधिक उचित समझते थे। यथार्थ में, लोकनायक भी वही व्यक्ति हो सकता है जिसमें समन्वय करने की क्षमता हो।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, "लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। महात्मा बुद्ध समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे"। तुलसी का सम्पूर्ण काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। डॉ० बद्रीनारायण श्रीवास्तव के शब्दों में, "दार्शनिक दृष्टिकोण से उनकी साधना समन्वय की ही साधना प्रतीत होती है।"

तुलसीदास स्वयं राम के अनन्य भक्त थे, पर रामचरित मानस में उन्होंने शिव की महिमा का भी गान किया है। उन्होंने बताया कि राम और शिव दोनों ईश्वर के रूप हैं। तुलसी ने राम को निर्गुण व सगुण बताते हुए कहा है कि वस्तुतः राम एक है। तुलसी ने वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भक्ति के क्षेत्र में शूद्र को समान स्थान दिया है। रामचरित मानस में क्षत्रिय भरत और ब्राह्मण वशिष्ठ को निम्न जाति के निषाद और केवट का आत्मविस्मृत होकर आलिंगन करते हुए दिखाया गया है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा तुलसीदास अपने युग के महान समन्वयकारी सन्त थे। उनके रामचरित मानस से ज्ञान व भक्ति का समन्वय, वैराग्य और गृहस्थ का समन्वय; भक्ति और मुक्ति का समन्वय तथा मर्यादित लोक व्यवस्था और अद्वैती ज्ञान का समन्वय हुआ है। अतः यह उचित ही कहा गया है कि "हिन्दू समाज व धर्म में तुलसीदास समन्वय के प्रतिपादक थे।"

# 6

# भारतीय समाज पर इस्लाम का प्रभाव

तथा

# मध्यकाल में सांस्कृतिक समन्वय सम्बन्धी प्रयत्न

**(Impact of Islam on Indian Society & Attempts on Cultural Synthesis in Medieval Period)**

I. इस्लाम और पैगम्बर मुहम्मद : सिद्धान्त व शिक्षायें
II. हिन्दू समाज पर इस्लाम का प्रभाव
III. मुस्लिम समाज पर हिन्दुत्व का प्रभाव
IV. मध्य युगीन सांस्कृतिक समन्वय
V. हिन्दी साहित्य में मुस्लिम कवियों का योगदान

---

## I. इस्लाम और पैगम्बर मुहम्मद : सिद्धान्त व शिक्षायें

सम्राट् हर्ष के पश्चात् राजपूत युग में भारत में एक ऐसे विदेशी तत्त्व ने प्रवेश किया जिसकी सभ्यता और संस्कृति विकसित थी। यह तत्त्व इस्लाम था। इस्लाम की उत्पत्ति तथा प्रसार संसार के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस एशियाई महान् धर्म का जन्म, सातवीं शताब्दी के आरम्भ में, अरब देश में हुआ। एक शताब्दी के अन्दर यह धर्म उत्तरी अफ्रीका, ईरान, अफगानिस्तान, चीन मिश्र तथा संसार के कई अन्य देशों में फैल गया। यद्यपि भारत में इस धर्म का प्रसार दूसरे देशों की अपेक्षा काफी समय बाद हुआ, तथापि इसने भारतीय समाज व संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला। दो विभिन्न संस्कृतियों, हिन्दू और मुस्लिम, के समाघात के फलस्वरूप, भारत में, सांस्कृतिक जीवन के नवीन समन्वय का विकास हुआ।

**सिद्धान्त**—इस्लाम के पैगम्बर हजरत मुहम्मद (577-633 ई०) ने अपने अनुयायियों को निम्नलिखित आदेशों का पालन करने को कहा था। ये आदेश इस्लामी जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। 1. कलमा—प्रत्येक मुसलमान को अल्लाह व उसके पैगम्बर में दृढ़-विश्वास रखना चाहिये और 'कलमा' (ला इलाहा

इल्लिल्लाह मुहम्मदुर्रसुलिल्लाह) पढ़ना चाहिए। इसके अर्थ हैं "अल्लाह के अतिरिक्त और कोई पूजनीय नहीं है तथा मुहम्मद ही उसके रसूल (सन्देशवाहक) हैं।" 2. जकात—प्रत्येक समृद्ध मुसलमान को अपनी आमदनी का ढ़ाई प्रतिशत भाग दान-खैरात में देना चाहिये जिसे जकात (धार्मिक-कर) कहा जाता है। 3. नमाज—प्रत्येक धर्म-भीरू मुसलमान को प्रतिदिन पाँच बार नियमित रूप से अल्लाह की इबादत (प्रार्थना) करनी चाहिए, अर्थात् नमाज पढ़ना चाहिए। 4. रोजा (व्रत)—रमजान के पवित्र मास में उसे रोजे रखना चाहिए अर्थात् सूर्योदय पूर्व से सूर्यास्त के मध्य बिल्कुल भूखा-प्यासा रहे। 5. हज (तीर्थ-यात्रा)—जीवन में एक बार, बिना कर्ज भार उठाये, उसे मक्का-मदीने की तीर्थ-यात्रा करना चाहिए।

## मुख्य शिक्षाएँ

हजरत मुहम्मद की शिक्षाएँ बड़ी सरल हैं। उनके उपदेशों व कार्यों का संकलन 'हदीस' नामक ग्रन्थ में संकलित हैं।

(1) **एक ईश्वर में दृढ़-विश्वास**—संसार में केवल एक ही अल्लाह अथवा ईश्वर है जो सर्वोच्च और महान् है। वही सबको जीवन देने वाला और पालने वाला है। मनुष्य को एक अल्लाह में ही दृढ़ विश्वास रखना चाहिये और उस अतिरिक्त अन्य किसी देवी-देवता की पूजा नहीं करनी चाहिये।

(2) **मनुष्य मात्र को समान मानना**—इस्लाम के अनुसार, संसार के सभी मनुष्य मूल-रूप से एक-समान हैं, आपस में भाई-भाई हैं। जन्म से कोई छोटा या बड़ा नहीं है। जाति, धर्म और वर्ग के आधार पर भेद-भाव करना मनुष्य मात्र की समानता व एकता के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

(3) **मानव जाति की सेवा**—कुरान में कहा है, "जो व्यक्ति अपने मुसलमान भाई की आवश्यकता पूरी करता है, ईश्वर उसकी आवश्यकता को पूरा करता है। जो किसी के दुःख को दूर करने में सहायता देता है, अल्लाह उसके दुःख दूर करता है। जो लोग अपने भाइयों पर दया नहीं करते, उन्हें ईश्वर की ओर से दया की आशा नहीं करनी चाहिये।

(4) **मूर्ति-पूजा का खण्डन**—इस्लाम में, एक मात्र सर्व शक्तिमान ईश्वर-अल्लाह की इबादत (उपासना) को छोड़कर, किन्हीं भी देवी-देवताओं की मूर्ति-पूजा करना महापाप माना गया है। बुतपरस्ती (मूर्ति-पूजा) एक अज्ञान माना गया है।

(5) **कर्म तथा स्वर्ग-नर्क के सिद्धान्त में विश्वास**—पैगम्बर मुहम्मद का विश्वास था कि शुभ कर्म करने वाले तथा कर्त्तव्य-परायण लोग ईश्वर के सच्चे भक्त हैं। प्रलय (कयामत) के दिन प्रत्येक व्यक्ति को इस संसार में किये उसके अच्छे या बुरे कामों के अनुसार फल मिलेगा। एक सदाचारी व्यक्ति को स्वर्ग के सुख प्राप्त होंगे, जबकि दुराचारी को नर्क में डाल दिया जायेगा।

(6) **प्रार्थना में विश्वास**—हजरत मुहम्मद के अनुसार, मनुष्य की अध्यात्मिक उन्नति के लिये इबादत (प्रार्थना) अति आवश्यक है। प्रार्थना या इबादत करने पर मनुष्य का अल्लाह में विश्वास दृढ़ होता है। प्रार्थना मनुष्य को अपने कर्त्तव्य के प्रति सावधान रखती है; उन्हें अभिमानी होने से बचाती है और अत्यन्त निराशा के क्षणों में भी उसे धीरज देती है। इस्लाम का पवित्र धार्मिक ग्रन्थ 'कुरान' है जिसमें ईश्वरीय सन्देश संकलित है।

## भारत में मुस्लिम शासन की विशिष्टताएँ

भारत में नवीन इस्लामी या मुस्लिम संस्कृति अरबों द्वारा लायी गयी थी। भारत में इस्लाम धर्म और संस्कृति का प्रचार व प्रसार दो प्रकार से हुआ—शान्तिपूर्वक और बलपूर्वक। प्रथम ढंग से प्रचार करने वाले अरब व्यापारी, मुस्लिम फकीर व दरवेश थे। द्वितीय प्रकार से प्रचार करने वाले तुर्की और मुगल आक्रान्ता थे। प्रो० बी० एन० लूनिया के अनुसार, भारत में मुस्लिम शासन की कुछ विशिष्टताएँ हैं। (1) भारत में मुसलमानों का इतिहास राष्ट्रीय विकास की अपेक्षा राजाओं, राजसभाओं और विजयों का इतिहास है। उसमें आम लोग और उनकी संस्कृति को कोई महत्त्व नहीं दिया गया, उन्हें गौण स्थान प्राप्त था। (2) प्रारम्भिक राजवंश अल्पकालीन थे। इन कुलों का इतिहास वीरता, महानता, वैमनस्य, संघर्ष और अधःपतन का है। (3) मुसलमान ही भारत के सर्वप्रथम आक्रामक थे जिन्हें हिन्दू समाज अपने में सम्मिलित न कर सका। मुस्लिम भारत में सदैव विभिन्न समुदाय ही बने रहे। उनका इस्लाम धर्म दृढ़ एकेश्वरवादी धर्म होने के कारण हिन्दू बहुदेववाद से मतैक्य न कर सका। इसके अतिरिक्त, दूसरे धर्म को निगलकर उसे अपने रक्त, मांस व मज्जा में मिश्रित कर अपना अंग बना लेने की हिन्दू धर्म में जो प्राचीन विलक्षण शक्ति थी, वह मुसलमानों के आगमनकाल तक प्रायः क्षीण हो चुकी थी। जिन लोगों के पूर्वज विधर्मियों को अपना अंग बना लेते थे, वे उनका स्पर्श मात्र महापाप समझने लगे। अतएव हिन्दू और मुसलमान एक ही देश में रहने पर भी परस्पर घनिष्टता से घुल-मिल न सके। इस खाई को भरने में वे पूर्ण सफल न हो सके। यद्यपि श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने ग्रन्थ 'भारत की खोज' (Discovery of India) में यह लिखा है कि बाहर से आये मुस्लिम आक्रमणकारी शीघ्र ही भारत में विलीन हो गये। उनके राजवंश सम्पूर्णतः भारतीय हो गये। वे भारत को ही अपनी मातृ-भूमि मानते और विश्व के अन्य भागों को विदेश मानते थे। (4) भारत के सभी आक्रमणकारियों में मुसलमान ही केवल ऐसे थे जिन्हें भारत के विरुद्ध धर्म-युद्ध (जिहाद) घोषित किया। उनमें अपने धर्म-प्रसार के लिये लगन और उत्साह था। वे धार्मिक उत्साह से परिपूर्ण थे और दूसरे लोगों को अपने धर्म की दीक्षा देने के निर्दिष्ट विचार से आये थे। दूसरों का धर्म-परिवर्तन करने की उनमें दृढ़-भावना थी, न क़ि दूसरों के धर्म में विलुप्त हो जाने की। उनमें अत्यधिक धार्मिक चेतना

थी। (5) अन्तिम यह कि, 1200 ई० से 1580 ई० तक भारत में मुस्लिम राज्य और समाज ने अपनी मूल-भूत सैनिक और घुमक्कड़ता की विशेषताओं को बनाये रखा। उस काल में शासन करने वाली ये जाति देश में सशस्त्र समुदाय के समान रहती थी।

इतना सब कुछ होने पर भी हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म का जो संघर्ष हुआ, इतिहास में उसका विशेष महत्त्व है। दो विरोधी संस्कृतियों का सम्पर्क, सम्मिलन और सम्मिश्रण भारतीय इतिहास की शिक्षाप्रद घटना है। इन दोनों संस्कृतियों के संयोग और समन्वय के अनेक कारण थे, जिनका कुछ विस्तार से आगे विवेचन प्रस्तुत है।

मुस्लिम आक्रमणों के साथ-साथ भारत में नवीन, विभिन्न और निर्दिष्ट सामाजिक तथा धार्मिक विचारों ने प्रवेश किया और इनका सम्पूर्ण एकीकरण असम्भव था। परन्तु जब कभी दो प्रकार की सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ सदियों तक परस्पर सम्पर्क में आती हैं, तो वे एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार सुदीर्घकाल से संसर्ग, नवीन भारतीय मुसलमानों के समुदाय के विकास, मुस्लिम तुर्क व अफगान व मुगल आक्रमणकारियों के भारत में बस जाने से हिन्दू स्त्रियों से उनके विवाह, हिन्दू और मुस्लिम सन्तों और उनके अनुयायियों के पारस्परिक सम्पर्क, मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दू कलाकारों, शिल्पियों और साहित्यिकों के संरक्षण और इनके उदार आन्दोलनों के प्रभाव के कारण हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के विचार और प्रथाओं को अपनाकर उनका समीकरण करने वाले थे। इसके फलस्वरूप भारत में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

हिन्दू और इस्लामी संस्कृतियों के मिलन से सामाजिक, आर्थिक, कला और साहित्य के क्षेत्र में राष्ट्रीय प्रणालियों तथा शैलियों की स्थापना हुई। इसी के फल-स्वरूप आधुनिक युग की भारतीय संस्कृति की आधारशिला रखी गई। वर्तमान में हमारी एक ऐसी संस्कृति है जो न हिन्दू है न मुस्लिम, केवल भारतीय है।

## II. हिन्दू समाज पर इस्लाम का प्रभाव
### (Impact of Islam on Hindu Society)

"भ्रातृत्व-भावना, धार्मिक भावना, आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास तथा भारतीय समाज का दो विभिन्न श्रेणियों में विभाजन आदि भारत को इस्लाम की ही देन है।"

—डॉ० के० एम० पणिक्कर

**1. सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में प्रभाव**—जब मुसलमान अरब, तुर्क, अफगान, मुगल आदि भारत में आये तो अपने साथ रहन-सहन, वेश-भूषा और शिष्टाचार के तरीके भी लाये। इन तरीकों का भारतीय जनता पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। हिन्दू समाज, अपने बीच में इस्लाम के आ जाने से निम्न-लिखित रूप से प्रभावित हुआ।

(i) **रहन-सहन और वेश-भूषा तथा शिष्टाचार पर प्रभाव**—मुसलमान बादशाहों की तड़क-भड़क वाली पोशाक देखकर भारतीय शासकों ने भी उसी ढंग की पोशाकें पहनना आरम्भ कर दिया। उनके दरबारी ढंग भी मुस्लिम सुल्तानों जैसे हो गये। दरबारों में नाच-गानों का आयोजन भी मुस्लिम ढंग से ही होने लगा। अब हिन्दू शासक भी मुसलमानों की भाँति विलासपूर्ण जीवन-व्यतीत करने लगे। मुस्लिम राजसभा का जो शिष्टाचार था और बैठक के लिये जो श्रेणियाँ थीं, उनका अनुकरण हिन्दू नरेशों और सामन्तों ने किया।

हिन्दुओं की वेश-भूषा तथा खान-पान पर भी मुसलमानी प्रभाव पड़ा। अब हिन्दू लोग भी मुसलमानों की तरह चुस्त, रंगीन और भड़कीले वस्त्र धारण करने लगे। उत्तरी भारत की स्त्रियों ने तो साड़ी के स्थान पर घाघरे का प्रयोग आरम्भ कर दिया। हिन्दुओं में जो मुगल शासन के उच्च पदों पर नियुक्त थे, मुसलमानी खान-पान की नकल करने लगे। पुलाव, कबाब तथा कोफ्ता आदि उनके प्रिय व्यंजन हो गये। इनमें से अधिकतर हिन्दुओं ने तो मुसलमानों के आचार-व्यवहार, सामाजिकता के ढंग तथा अभिवादन का तौर-तरीका अपना लिया। इस सम्बन्ध में श्री गौरीशंकर भट्ट ने लिखा है कि, "वेश-भूषा में अचकन और पाजामा, अंगरागों में इत्र और सुरमा, हिन्दू व्यंजनों में मध्य एशिया के पुलाव एवं बिरियानी और मसालेदार व्यंजनों को बनाने की कला का हिन्दू संस्कृति में समावेश हुआ। तत्कालीन मनोरंजनों में शतरंज, चौगान और गंजाफा मुसलमानों के योगदान हैं।" तीतर लड़ाना, कबूतर उड़ाना तथा पतंग उड़ाना आदि भी मुसलमानों की तरह हिन्दुओं में प्रचलित हो गया।

(ii) **सामाजिक समानता की भावना का विकास**—इस्लाम द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समानता के सिद्धान्त ने हिन्दुओं की निम्न जातियों को अत्यधिक प्रभावित किया। इसका कारण यह था कि इन जातियों के व्यक्तियों को उच्च जातियों के लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। डॉ० पी० एन० चोपड़ा के अनुसार, "इस्लाम ने जन्म और पैतृकता के महत्त्व को कम कर दिया और इसके प्रभाव ने हिन्दू धर्म में सामाजिक समानता और भ्रातृत्व की भावनाओं को शक्तिशाली बना दिया।" डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने भी लिखा है कि हिन्दू समाज पर इस्लाम का यह प्रभाव पड़ा कि मुसलमानों के सामाजिक संगठन के कुछ जनवादी सिद्धान्तों को हिन्दुओं ने अपना लिया। हिन्दू सुधारकों तथा उपदेशकों ने सभी धर्मों की आधारभूत एकता और एक ही परमात्मा के विचार को प्रतिपादित किया। उन्होंने सभी जातियों की एकता पर बल दिया और बताया कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए किसी विशेष जाति में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है।

(iii) **रूढ़िवद्धता में दृढ़ता**—मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं को इस्लाम धर्म में दीक्षित करने के प्रयासों के कारण हिन्दुओं की रूढ़िवद्धता और दृढ़ हो गई। ब्राह्मण

धर्म गुरुओं का विचार था कि वे मुसलमानों से अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा तभी कर सकते हैं, जब वे अधिक कट्टर बन जायें। इस हेतु हिन्दू-समाज में जाति-बन्धनों और आचार-व्यवहार के नियमों को इतना कठोर बना दिया गया, जितने वे पहिले कभी नहीं थे। इस काल में जाति-प्रथा तथा नियमों सम्बन्धी अनेक स्मृतियों की रचना की गई। इसके फलस्वरूप जहाँ एक ओर हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा हो सकी, तो दूसरी ओर हिन्दुओं में जो गतिशीलता तथा समन्वय की भावना थी, वह समाप्त हो गयी। दूसरे शब्दों में, हिन्दू समाज में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का समावेश हो गया।

(iv) **आधुनिक भारतीय भाषाओं और साहित्य का विकास**— इस्लाम के प्रभाव के कारण स्थानीय भाषाओं का विकास हुआ। अकबर के शासन काल की शांति और समृद्धि ने साहित्यिक प्रेरणा दी और सब प्रान्तों में प्रान्तीय साहित्य का विकास हुआ। इस काल में बंगला, मराठी, पंजाबी, सिन्धी और अवधी में अनेकों उत्तम पुस्तकों की रचना हुई। मैथिली भाषा में विद्यापति के गीतों को, बंगला में चण्डीदास के गीतों को और राजस्थानी में मीरा के भजनों को साहित्य की अमूल्य कृतियाँ स्वीकार किया गया। स्थानीय भाषाओं में अरबी और फारसी के अनेकों शब्दों को स्थान दिया गया। डॉ. पी. एन. चौपड़ा के अनुसार, सन् 1830 में मराठी भाषा में 35% शब्द फारसी के थे। डॉ. ताराचन्द के अनुसार पंजाबी और सिन्धी में फारसी शब्दों की संख्या और भी अधिक थी।

(v) **इतिहास व जीवनी का लेखन**—प्राचीन काल में हिन्दुओं ने शुद्ध इतिहास की पुस्तकें नहीं लिखीं। हमें संस्कृत में केवल चार जीवनियाँ मिलती हैं, पर इनमें तथ्यों को अलंकार और शैली से बहुत कम महत्त्व दिया गया है। इनमें तिथियों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इनके विपरीत अरब निवासियों को अपने कार्यों को लेखबद्ध करने में अत्यधिक रुचि थी। संसार में वे जहाँ भी गये, वहाँ से प्रायः सभी तथ्यों को तिथियों के अनुसार लिखकर सुरक्षित रखा। उनके भारत आगमन के बाद उनके इस कार्य का प्रभाव यहाँ के निवासियों पर भी पड़ा। फलस्वरूप इतिहास की अनेकों पुस्तकों, जीवनियों और आत्म-कथाओं की रचना हुई। मध्यकाल में बहुत से हिन्दु लेखकों ने भी इस प्रकार की पुस्तकों की रचना की। इसके परिणाम का उल्लेख करते हुए डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिखा है, "हिन्दू लेखकों ने स्वाभाविक रूप से मुसलमानों का अनुसरण किया और इस प्रकार भारतीय साहित्य में एक नवीन और अत्यधिक लाभप्रद तत्त्व का समावेश हुआ।"

(vi) **ज्ञान का प्रसार**—भारत में इस्लाम के आगमन से एक अति महान् लाभ हुआ। हिन्दू अपने द्वारा लिखित ग्रन्थों को गुप्त रखना चाहते थे। इसके विपरीत मुसलमान अपनी पुस्तकों की अधिक से अधिक प्रतिलिपियाँ करवाके अधिक से अधिक शिक्षित व्यक्तियों को इनके द्वारा लाभान्वित करना चाहते थे। इस कार्य

में कागज के आविष्कार ने सहायता दी। "अकबर जैसे शासकों के संरक्षण में अनेकों प्राचीन भारतीय पुस्तकों का अनुवाद किया गया और उन्हें वे-रोक-टोक जनता तक पहुँचाया गया, जिसके फलस्वरूप ज्ञान का प्रसार हुआ।"

(vii) उर्दू भाषा का जन्म—दिल्ली मुस्लिम शासन की स्थापना से पहले ही वहाँ एक नई भाषा का विकास हो गया, क्योंकि वहाँ विभिन्न भाषाओं को बोलने वाले व्यक्ति रहते थे। वहाँ बोली जाने वाली भाषा खड़ी बोली, ब्रज-भाषा, राजस्थानी और हरियाणा की भाषा का मिश्रण थी। तुर्क शासन काल के प्रारम्भ में उस भाषा में फारसी और पंजाबी के शब्द मिश्रित हो गये। इसके फलस्वरूप एक नई भाषा 'रेख्ता' (उर्दू) का जन्म हुआ। डॉ. पी. एन. चोपड़ा का कथन है कि "हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों की पारस्परिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप 'रेख्ता' या उर्दू नामक एक नई भाषा का जन्म हुआ। यह भाषा वास्तव में हिन्दी थी, जो फारसी और अरबी शब्दों द्वारा मुहावरों को अपनाने से बहुत काफी बदल गई।"

(viii) बाह्य संसार से सम्पर्क—इस्लाम का एक अन्य प्रभाव था—भारत के बाह्य संसार से पुनः सम्पर्क। प्रारम्भिक बौद्ध युग में भारत का एशिया के देशों से, विशेष रूप से चीन, मिश्र, रोम तथा यूनान से घनिष्ठ सम्बन्ध था। 480 ई. में गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद भारत का बाह्य संसार से सम्पर्क प्रायः समाप्त हो गया। अरब व्यापारियों ने भारत आकर इस सम्पर्क को फिर स्थापित किया। पर इस सम्पर्क में अन्तर था। कारण यह था कि बहुत कम हिन्दू और भारतीय मुस्लिम अन्य देशों में व्यापार करने के लिए अपने देश से बाहर गये। इसके विपरीत बुखारा, समरकन्द, बल्ख, खुरासान और फारस आदि से सैकड़ों व्यापारी आते थे।

डॉ पी. एन. चोपड़ा ने लिखा है कि 17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ये व्यापारी प्रति वर्ष कम से कम 14,000 ऊँटों पर माल लादकर भारत से कन्धार को ले जाते थे। भड़ौच, सूरत, चॉल, गोवा आदि बन्दरगाहों से अरब, फारस, तुर्की, मिश्र, अबीसीनिया आदि देशों को भारतीय वस्तुयें निर्यात की जाती थीं। मुगल शासकों ने यूरोप के देशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहित किया और वहाँ के व्यापारियों को भारत के तट पर अपनी फैक्ट्रियाँ स्थापित करने की अनुमति दी। इन सब बातों के फलस्वरूप भारत का सम्पर्क बाह्य संसार से फिर स्थापित हो गया। इस सम्बन्ध में प्रो. हुमायूँ कबीर के अनुसार, "इसके परिणामस्वरूप न केवल व्यापारिक सम्बन्ध ही स्थापित हुए, वरन् विचारों, रीति-रिवाजों का आदान-प्रदान भी हुआ तथा समकालीन स्थानीय विचारों की गति तीव्र हुई।"

(ix) विज्ञानों पर प्रभाव—मुसलमान कुछ विज्ञानों में हिन्दुओं से कहीं अधिक प्रगति कर चुके थे। अतः इस्लाम का भारतीय विज्ञानों पर स्पष्ट और निश्चित प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ—हिन्दुओं ने मुसलमानों से नजूम (ज्योतिष-

विज्ञान) में गणना करने के लिए 'ताजिक' पद्धति का प्रयोग सीखा। उन्होंने 'तेजाबों' का ज्ञान भी मुसलमानों से प्राप्त किया। देशान्तर और अक्षांस रेखाएं गिनने की पद्धति भी हिन्दुओं ने मुसलमानों से ही सीखी। रमल फेंककर सुगन विचारने की प्रथा अरबों के साथ ही भारत में आई। कागज बनाने की कला भी मुसलमानों के साथ भारत में आई। कलई करना, पत्थर, चाँदी और सोने पर मीनाकारी का काम, कलाबूत, किमखाब, जिल्दसाजी आदि शिल्प कला भी भारत में मुसलमान ही यहाँ लाये थे।

मुसलमानों ने भी हिन्दुओं से उन विज्ञानों का ज्ञान प्राप्त किया, जिनमें हिन्दू उनसे अधिक प्रगति कर चुके थे। इस सम्बन्ध में डॉ. ताराचन्द ने लिखा है—"विज्ञान में, हिन्दुओं ने गणित, खगोल-विद्या और औषधि-शास्त्र की अत्यधिक विकसित प्रणालियाँ विरासत में प्राप्त की थीं और ज्ञान के इन क्षेत्रों में उन्होंने अरबों को अपना ऋणी बनाया था।'

(x) **मुस्लिम प्रशासन का प्रभाव**—480 ई. में गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया था। इस कारण एकात्मक (केन्द्रीय) प्रकार की सरकार असंभव हो गई थी। इस्लाम के अनुयायी मुगलों के साम्राज्य के अन्तर्गत भारत को पुनः एक प्रकार की राजनीतिक एकता प्राप्त हुई, जिसके परिणामस्वरूप प्रशासन का बहुत-कुछ एकसा रूप संभव हो गया। उदाहरण के लिए, यद्यपि मुगलों की कर-प्रणाली भारत की प्राचीन कर-प्रणाली पर आधारित थी, पर राजकीय प्रबन्ध, उपाधियाँ और लेखा रखने की विधियाँ स्पष्ट रूप से फारस (ईरान) से मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा लाई गई थी। यही बात जिलों और प्रान्तों के प्रशासन के बारे में भी है। हिन्दू राजाओं ने भी इन्हीं विधियों का अनुसरण किया।

इस सम्बन्ध में डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिखा है, "अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के समय से मुहम्मद शाह की मृत्यु तक (सन् 1556–1749 ई.) 200 वर्षों के मुगल शासन ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को और अधिकांश दक्षिण को भी राजकीय भाषा, प्रशासन-विधि और मुद्रा की एकता प्रदान की।" इस तरह राजनीतिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रभाव विघटनकारी तत्त्वों को नष्ट कर एकता की ओर ले जाने वाला था। प्राचीन हिन्दू-व्यवस्था में अनेक दुर्बलताएँ थीं। मुस्लिम शासन व्यवस्था ने इन दोषों को पर्याप्त मात्रा तक दूर किया और सुदृढ़ शासन की नींव डाली। वास्तव में, भारत में राजनैतिक और प्रशासनिक एकता को जन्म देने का श्रेय इस्लाम को ही जाता है।

(xi) **युद्ध प्रणाली पर प्रभाव**—मुगल युद्ध-प्रणाली ने सोलहवीं सदी की भारतीय राजनीतिक स्थिति में क्रान्ति उत्पन्न कर दी मध्य-युग के प्रारम्भ में हिन्दू राजा छोटी-छोटी सेनाओं को मिलाकर कभी-कभी एक बड़ी सेना बना लेते थे।

पर यह बड़ी सेना किसी एक प्रधान सेनापति की आज्ञा नहीं मानती थी। इसके विपरीत मुस्लिम शासकों के पास बड़ी-बड़ी सेनाएँ थीं, जिनका एक ही प्रधान सेनापति होता था। इससे मुसलमान सेनापति को अपना रण-चातुर्य प्रदर्शित करने के अधिक अवसर मिल जाते थे। तोपों के प्रयोग ने एक नई युद्ध-प्रणाली को जन्म दिया और हिन्दू राजाओं के रक्षात्मक युद्ध के तरीकों में क्रान्ति ला दी। इस तरह, मुसलमानों की युद्ध-नीति यहाँ की स्थानीय नीति से अलग एवं मौलिक थी। मुगलों द्वारा तोपखाने का प्रयोग इस युग में, भारत में पहली बार किया गया था।

## 2. विभिन्न कलाओं के क्षेत्र में इस्लाम का प्रभाव

(i) **स्थापत्य कला पर प्रभाव**—इस्लामी सभ्यता व संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव भारतीय ललित कलाओं पर और विशेषकर स्थापत्य कला पर पड़ा। राजपूत राजाओं ने तत्परता से मुगल स्थापत्य कला के अंगों को अपना लिया और उन्हें अपने महलों में स्थान दिया। हिन्दू मन्दिर तक मुगल स्थापत्य कला के अंगों से नहीं बच सके। कला मर्मज्ञ परसी ब्राउन के शब्दों में, "वृन्दावन के मन्दिरों में बहुत कुछ अपना मौलिक है, लेकिन फिर भी उन पर मुसलमानों की प्रचलित स्थापत्य शैली का प्रभाव स्पष्ट है।" हिन्दू राजाओं के इस काल में निर्मित महलों पर मुगल निर्माण शैली का काफी प्रभाव पड़ा। ऐसी इमारतों में यह देख लेना कठिन नहीं है कि कैसे प्रारम्भिक मुगलों की पत्थरी इमारतों में दांतेदार मेह-राव, कांच के मौजेक, रंगीन पलस्तर, हॉल में गारे-चूने की पृष्ठ-भूमि जोड़कर उन्हें हिन्दू राजाओं की अधिक रंगीली आवश्यकता के अनुकूल बना लिया गया है।

(ii) **चित्रकला पर प्रभाव**—मुगलों की चित्रकला शैली ने हिन्दू चित्रकला के विषयों, तकनीक और विविध अंगों को प्रभावित किया। मुस्लिम चित्रकला ने हमारे देश की चित्रकला को पर्याप्त रूप से प्रभावित करके, अनेक नये मोड़ उप-स्थित किये। इसके परिणामस्वरूप भारतीय चित्रकारों ने आकृति-चित्रण और भित्ति-चित्रों को अंकित करने की कला में श्रेष्ठतम प्रतिभा प्रदर्शित की।

(iii) **उद्यान कला पर प्रभाव**—उद्यान कला के विकास में भी मुसलमानों ने पर्याप्त योग दिया। "मुगलों ने मध्ययुगीन भारतीय उद्यान कला को भी संवारा। उन्होंने अपने बाग-बगीचों में जामीतीकि (जामेट्री) के सुन्दर डिजाइनों के निकुंज और मण्डप बनवाये। इन्हें आमतौर से ढलवां सतह पर आठ भागों में बाँट दिया जाता था। इनमें नहरों, चौपड़ों या सरोवरों और छोटे निर्झरों के रूप में सिचाई की व्यवस्था की जाती थी और उन्हें ऐसा बनाया जाता था कि इनका पानी दोनों ओर के मार्ग की सतह तक लबालब भरा रहे।" इस उद्यान व्यवस्था को भारत के सभी भागों में अपना लिया गया। इससे सौन्दर्य की अनुभूति और विकसित हो उठी तथा लोगों में बाग-बगीचों का शौक बढ़ गया।

(iv) **संगीत कला पर प्रभाव**—सूफियों की साधना में संगीत की अति महत्ता है। कहा जाता है कि 'खयाल' की ईजाद का श्रेय जौनपुर के नवाब

सुलतान हुसैनशाह को है, और सम्भवतः कव्वाली भी इसी समन्वय का परिणाम है। संगीत में आविष्कारों के क्षेत्र में अमीर खुसरो का नाम अधिक प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण है। उसने भारतीय 'वीणा' और ईरानी 'तम्बूरे' के सम्मिश्रण से 'सितार' का आविष्कार किया। उसने भारतीय 'मृदंग' को 'तबले' का रूप दिया। वाद्य-यन्त्रों के अतिरिक्त उसने राग-रागनियों का भी आविष्कार किया। सूफी सन्तों के प्रभाव के कारण संगीत हिन्दू और मुसलमान दोनों में अति लोकप्रिय हो गया। मुगल सम्राटों ने भी संगीत को राज्याश्रय देकर प्रोत्साहित किया था। अकबर के शासन काल में दक्षिणी और हिन्दुस्तानी (उत्तर भारतीय) संगीत एक-दूसरे के समीप आ गये। मुस्लिम सगीतकारों के सम्पर्क से भारतीय सगीत में गजल, ठुमरी, कव्वाली, तराना; खयाल, बड़ गुजरी आदि रागों का विशेष चलन हुआ।

### 3. धर्म के क्षेत्र में इस्लाम का प्रभाव

डॉ. ताराचंद ने लिखा है कि इस्लाम ने हिन्दू धर्म में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन किये। इस्लाम के प्रमुख सिद्धांत हैं—एकेश्वरवाद में विश्वास, मानव की समानता, जाति-प्रथा तथा मूर्ति-पूजा का विरोध। शंकराचार्य, रामानन्द, कबीर आदि हिन्दू विचारक और धर्म सुधारक इन सिद्धांतों से अत्यधिक प्रभावित हुए। शंकराचार्य ने एकेश्वरवाद की शिक्षा दी। रामानन्द ने मानव-समानता के विचार को अपनाकर सभी जातियों के मनुष्यों को अपने शिष्यों में स्थान दिया कबीर ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया। प्रो. बी. एन. लूणिया का मत है कि धार्मिक क्षेत्र में इस्लाम के प्रभाव से निर्गुण ईश्वर के प्रति पुनः श्रद्धा जाग्रत हो गयी। पर यह सब हिन्दू धर्म के लिए ऐसा था मानो सुरा को एक पात्र से दूसरे पात्र में बदल दिया गया हो। हिन्दू धर्म के नेताओं ने इस्लाम की तरह हिन्दू धर्म को अधिक राजीव, सरल, भावुक व आकर्षक करने के लिए उसकी बाहरी रूपरेखा में परिवर्तन कर दिया। सारांश में, इस्लाम से प्रभावित होकर हिन्दू समाज सुधारकों ने जाति-प्रथा, मूर्ति-पूजा, कर्म-काण्ड और धार्मिक आडम्बर का विरोध किया। सूफीवाद से प्रभावित होकर अनेक हिन्दुओं ने मुसलमान पीरों और फकीरों की उपासना प्रारम्भ कर दी और आज भी करते हैं।

निष्कर्ष—हिन्दू समाज पर इस्लाम के आगमन से उपर्युक्त वर्णित विभिन्न सुप्रभाव पड़े, जो अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। परन्तु, कुछ हिन्दू लेखकों ने हिन्दू समाज में प्रचलित कुप्रथाओं के चालू होने का दोप मुसलमानों के आगमन व उनके प्रभाव से जोड़ा है। उनके अनुसार, "हिन्दुओं में शिशु-हत्या की प्रथा विस्तृत रूप से फैल गयी और हिन्दू समाज में पर्दा-प्रथा भी विस्तृत रूप से प्रचलित हो गयी। मुसलमानों द्वारा कन्याओं का बलात् अपहरण होने से बाल-विवाह उस युग की सर्वमान्य प्रथा हो गयी थी। हिन्दू स्त्रियों में मुसलमानों से अपने धर्म और सतीत्व की रक्षा करने हेतु सती-प्रथा देशव्यापी हो गयी। मुसलमानों के आने के कारण

भारतीय सामाजिक जीवन में दासता की अवांछनीय प्रथा घर कर गयी थी। दास रखना उस युग की सर्वमान्य प्रथा थी।" परन्तु यह तथ्य विचारणीय है कि इस्लाम शिशु-हत्या, बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि का प्रबल विरोधी रहा है, उसने तो विधवा-विवाह को धार्मिक मान्यता दी है। अस्तु, भारत में इस्लाम के आगमन से पहले ही प्रचलित कुरीतियों के लिए उसे दोषी ठहराना न्यायोचित नहीं है। सारांश में, इस्लाम का भारतीय धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा।

## III. मुस्लिम समाज पर हिन्दुत्व का प्रभाव

जहाँ इस्लाम धर्म ने भारत में हिन्दू धर्म व समाज को अनेक दिशाओं में प्रभावित किया, वहाँ इस्लाम और मुस्लिम समाज भी हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव के शब्दों में, "मुसलमान लोग भी हिन्दुओं के सामाजिक संगठन, सभ्यता और संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हुए।" मुस्लिम समाज में, आज भी ऐसी अनेक प्रथाएँ हैं जो प्रत्यक्ष रूप से हिन्दू प्रथाओं या परम्पराओं का परिवर्तन मात्र दिखाई देती हैं।

**भारतीय मुसलमानों पर हिन्दुत्व के प्रभाव के कारण**—वस्तुतः मुस्लिम समाज पर हिन्दुत्व अथवा हिन्दू सभ्यता व संस्कृति का प्रभाव पड़ने के अनेक कारण हैं। श्री गौरीशंकर भट्ट के अनुसार, "भारत में एक बड़ी सीमा तक इस्लाम ने हिन्दू प्रथाओं और मान्यताओं को आत्मसात् किया। इस हिन्दूकरण के मुख्य माध्यम रहे हैं— मध्य युग के वे मुसलमान जो भारत में जन्मे थे, जिन्होंने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया था और जिनके लिये 'हिन्दुस्तानी मुसलमान' की उपेक्षापूर्ण संज्ञा का प्रयोग किया जाता था। वे भारतीय मुसलमान, जो मूलतः हिन्दू थे, अपना मौलिक दृष्टिकोण, जीवन-दर्शन और सामाजिक स्तर लेकर इस्लाम में प्रविष्ट हुये।" इस कारण, वे अपने साथ जिन प्रथाओं और परम्पराओं को लाये थे, वे तत्कालीन भारतीय मुसलमानी जीवन का अंग बन गयीं।

प्रो० बी० एन० लूनिया ने एक अन्य कारण के सम्बन्ध में लिखा है कि, मध्य युग में अनेक सुल्तानों और मुगल शासकों ने हिन्दू राजकुमारियों से विवाह किये थे, जिसका परिणाम यह निकला कि उनका प्रभाव किसी न किसी रूप में शासकों पर पड़ा तथा उन्हें अपनी रानियों का मान रखने के लिये धार्मिक कट्टरता की नीति में भी परिवर्तन करना पड़ा। प्रो० लूनिया के शब्दों में, "मुस्लिम विजेताओं ने हिन्दू नारियों, रानियों और राजकुमारियों से विवाह किये। इन हिन्दू स्त्रियों ने अपने आधीन गृहों में हिन्दू प्रथाओं को प्रस्तावित किया जिससे मुसलमान प्रभावित हुये। मुसलमानों के अन्तःपुरों में हिन्दू महिलाओं का प्रभाव उन तत्त्वों में से एक था जिन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म का समन्वय कराया। भारतीय भ्रातृत्व की परम्परागत भक्ति, श्रद्धा, सहृदयता और दयालुता ने तुर्कों और मंगोल-खानाबदोशों की बर्बरता व क्रूरता को कम कर दिया था।" इस प्रकार हिन्दू स्त्रियों के सम्पर्क

ने मुस्लिम शासकों को उदार बना दिया था तथा अनेक हिन्दू रीति-रिवाजों को शाही महलों में प्रचलित किया।

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव ने भी लिखा है कि जो हिन्दू मुसलमान बन गये थे, वे अपनी हिन्दू-परम्पराओं को नहीं भुला सके। उनके द्वारा फकीरों और दरगाहों की पूजा किया जाना, हिन्दू देवी-देवताओं की उपासना का दूसरा रूप था। मुसलमानी त्यौहार भी भारत के हिन्दुओं के समान ठाठ-बाट से मनाये जाने लगे।

उपरोक्त कारणों से, मुसलमान लोग भी हिन्दुओं के सामाजिक संगठन, सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित हुये थे। हिन्दू धर्म, सभ्यता व संस्कृति के प्रभाव के कारण ही भारत के मुसलमान संसार के अन्य मुसलमानों से अनेक बातों में भिन्नता रखते हैं।

1. धार्मिक क्षेत्र में प्रभाव—मुसलमान हिन्दुओं के धार्मिक विचारों और रीति-रिवाजों से भी बहुत कुछ प्रभावित हुये। हिन्दुओं के अन्धविश्वास और परम्पराओं का प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ा। हिन्दुओं के समान मुसलमान भी अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये पीरों, फकीरों व साधुओं के पास जाने लगे। श्री गौरीशंकर भट्ट ने लिखा है कि, मुसलमानों के त्यौहारों, रीति-रिवाजों, विचारों, विश्वासों और धार्मिक जादुई अनुष्ठानों में हिन्दुत्व के प्रभाव के अनेक प्रमाण उपस्थित हो गये। पीरों की कल्पना और उनमें विश्वास, दरगाह में मजारों के सामने माथा टेकना, हर-हर महादेव की तरह 'या अली' का नारा लगाना, सगुन विचारना, विधवा की अपेक्षा सधवा या सुहागिन को शुभ मानना, हिन्दुओं के ही अनुरूप मृत व्यक्तियों के नाम पर तीजा (भोज) और खैरात का आयोजन करना आदि स्पष्टतः हिन्दू संस्कृति के प्रभाव के कारण हैं।

डॉ० के० एम० अशरफ के अनुसार हिन्दुओं के 'शिवरात्रि' त्यौहार का अनुकरण मुसलमानों ने 'शब-ए-बरात' नामक त्यौहार के रूप में किया। इस विषय में डॉ० यूसुफ हुसैन ने भी लिखा है : "नये वातावरण में मुसलमानों की प्रथाओं में भी परिवर्तन किये गये। कुछ नये त्यौहार व उत्सव, जैसे 'शबे-बरात' सारे देश में मनायी जाने लगी। बहुत सम्भव है कि यह उत्सव हिन्दुओं के 'शिवरात्रि' के उत्सव की नकल थी। आतिशबाजी का प्रचलन दोनों में समान रूप से है। इसी प्रकार मुहर्रम के महीने में 'ताजियेदारी' ने (करबला के शहीदों की समाधियों के छोटे आकार) एक औपचारिक रूप धारण कर लिया। उनमें हिन्दुओं की 'जगन्नाथ की गाड़ी' और 'श्रीकृष्ण-लीला' के उत्सव में एक आश्चर्यजनक साम्य पाया जाता है। अन्य किसी भी मुस्लिम देश में ताजिये नहीं पाये जाते।" यह सत्य है कि इस्लाम धर्म मूर्ति-पूजा का विरोधी था और आज भी है, लेकिन हिन्दुओं के सम्पर्क के कारण भारतीय मुसलमान लोग विभिन्न देवी देवताओं की पूजा करने लगे। बंगाल में

'सत्य नारायण की कथा' के अनुकरण के आधार पर ही 'सत्य-पीर' की पूजा की जाने लगी। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार, "बंगाल के मुसलमान काली, धर्म-राज, वैद्यनाथ, आदि अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे। भारत के लोगों में प्रकृति के विविध शक्तियों को देवी-देवता के रूप में देखने की परम्परा थी। वे नदी, पर्वत आदि के अधिष्ठाता-देवताओं की कल्पना कर उनकी पूजा करते थे। भारतीय मुसलमानों पर भी भारत की इस परम्परा का प्रभाव पड़ा और मुसलमानों ने ख्वाजाखिज्र के रूप में नदियों के अधिष्ठाता-देवता की ओर 'जिन्दा गाजी' के रूप में सिंहवाहिनी देवी के प्रेमी देवता की कल्पना कर डाली। भारत के मुसलमान पीरों के मजारों की पूजा करने के लिए भी प्रवृत्त हुए।" वर्तमान में भी, देश के कुछ भागों में पीरों के मजारों की पूजा मुसलमान लोग बड़ी श्रद्धा से करते हैं। उर्स के अवसर पर हिन्दुओं की तरह वहाँ नृत्य और गायन (कव्वाली) का आयोजन बड़े उत्साह से किया जाता है।

धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू धार्मिक विचारधारा का प्रभाव इस्लाम के सूफीवाद पर भी पड़ा। अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत हैं कि सूफीवाद पर वेदान्त-दर्शन की स्पष्ट छाप पड़ी है। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से प्रभावित होकर ईश्वर (अल्लाह) को प्राप्त करने के लिए सूफी-फकीर प्रेम साधना पर बल देने लगे। सूफियों द्वारा स्वच्छता, पवित्रता तथा सत्य पर अत्यधिक बल देना, हिन्दू धर्म के सम्पर्क का ही परिणाम है। इतिहासकार गिब के मतानुसार, 'भारत के सूफी, इस्लाम के उतने निकट नहीं हैं, जितने कि हिन्दू धर्म के।' डॉ० वहीद मिर्जा ने भी लिखा है—"कलंदरों और फकीरों जैसे साधु-संन्यासियों की बड़ी संख्या में होने का सब मिलाकर यह प्रभाव हुआ कि सरल शुद्ध इस्लाम, जिसमें बाह्य धार्मिक कर्त्तव्यों पर बल दिया जाता था, अब बदलकर एक मिश्रित-सा भक्ति सम्प्रदाय बन गया, जिसमें चमत्कार और अन्ध-विश्वास सन्त-पूजा से समन्वित होकर अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये। अब यही साधारण-सी प्रथा हो गई थी कि मुसलमान लोग अपना एक आध्यात्मिक गुरु बना लेते थे और ऐसी जन-आस्था थी कि केवल वही इस लोक और परलोक में सुखी और सम्पन्न जीवन का वरदान दे सकता है।"

उपर्युक्त बातों के बावजूद कुछ विद्वानों का मत है इस्लाम और उसके मौलिक सिद्धान्तों पर हिन्दू धर्म का कोई विशेष उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। डॉ० ए० एल० श्री वास्तव ने लिखा है कि "मुसलमानों के धार्मिक विचारधारा और रीति-रिवाजों पर हिन्दू धर्म का सीमित-सा प्रभाव पड़ा था।" डॉ० जदुनाथ सरकार का भी यही मत है। उनके अनुसार, हिन्दू धर्म, इस्लाम के निकट रहने के पश्चात् भी उसे अधिक प्रभावित नहीं कर सका। उनके शब्दों में : "·····इस्लाम कट्टर एकेश्वर-वादी धर्म है। बहुदेववाद के साथ इसका किसी प्रकार मेल नहीं हो सकता।··· यद्यपि हिन्दू और मुसलमानों को एक ही देश में साथ-साथ रहना पड़ा, तथापि ये हिन्दुओं

में घुल-मिलकर कभी नहीं रह सके। धार्मिक भेद-भाव की यह खाई किसी प्रकार भी नहीं पाटी जा सकी। भारत के मुसलमानों के हृदय में भारत के बाहर (इस्लाम के उद्‌गम-स्थान) का सम्मान हटा नहीं। अब भी उनके मुँह मक्का की ओर ही नमाज के लिये मुड़ते हैं।" वे आगे स्पष्ट करते हुये लिखते हैं : "हिन्दुओं ने मुसलमानों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये 'अल्लोपनिषद' की रचना की तथा सम्राट् अकबर को अपना अवतार तक मानने को प्रस्तुत हो गये; परन्तु मुसलमान इस धार्मिक उदारता के बदले में तनिक नहीं झुके और (मूर्ति पूजक) हिन्दुओं को 'काफिर' कहते रहे।"

2. **सामाजिक क्षेत्र में प्रभाव**—धर्म के क्षेत्र में हिन्दू धर्म ने चाहे इस्लाम को अधिक प्रभावित नहीं किया, परन्तु सामाजिक क्षेत्र में हमें अनेक प्रभावशाली परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। डॉ० **ए० एल० श्री वास्तव** के अनुसार, मुसलमान लोग भी हिन्दुओं के सामाजिक संगठन, सभ्यता व संस्कृति से काफी प्रभावित हुये। मुसलमानों में 'अकीका' और 'बिस्मिल्लाह' के उत्सव हिन्दुओं के 'मुण्डन' और 'विद्यारम्भ' के संस्कारों जैसे मनाये जाने लगे। हिन्दू विवाह संस्कारों से मुसलमानों ने वधु-श्रृंगार की प्रथा को अपनाया। 'हफ्त-ओ-नह' हिन्दू वधु के सोलह श्रृंगार का दूसरा नाम है। मुसलमानों ने हिन्दुओं के कुछ कीमती वस्त्रों जैसे पाग और चीर आदि को पहनना शुरू कर दिया था। यहाँ तक कि मुसलमान सुल्तान और बादशाह भी हिन्दू राजा के समान 'छत्र' और अन्य राजकीय चिह्नों का प्रयोग करने लगे। यद्यपि इस्लाम हार, अंगूठी और कानों के आभूषण पहिनने की अनुमति नहीं देता है, पर मुसलमानों ने उनको पहिनना प्रारम्भ कर दिया।

**इब्न-ए-बतूता** के अनुसार, पान का चबाना भी मुसलमानों ने हिन्दुओं से सीखा है। उन्होंने हिन्दू पकवानों, मिठाइयों और मिर्च-मसालेदार भोजन को अपना लिया। भारत के निर्मित महीन सूती वस्त्र, रेशमी वस्त्र, आदि का प्रयोग अब उच्च वर्ग के मुसलमान करने लगे।

**अन्तिम** यह कि, हिन्दू जाति-व्यवस्था भी जनवादी मुस्लिम समाज को प्रभावित किये बिना न रही। हिन्दुओं की जाति-प्रथा से प्रभावित होकर मुसलमान दिल्ली सल्तनत काल के प्रारम्भिक दिनों में ही तुर्की, पठान, सैय्यद और शेख आदि में बंट गये और अपने ही वर्ग में विवाह करने लगे, क्योंकि इनमें से कुछ अपने को अन्य वर्गों से श्रेष्ठ समझते थे। आगे चलकर ये लोग "अपने से नीची जाति या चारों घात अथवा कौमों से बाहर, यहाँ तक कि अपनी निजी कौम से बाहर, विवाह सम्बन्ध करने की बात नहीं सोच सकते थे।" व्यवसाय के आधार पर मुसलमानों में अनेक जातियों ने जन्म लिया। ये जातियाँ परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं करतीं।

3. **कला के क्षेत्र में प्रभाव**—अकबर के समय से मुसलमानों ने हिन्दू चित्र-कला को अपना लिया। हिन्दू संगीत और कुछ अन्य ललित कलायें भी मुसलमानों

ने सीखीं। कुछ मुस्लिम विद्वान योग और वेदान्त के अध्ययन की ओर भी आकर्षित हुये, और कुछ ने हिन्दू औषधि शास्त्र और ज्योतिष का भी अध्ययन किया।

निष्कर्ष—उपरोक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि इस्लाम ने हिन्दू जीवन के सभी अंगों को प्रभावित किया और स्वयं भी हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक संगठन से प्रभावित हुआ। अतः भारतीय सभ्यता व संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव एक समन्वयवादी दृष्टिकोण से परिलक्षित होता है। टीटस के मतानुसार, "हिन्दू धर्म ने जो कि अभी भी सुस्थिर मार्ग पर आश्चर्यजनक सन्तोष और विश्वास से बढ़ता जाता है; भारतीय मुसलमानों पर, अपने ऊपर इस्लाम के प्रभाव की अपेक्षा, कहीं अधिक प्रभाव डाला।"

## IV. मध्ययुगीन सांस्कृतिक समन्वय
## (Medieval Cultural Synthesis)

"शायद ही कभी मानव-जाति के इतिहास में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों जैसी दो गहन, शक्तिशाली पर मौलिक भिन्नता रखने वाली संस्कृतियों के आपस में घुल-मिल जाने का ऐसा चमत्कार दिखायी दिया हो। इनके पारस्परिक भेदों तथा विशाल सांस्कृतिक व धार्मिक भिन्नताओं ने अपने प्रभाव से इतिहास को ही शिक्षाप्रद बना दिया।"
—सर जॉन मार्शल

मध्यकाल के आरम्भ में अर्थात् तुर्क-अफगान युग में हिन्दू और मुस्लिम ऐसे दो वर्ग थे जिनमें शासक और शासित का सम्बन्ध था। पर जब दो विभिन्न धर्मों व संस्कृतियों के लोग दीर्घकाल तक एक साथ निवास करते हैं, तो उन पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी हो जाता है। जब मुस्लिम विजेता अरब, तुर्क, अफगान व मुगल आदि स्थायी रूप से भारत में आबाद हो गये, तो स्वाभाविक रूप से वे भारत के योगियों, सन्तों, धर्माचार्यों, विद्वानों और शिल्पियों के सम्पर्क में आये, और वे उनसे प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके। इसी प्रकार इस्लाम के रूप में जो नया धार्मिक आन्दोलन इस देश में प्रविष्ट हुआ था, उसमें अपूर्व जीवन-शक्ति थी। वह भी इस देश के पुराने धर्म को प्रभावित किये बिना नहीं रहा। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के इस सम्पर्क ने जो परिणाम उत्पन्न किये। उनका भारत के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। इसी से भारत की वह आधुनिक संस्कृति प्रादुर्भूत हुई, जिस पर अनेक अंशों में मुस्लिम धर्म व संस्कृति का प्रभाव विद्यमान है।

**परस्पर सामंजस्य, सहयोग और सहिष्णुता की भावना का विकास**—हिन्दुओं और मुसलमानों के मूलभूत मतभेदों के होने पर भी आक्रमण और विप्लव की अशान्ति के नीचे कालान्तर में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक सामंजस्य और सहिष्णुता की सुखद धारा प्रवाहित होने लगी थी। कुछ समय व्यतीत हो जाने पर हिन्दुओं और मुसलमानों ने युद्ध और उत्पीड़न की निष्फलता व निरर्थकता को

समझ लिया था व धीरे-धीरे दोनों समुदायों में सामंजस्य और सहयोग की भावना प्रकट हो रही थी। वे परस्पर एक-दूसरे को जानने और समझने की चेष्टा भी करने लगे। "फलतः हिन्दू धर्म, हिन्दू कला, हिन्दू साहित्य और हिन्दू विज्ञान ने मुस्लिम तत्त्वों को अपनाया ही नहीं अपितु हिन्दू सस्कृति की भावना और हिन्दू मनीषा की प्रेरणा में भी परिवर्तन हो गया। इसी प्रकार मुसलमानों ने भी जीवन के हर क्षेत्र के प्रति उन्मुख होकर खुले हृदय से आदान-प्रदान किया। हिन्दुओं के धार्मिक नेताओं और सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम विचारों के समन्वय का सफल प्रयास किया तो मुसलमानों के सूफी सम्प्रदाय तथा उनके लेखकों व कवियों ने भी हिन्दू सिद्धान्तों व परम्पराओं को ग्रहण किया।"

**धार्मिक क्षेत्र में**—पारस्परिक सहिष्णुता की भावना की अभिव्यक्ति मुसलमानों के सन्तों के प्रति, विशेषकर रहस्यवादी आध्यात्मिक सन्तों के लिए, हिन्दुओं की बढ़ती हुई श्रद्धा और भक्ति में हुई थी और इसी प्रकार मुसलमान भी हिन्दुओं के साधु-सन्तों के प्रति ऐसी ही श्रद्धा और भक्ति की भावना रखने लगे। हिन्दुओं ने उदारतापूर्वक मुस्लिम पीरों और उनके मजारों का पूजन आरम्भ किया। मुस्लिम पीरों की कब्रों पर हिन्दू मिठाइयां चढ़ाते और कुरान के पाठ का श्रवण करते। वे कुरान को एक देववाणी के समान मानने लगे, जीवन में बुरे प्रभावों और अपशुकनों से बचने के लिए अपने घरों में कुरान की प्रतियाँ रखने लगे तथा भ्रातृत्व प्रदर्शित करने के लिए मुसलमानों को भोजन कराने लगे। अजमेर के शेखमुईनुद्दीन चिश्ती के भक्तों में बहुसंख्यक हिन्दू भी थे। इसी भाँति मुसलमान भी हिन्दू धर्म की ओर झुके। मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी होने पर भी बंगाल में मुसलमानों ने हिन्दुओं की शीतला, काली और धर्मराज, वैद्यनाथ आदि अन्य देवी-देवताओं की पूजा को अपना लिया। सामंजस्य, सहिष्णुता, सहयोग और समीक्षा की भावनाओं के इन परिणामों के साथ-साथ सत्य-पीर नामक देवता का प्रादुर्भाव हुआ जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों मानते थे। गौड़ (बंगाल) नरेश हुसैनशाह को इसका संस्थापक माना जाता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म और इस्लाम की पारस्परिक प्रतिक्रिया से कई विचित्र समन्वयकारी सम्प्रदायों और क्रियाओं का उदय हुआ।

प्रो० बी० एन० लूनिया के मतानुसार, सामंजस्य, सम्मिश्रण और समीप्य की मंगलकारिणी भावनाओं का प्रभाव इस्लाम पर भी कम न हुआ। उसमें कोमलता और सरसता आ गई। उसके भारतीय स्वरूप में खूब परिवर्तन हुआ और सूफी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही, सूफी सम्प्रदाय के संतों को मानने लगे। उनकी समाधियाँ (मजार) इन दोनों सम्प्रदायों के लिये तीर्थ-स्थान बन गयीं। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह अजमेर में है जहाँ उर्स के मेले पर लाखों हिन्दू और मुसलमान आज भी आते हैं। तेरहवीं सदी में निजामुद्दीन औलिया (दिल्ली) और सोलहवीं सदी में शेख सलीम चिश्ती सूफी सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध

सन्त थे। सन्तों के अन्य सम्प्रदाय सुहरावर्दी और कादरी थे। इन सूफी सम्प्रदायों का प्रभाव यह हुआ कि इस्लाम ने अपने भारतीय वातावरण में सन्त-पूजा को ग्रहण कर लिया। हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर मेल और सामीप्य तथा सहिष्णुता की भावनाओं का अन्य परिणाम यह हुआ कि सत्यपीर, सत्तानामी, नारायणी आदि ऐसे पन्थों का प्रादुर्भाव हुआ जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे और जो परस्पर दोनों में कोई भेदभाव नहीं मानते थे। कालान्तर में मुसलमानों में पन्थी साहित्य का विकास भी हुआ।

सम्मेलन, सामंजस्य, सहिष्णुता और सहकारिता एवं पारस्परिक प्रेम की भावनाओं की अभिव्यक्ति उच्च कुलीन मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रयत्नों से हुई जो उन्होंने हिन्दू वातावरण में रहने पर हिन्दू प्रथाओं को अंगीकार करने के लिए किये थे। इन दोनों समुदायों के शासकीय-वर्ग के सदस्यों में हुए परस्पर अन्तर्जातीय विवाहों से इन सामंजस्यों को सहायता प्रदान की। इन दोनों समुदायों के बीच तीव्र मतभेद को कम करने का अधिक प्रयास किया गया एवं एक-दूसरे की प्रथाओं को अपनाने में सहयोग दिया गया।

राजनीतिक क्षेत्र में भी सामंजस्य और सहयोग की यह भावना दृष्टिगोचर हुई। स्थानीय शासन की हिन्दू-प्रणाली को स्थिर रखने के अतिरिक्त मुस्लिम राज्य ने कभी-कभी बहुसंख्यक हिन्दुओं को सेना में नियुक्त किया। जो शासन की विभिन्न शाखाओं में प्रभावशाली हो गये। उदाहरण के लिए, चन्देरी के भेदनीराय और उसके मित्र मालवा में माण्डू के सुल्तान के यहाँ उच्च पदों पर थे। बंगाल में हुसैन-शाह ने पुरन्दर, रूप और सनातन जैसे हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त किया था। गोलकुण्डा और बीजापुर के सुल्तानों ने कतिपय हिन्दुओं को अपना मन्त्री बनाया। यही नहीं, मुस्लिम शासकों और नरेशों द्वारा, विशेषकर सूबों (प्रान्तों) में हिन्दू मन्दिर और समाधियों को अनेक प्रकार के अनुदान दिये जाते थे। बोधि-गया के महन्त की जागीरदारी का प्रमुख भाग मुहम्मद शाह का अनुदान था। काश्मीर का सुल्तान प्राय: अमरनाथ और शारदादेवी के मन्दिर में दर्शनार्थ जाता था और यात्रियों की सुख-सुविधा के हेतु उसने वहाँ विश्राम-स्थल बनवाये थे। मुसलमानों के प्रति राजपूतों की उदारता और वीरता के उदाहरण भी प्रचुर हैं। रणथम्मीर के राणा हम्मीर ने यह जानते हुए भी कि अलाउद्दीन सुल्तान की क्रोधाग्नि भड़क उठेगी, सुल्तान के विद्रोही सरदार मुहम्मद शाह व उसके साथियों को आश्रय दिया। राणा संग्रामसिंह के पास मुगल बादशाह बाबर से युद्ध करते समय अनेक मुस्लिम शासक महमूद लोदी, हुसैनखां मेवाती आदि दल-बल सहित थे। इसी तरह दक्किन में विजयनगर के हिन्दू सम्राट भी अपनी सैनिक सेवा में मुसलमानों को नियुक्त करते थे और उन्होंने अपनी राजधानी और उसके बाहर इस्लाम को संरक्षण दिया।" ये राजनीतिक नियुक्तियाँ सम्भवत: सद्भावना की अपेक्षा राजनीतिक

आवश्यकता के कारण हुई थीं। परन्तु, निस्सन्देह इन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के बीच सहृदयता और बन्धुत्व की वृद्धि का मार्ग सुलभ कर दिया।

इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि दिल्ली की तुर्क-अफगान सल्तनत के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को एक-दूसरे के निकट में आने का वैसा अवसर नहीं मिला, जैसाकि गुजरात, मालवा, जौनपुर, दौलताबाद और बंगाल के मुस्लिम राज्यों में मिला। इन प्रान्तीय सल्तनतों के शासन में हिन्दू कर्मचारियों का बड़ा भाग था, और इनके सुल्तान व अन्य अमीर-सरदार हिन्दुओं के बहुत निकट सम्पर्क में थे। इसी कारण अहमदाबाद, माण्डू, लखनौती, काश्मीर आदि में हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों को एक-दूसरे को प्रभावित करने का स्वर्ण-अवसर प्राप्त हुआ था। इसी के फलस्वरूप साहित्य और ललित-कलाओं के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण समन्वय और उन्नति हुई।

## हिन्दू व मुस्लिम कला का समन्वय

वर्तमान काल में हमारी स्थापत्य, संगीत और चित्रकला का जो रूप दिखाई देता है उस पर हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय की स्पष्ट छाप है।

**वास्तुकला एवं स्थापत्य कला :** भारत में जब मुस्लिम शासक इमारतें बनाने लगे तो यह काम मुस्लिम इन्जीनियरों को सौंपा गया जो केवल मुस्लिम जगत की निर्माण-विधि और रचना-कौशल से परिचित थे। परन्तु इन इमारतों को चुनने वाले सब कारीगर भारतीय थे। ये लोग भारतीय परम्पराओं में पले हुये थे और भारतीय नमूनों पर इनका हाथ जमा हुआ था। दोनों के सम्पर्क से स्थापत्य कला के क्षेत्र में एक नई और मिश्रित शैली का उदय हुआ।

हिन्दू और मुस्लिम सम्पर्क की सबसे प्रत्यक्ष व स्थूल रूप वह वास्तुकला है जिसका इस युग में विकास हुआ, और जिसे इतिहासकारों ने 'इण्डो-मुस्लिम' कला नाम दिया है। डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव के मतानुसार इस्लामी वास्तुकला की मुख्य विशेषतायें चार थीं—(1) गुम्बद (2) ऊँची-ऊँची मीनारें, (3) मेहाराब और (4) मेहरावों की डाटदार छतें। जबकि भारतीय शैली की मुख्य विशेषतायें थीं—(1) पटी हुई छतें, (2) आगे निकले हुए ब्रेकेट (3) शिखर (4) घोड़ियों पर आधारित मेहराब, (5) छोटे छज्जे और (6) छोटे-छोटे गोल और चौकोर खम्भे। सजावट की प्रधानता के कारण हिन्दू कला मुस्लिम कला की शैली को प्रभावित करती रही। मुसलमानों ने हिन्दू भवनों की मजबूती और उनकी सुन्दरता को ग्रहण किया। मुसलमान अपनी इमारतों में कंक्रीट और चूने का बहुत अधिकता से उपयोग करते थे और इसलिए वे चौड़े और खुले भागों को मेहरावों और गुम्बजों से जोड़कर इमारतों में वह सुन्दरता और विशालता ले आते थे जिससे हिन्दू कारीगर अनभिज्ञ थे। दोनों शैलियों के सम्मिलन से एक नयी स्थापत्य कला ने जन्म लिया जिसे कि 'हिन्दू-मुस्लिम कला' कहा जा सकता है। सल्तनत युग में

इस मिली-जुली वास्तुकला का विकसित रूप प्रान्तीय सल्तनतों की इमारतों में बहुत अधिक देखने को मिलता है। मुगल सम्राट अकबर के समय से बनने वाली इमारतों में से अधिकांश इस मिली-जुली शैली की प्रतीक कही जा सकती हैं। मुगलों की स्थापत्य कला को राजपूत राजाओं ने बहुत जल्दी अपना लिया। हिन्दू मन्दिर भी इस कला के प्रभाव से अछूते न रहे। पर्सी ब्राउन का मत है कि वृन्दावन के मन्दिरों की इमारतों में मुसलमानों की प्रचलित शैली का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। अहमदाबाद की इमारतों में 'तीन दरवाजा' और 'जामा मस्जिद' श्रेष्ठ हैं, जो सल्तनत काल की इण्डो-मुस्लिम वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

चित्रकला—अफगान युग में भारतीय चित्रकला की उस शैली का विकास हुआ जिसे "राजस्थानी शैली" कहते हैं। इसका विकास राजपूताना और गुजरात के प्रदेशों में पन्द्रहवीं सदी में हुआ था। गुजरात का प्रसिद्ध सुल्तान महमूद बेगड़ा (1451–1511) कला का संरक्षक व कलावन्तों का आश्रयदाता था। उसके संरक्षण में मिली-जुली चित्रकला की—राजस्थानी शैली की अच्छी उन्नति हुई। मुगल सम्राट अकबर के दरबार में मुसलमानी ईरानी शैली का सम्पर्क भारतीय चित्रकला शैली से हुआ। ईरानी और भारतीय चित्रकला शैलियाँ धीरे-धीरे मिलकर एक हो गयीं। इस नवीन शैली में विदेशी शैली एकदम मिलकर पूर्णरूप से भारतीय हो गई। यही मिश्रित शैली 'मुगल चित्रकला' शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शैली ने राजपूत चित्रकला शैली को भी पूर्णतः बदल दिया और कांगड़ा शैली इस परिवर्तन का परिणाम थी।

संगीत कला—संगीत के क्षेत्र में भी हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्पर्क ने अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न किये। भारत के मुसलमानों ने कव्वाली और खयाल के रूप में मकबरों में व धार्मिक उत्सवों पर संगीत का प्रारम्भ किया। संगीत की ये शैलियाँ भारत के लिए नई थीं, पर बाद में भारतीय संगीताचार्यों ने इन्हें पूरी तरह से अपना लिया, और ये भारतीय संगीत के महत्त्वपूर्ण अंग बन गये। संगीत के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम शैलियों के समन्वय में अमीर खुसरो का विशेष योगदान रहा। महान् मुगल सम्राटों (सिवाय औरंगजेब) को संगीत एवं नृत्य में रुचि रही जिसके परिणामस्वरूप संगीत के क्षेत्र में समन्वय के काम को बहुत प्रोत्साहन मिला। अकबर का दरबार संगीत कला का भी प्रसिद्ध केन्द्र था। डॉ० आशीर्वादी लाल का मत है कि अकबर के दरबार में हिन्दू और मुस्लिम संगीत पद्धतियों का मुक्त रूप से सम्मिलन हुआ और अन्त में दोनों ही एक-दूसरे से इतनी घुल-मिल गयीं कि उनका अलग-अलग पहचानना कठिन हो गया।

## भाषा और साहित्य के क्षेत्र में समन्वय व उन्नति

कतिपय मुस्लिम सुल्तान व उनके दरबारी साहित्य में अधिक रुचि रखते थे और उनके राज्याश्रय में उच्चकोटि का साहित्य तैयार हुआ। अमीर खुसरो,

मीर हसन दहलवी, अहमद थानेसरी, बद्र-ए-चच, अमीउलमुल्क मुल्तानी दिल्ली के सुलतानों के युग में साहित्यिक नभ-मण्डल के दैदीप्यमान नक्षत्र थे। मुहम्मद तुगलक की राज्य सभा कवियों, तर्क शास्त्रज्ञों, दार्शनिकों और वैद्यों से सुशोभित थी। इसी प्रकार प्रख्यात कवि और लेखक प्रान्तीय राजवंशों की राजसभाओं में रहते थे जिसके संरक्षण में प्रचुर साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। जौनपुर अरबी विद्वत्ता, इस्लाम-दर्शन के अध्ययन और साहित्य का केन्द्र था और वहाँ का नरेश इब्राहीम शाह शर्की विद्वानों का उदार आश्रयदाता था। उसके शासन काल में अनेक साहित्यिक व दार्शनिक ग्रन्थों का सम्पादन हुआ। चौदहवीं शताब्दी में फीरोज तुगलक ने दर्शन शास्त्र, ज्योतिष आदि भारतीय ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद करवाया। लोदी वंश के सुलतान सिकन्दर के शासनकाल में संस्कृत, आयुर्वेद ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में किया गया। मुग़ल सम्राट अकबर के काल में अनेकानेक संस्कृत ग्रन्थों, रामायण, महाभारत आदि का फारसी में अनुवाद करवाया गया।

मध्ययुग के साहित्यिक क्षेत्र में समन्वय की उल्लेखनीय सफलता हुई। उर्दू भाषा का समुदय और विकास था। संस्कृत में उत्पन्न हुई विचारधाराओं और भाषाओं के साथ तुर्की, फारसी और अरबी शब्दों और विचारों के सम्मिश्रण से उर्दू भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें अरबी, फारसी, तुर्की, पश्चिमी हिन्दी एवं दिल्ली प्रदेश की स्थानीय भाषा के शब्द हैं। वास्तव में यह भाषा हिन्दुओं और मुसलमानों के साहित्यिक समन्वय का परिणाम थी। अमीर खुसरों ने सर्व प्रथम इस भाषा में रचना की। कालान्तर में मुस्लिम नरेशों की राजसभाओं के कवियों, लेखकों और इतिहास वेत्ताओं ने इसके साहित्यिक रूप को निखारा और उत्तर भारत में अठारहवीं शताब्दी में यह एक अच्छी साहित्यिक भाषा हो गई जिसके विकास में हिन्दू और मुसलमान लेखकों का योगदान था। इसके माध्यम से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत समीप आते गये और उनके मध्य का भेद-भाव बहुत-कुछ दूर हो गया।

**निष्कर्ष**—इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक सम्बन्धों में विद्वेष होने पर भी हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के हेल-मेल से सुदूर तक प्रभावित करने वाले परिणाम हुए। मुस्लिम विजेता अपने साथ निर्दिष्ट सामाजिक और धार्मिक विचार लाये थे जो हिन्दुओं के विचारों से मौलिक रूप में भिन्न थे। परन्तु सुदीर्घकाल के सम्पर्क में हिन्दुओं और मुसलमानों के दो विभिन्न समुदाय परस्पर अधिक समीप आ गये जिनके परिणामस्वरूप हिन्दू संस्कृति का विकास इस्लामी रंग से रंजित हो गया। परन्तु हिन्दू संस्कृति भी मुसलमानी तत्त्वों को प्रभावित किये बिना न रही। "वास्तव में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही सांस्कृतिक देन के विकास में अपना-अपना योग दिया है। मध्य युग में दो विभिन्न संस्कृतियों का परस्पर संसर्ग और हेल-मेल हुआ, परन्तु उनका पूर्ण समन्वय नहीं हुआ। वे एक दूसरे में पर्याप्त

नहीं घुल-मिल गयीं। प्रथम इन दोनों संस्कृतियों में संघर्ष हुआ और तब समन्वय, परन्तु यह पूर्ण रूपेण न था।"

हिन्दू धर्म पर इस्लाम की प्रतिक्रिया विविध रूप से हुई। हिन्दू समाज के अनुसार सनातनी तत्त्वों ने विस्तृत कठोर और अपरिवर्तनशील जाति-नियमों को बनाकर अपनी सामाजिक और धार्मिक प्रणालियों को दृढ़ कर लिया। परन्तु उदार तत्त्वों ने इस्लाम के कतिपय लोकतन्त्रीय सिद्धांतों को अंगीकार कर लिया। ये सिद्धांत रामानन्द, कबीर, नानक, दादू और चैतन्य जैसे सन्तों के उपदेशों और मतों में अभिव्यक्त हुए। बंगाल में वैष्णव धर्म और महाराष्ट्र में भक्ति सम्प्रदाय का विकास हिन्दू धर्म व इस्लाम के सम्पर्क की देन मानी जाती है। इस संसर्ग की दूसरी देन सहयोग, सहिष्णुता और सामंजस्य की भावना है जिसकी अभिव्यक्ति सूफी संतों के विचारों और मुस्लिम संतों के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा हुई थी। सूफी मत का आधार हिन्दू विचारधाराओं से अत्यधिक प्रभावित हुआ। इस सम्पर्क का अन्य महत्त्वशील प्रयास प्रादेशिक भाषाओं और उर्दू के विकास में दृष्टिगोचर होता है। वैष्णवों की कविता हिन्दू धर्म और इस्लाम के समन्वय का सर्वोत्कृष्ट विलक्षण उदाहरण है। कला के क्षेत्र में, हिन्दू और मुस्लिम तत्वों के समन्वय से भवन-निर्माण कला की एक नवीन शैली का विकास हुआ।

## V. हिन्दी साहित्य में मुस्लिम कवियों का योगदान

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है, "सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ।.....अकबर से पूर्व हिन्दी में उच्चकोटि के ग्रन्थों का निर्माण होना शुरू हो चुका था, जिनमें 'पद्मावत' और 'मृगावत' उल्लेखनीय हैं। अकबर का शासन हिन्दी कविता का स्वर्ण-युग था।" इस युग में हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों ने हिन्दी में कविताएँ लिखीं। उच्चकोटि के हिन्दी मुस्लिम कवियों में अमीर खुसरो, मलिक मोहम्मद जायसी, रसखान, अब्दुर्रहीम खानखाना तथा उसमान का नाम उल्लेखनीय है।

### 1. अमीर खुसरो [1253-1325 ई०]

अमीर खुसरो हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के एक प्रधान प्रतिनिधि, एक महान कवि तथा एक सच्चे राष्ट्रवादी सूफी सन्त थे। वह अपने समय के श्रेष्ठ इतिहासकार, संगीतज्ञ और कवि थे। इन सभी रूपों में उसने जो कार्य किया वह भारत के इतिहास में सदैव अमर रहेगा। डॉ. यूसुफ हुसैन ने ठीक ही लिखा है—"मध्यकाल का महान् कवि, साहित्यकार और रहस्यवादी अमीर खुसरू भारतीय मुस्लिम संस्कृति के सर्व-प्रमुख प्रतिनिधियों में से एक था।" वह पहला मुसलमान कवि था जिसने हिन्दी में उत्कृष्ट कविताएँ लिखीं।

डॉ. माताबदल जायसवाल ने लिखा है कि, यद्यपि अमीर खुसरो की महत्ता उनके फारसी काव्य पर आश्रित है, परन्तु उनकी लोकप्रियता का कारण उसकी

हिन्दी रचनायें हैं। हिन्दी में काव्य रचना करने वालों में खुसरो का नाम सर्व प्रमुख है। अरबी-फारसी के साथ-साथ अमीर खुसरो को अपने हिन्दी ज्ञान पर भी गर्व था। "अमीर खुसरो के नाम से हिन्दी में पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सखुने और कुछ गजलें प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त उनका फारसी-हिन्दी कोष 'खालिक़बारी' भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

इतिहासकार इलियट के अनुसार, अमीर खुसरो अपनी कविता 'आशिक' में हिन्दी भाषा की प्रशंसा करता और वर्णन तथा अलंकार में इसके गुण का उल्लेख करता है। अरबी, फारसी और हिन्दी की तुलना करते हुए खुसरो कहता है—"आपको हिन्दी भाषा के शब्द फारसी से निम्नतर नहीं मिलेंगे। पर हिन्दी अरबी से निम्नतर है। हिन्दी अरबी से इस बात में समान है कि दोनों में से किसी में मिश्रण सम्भव नहीं है। यदि अरबी में व्याकरण और शब्द योजना है, जो हिन्दी में किसी प्रकार कम नहीं है।"

डॉ. यूसुफ हुसैन के अनुसार, खुसरो ने अपनी रचनाओं में हिन्दी का प्रयोग किया है। कभी-कभी वह अपनी फारसी की कविताओं में हिन्दी शब्दों का प्रयोग इस प्रकार करता है कि कवितायें अत्यधिक प्रभावपूर्ण हो जाती हैं। उसने स्पष्ट रूप से लिखा है कि उसने हिन्दी कवितायें लिखी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उसे अपने भारतीय होने और हिन्दी में कवितायें लिखने पर गर्व था। उसका कहना था—"मैं भारतीय तुर्क हूँ और तुम्हें हिन्दी में उत्तर दे सकता हूँ। अरबी की बात करने के लिये मेरे पास मिश्री-शक्कर नहीं है क्योंकि मैं भारत का तोता हूँ, इसलिए मुझसे हिन्दी में बात-चीत करो ताकि मधुरतापूर्वक बोल सकूँ।" प्रायः सम्पूर्ण मध्यकाल में खुसरो की हिन्दी कविताओं का उल्लेख किया गया है।

पिंगल साहित्य में प्रारम्भिक नाम अमीर खुसरो का आता है, जिसमें खड़ी बोली का प्रयोग मिलता है। पिंगल साहित्य भी उसी के कारण फारसी भाषा के समान उच्च स्थान पा सका।

डॉ. रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है कि, "दिल्ली के आस-पास प्रचलित खड़ी बोली में साहित्य-सर्जन का काम सबसे पहले, खुसरो ने आरम्भ किया था। अमीर खुसरो ने प्रचलित जन भाषा में रचना करके हिन्दी और उर्दू के भविष्य की राह खोल दी। अतएव वे खड़ी बोली हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के पिता हुए।'

प्रसिद्ध उर्दू शायर मीरतकी 'मीर' ने लिखा है कि मध्यकाल में अमीर खुसरो के हिन्दी गीत जन-साधारण में अत्यन्त लोकप्रिय थे। उन्होंने फारसी और हिन्दी में मिश्रित वाक्यों द्वारा अपने काव्य का सृजन किया और बाद में पूर्ण हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया। उनके काव्य की स्पष्टता का अग्रलिखित उदाहरण विशेष उल्लेखनीय है—

खुसरो रैन सुहाग को, जागी पीया संग ।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये एक रंग ॥

कहा जाता है कि खुसरो ने अपने आध्यात्मिक गुरु और विख्यात सूफी सन्त हजरत निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु के उपरान्त उनकी कब्र पर निम्नलिखित दर्द भरी कविता कही थी—

"गोरी सोये सेज पर, मुख पर डाले केश,
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देश ।"

डॉ० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, "भारत का तोता, अमीर खुसरो, कवियों का सम्राट था ।" उसकी कवितायें हृदय और मस्तिष्क में हलचल मचा देने वाली हैं । उसकी काल्पनिक उड़ान, भाषा पर अधिकार, विषयों की विभिन्नता, आश्चर्य-जनक सौन्दर्य, मानव-भावनाओं का वर्णन, प्रेम और युद्ध के दृश्य इतने अद्वितीय हैं कि वे उसको सब समय के सर्वश्रेष्ठ कवियों में अमर स्थान प्रदान करते हैं । कवि होने के अतिरिक्त वह गद्य का लेखक भी था । अस्तु, "खुसरो को पद्यात्मक गद्य का महान् कलाकार घोषित करना पड़ेगा ।" सारांश में, अमीर खुसरो ने पिंगल साहित्य को विकसित किया तथा हिन्दी खड़ी बोली का शिलान्यास किया ।

## 2. मलिक मोहम्मद जायसी [1475-1542 ई०]

सूफी प्रेम-काव्यधारा के सबसे प्रमुख कवि जायसी हैं । अवध में जायस नगर नामक स्थान से सम्बन्धित होने के कारण 'जायसी' कहलाये । जायसी एक किसान गृहस्थ के रूप में जायस में रहते थे । वह आरम्भ से बड़े ईश्वर-भक्त और साधु प्रकृति के थे । इनका स्वभाव नम्र एवं साधुवत था तथा इनमें दानशीलता एवं एकान्तप्रियता के गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे । इनका अमेठी राज्य के दरबार में एक उच्चकोटि के फकीर के रूप में प्रतिष्ठा पाना भी प्रसिद्ध है ।

**जायसी की रचनायें : विशेष महत्त्व**—जायसी मध्ययुगीन साहित्य की परम्परा के प्रवर्त्तक थे । उनकी प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैं : (1) पद्मावत, (2) अखरावट, (3) आखरी कलाम, (4) महरी बाईसी, (5) चित्रावत, और (6) मोस्तीनामा । इनके अतिरिक्त 'मसदा', 'मुकहरानामा', 'चम्पावत', 'सुखरावत', 'लहरावत', आदि रचनाएँ भी जायसी की बतलायी जाती हैं, किन्तु इनके विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिले हैं । डॉ० परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "जायसी का वास्तविक महत्त्व उनके द्वारा प्रेम तत्त्व के व्यापक रूप का सफल चित्रण करने में ही देखा जा सकता है । उन्होंने इसे भारतीय जीवन की पृष्ठभूमि पर बड़े मार्मिक ढंग से अंकित किया है तथा ऐसा करते समय उन्होंने अल्हड़ अवधि को सशक्त एवं समृद्ध बना दिया है, जिसके लिए हम उनके चिरऋणी रहेंगे ।"

पद्मावत : साहित्यिक महत्त्व—'पद्मावत' प्रसिद्ध मसनवी (प्रेम-काव्य), जायसी की प्रौढ़ रचना है और निश्चय ही प्रौढ़ अवस्था में लिखी गई होगी। पद्मावत की कथा का प्रमुख आधार इतिहास है। इसकी मूलकथा पद्मावती और रत्नसेन का प्रेम-विवाह है। चित्तौड़ के राजा रत्नसेन ने सिंहल-द्वीप की राजकुमारी पद्मावती के अपूर्व सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर उससे विवाह किया था। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने पद्मावती की सुन्दरता पर मुग्ध होकर उसे प्राप्त करने के उद्देश्य से चित्तौड़ पर आक्रमण किया था, परन्तु उसे दो बार मुँह की खानी पड़ी। वह छलपूर्वक राजा रत्नसेन को बांध ले जाता है। परन्तु रानी पद्मिनी एक छल करके उसे छुड़ा मंगा लेती है। अन्त में, युद्ध होता है जिसमें राजा रत्नसेन मारा जाता है। परन्तु, पद्मिनी जौहर कर लेती है और अलाउद्दीन हाथ मलता ही रह जाता है।

डॉ० के० एस० लाल ने अपने शोध-प्रबन्ध में, इस रत्नसेन, पद्मावती और अलाउद्दीन की कथा व युद्ध की घटनाओं को पूर्णतया काल्पनिक कथा स्वीकार किया है। वस्तुतः इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध पूर्णतः काल्पनिक तथा उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है।

पद्मावत एक उत्कृष्ट प्रेम-काव्य है जिसे जायसी की रचनाओं में सदा सर्वोच्च स्थान दिया जाता है तथा कदाचित् अन्य सूफी प्रेम-काव्यों में यह सर्वश्रेष्ठ है। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में, ' इसमें सन्देह नहीं कि केवल अपने 'पद्मावत' नाम के प्रेमाख्यान के कारण ही, वे श्रेष्ठ कवि कहे जाते हैं। उनके समय तक इस प्रकार के काव्य साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था और इसके आदर्श केवल इने-गिने ही थे। जायसी ने इस रचना शैली की नवीन धारा को अपनाकर बहुत बड़ी सफलता दिखलाई और एक ऐसी सुन्दर कृति प्रस्तुत की जो आगे के लिये नमूना बन गयी।" जायसी निःसदेह हिन्दी के सूफी कवियों के शिरोमणि हैं, वे अवधि भाषा के महाकवि हैं। पद्मावत में तत्कालीन अवधि का रूप सुरक्षित है।

## 3. रसखान [1548 ई० जन्म]

कृष्ण भक्त कवियों में रसखान की बड़ी प्रतिष्ठा है। रसखान मुसलमान होते हुए भी वैष्णव-भाव में तल्लीन रहे। सुलभ सामग्रियों के आधार पर कवि का असली नाम सैयद इब्राहीम था। यह दिल्ली के पठान सरदार थे। दूसरा नाम रसखान तो काव्य रचना आरम्भ करने पर प्रचलित हुआ। रसखान का जन्मकाल 1548 ई० के लगभग माना जाता है। इनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। किंवदन्ती है कि रसखान का प्रेम पहले लौकिक था। कृष्ण की चर्चा सुनकर उन्होंने सच्चे प्रेम का महत्त्व समझा और दिल्ली छोड़कर वे वृन्दावन और गोकुल की गलियों में घूमते रहे। स्वामी विट्ठलनाथ ने इन पर कृपा की। रसखान उच्चवंशीय पठान सरदार थे किन्तु भगवत भक्ति में इन्होंने अपने जीवन के समस्त वैभव को

परित्याग कर दिया था। "वे मुसलमान परिवार के होकर भी मुसलमान न थे। और हिन्दू देवता की पूजा-अर्चना करके भी हिन्दू न थे। किसी जाति या धर्म विशेष को न अपनाकर उन्होंने उस भक्ति-जाति और प्रेम-धर्म को अपनाया जो विश्व-व्यापी, सार्वभौम और चिरंतन सत्य है। इसलिए रसखान की भक्ति सरस तथा सात्त्विक है।" वस्तुतः रसखान प्रेम की ऊँची दशा को पहुँचे थे, जहाँ सीमित बन्धनों से ऊपर उठकर सौन्दर्य व आनन्द के असीम रस-राज्य में आत्मा विचरण करने लगती है।

रसखान की रचनायें—रसखान की प्रमुख रचनायें—'प्रेम वाटिका' तथा 'सुजान रसखान' और 'राग रत्नाकर' हैं। 'प्रेम वाटिका' में दोहों का अधिक प्रयोग किया है। परन्तु 'सुजान रसखान' नामक रचना में सवैयों का अधिक प्रयोग किया है।

रसखान की भक्ति गोपियों की-सी भक्ति थी। वे कृष्ण के प्रेम की प्राप्ति चाहते थे। उनकी रचनाओं की बस एक चाह है—एक ही आकांक्षा है, वह है कृष्ण का सामीप्य प्राप्त करना। कृष्ण उनके प्रिय हैं और वे उनके प्रेमी। "रसखान के रूप, सौन्दर्य-चित्रण में जो सौन्दर्य-तन्मयता, सजीवता और अकृतिमता है वह अन्यत्र नहीं है। रसखान की भाषा व्रज है।

रसखान ने अपनी कृति 'सुजान-रसखान' में कृष्ण के बचपन का चित्रण किया है। वे कृष्ण और राधा के यमुना तट पर मिलन का वर्णन करते हैं, जब दोनों एक-दूसरे की गोद में बेसुध हो जाते हैं, और प्रेमी तथा प्रेमिका एक हो जाते हैं। वे कृष्ण के बचपन के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, जो अत्यधिक स्वाभाविक है। डॉ. विनयमोहन शर्मा ने लिखा है, "इनकी रचनाओं में प्रेम का अत्यन्त मनोहारी वर्णन हुआ है। यह कवि अपने प्रेम की तन्मयता, भाव विह्वलता और आसक्ति के उल्लास के लिये उतना प्रसिद्ध है, जितना अपनी भाषा की मार्मिकता, शब्द-चयन तथा व्यंजन शैली के लिये। रसखान ने अपनी रस-सिक्त रचनाओं से अपना नाम सार्थक कर दिया है।"

## 4. अब्दुर्रहीम खानखाना [1556–1626]

अकबरी दरबार के हिन्दी कवियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह उच्च-कोटि के कवि और विद्वान् थे। समस्त समकालीन कवियों से उनका सम्पर्क था। वह स्वयं भी कवियों के आश्रयदाता थे। केशव, आसकरण मण्डन, नरहरि, गंग जैसे कवियों ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अपनी उदारता के कारण जीवन के अन्तिम दिनों में यह निर्धन ही बन चुके थे।

इनका जन्म सन् 1556 ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम बैरमखाँ था जो सम्राट अकबर के अभिभावक थे। जब रहीम केवल 5 वर्ष की आयु के थे तब गुजरात के पाटन नगर में उनके पिता की हत्या कर दी गई। तभी से उनका पालन-पोषण अकबर ने स्वयं अपनी देखरेख में कराया। इनकी कार्यक्षमता से

प्रभावित होकर अकबर ने इनको 1572 ई० में पाटन नगर की जागीर प्रदान की। अपनी कार्यक्षमता, योग्यता तथा प्रभावशाली व्यक्तित्त्व के कारण रहीम निरन्तर उन्नति करते रहे। 1584 ई० में इन्हें 'खानखाना' की राजकीय उपाधि तथा पांच हजारी मंसब देकर अकबर ने सम्मानित किया। वह दक्षिण के सूबेदार भी रहे। 1626 ई० में 70 वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हुई।

रहीम की रचनाएँ—समीक्षा—रहीम की कुल मिलाकर 13 रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। "इनके प्रायः 300 दोहे 'दोहावली' नाम से संगृहीत हैं। दोहे में ही रचित इनकी एक स्वतन्त्र कृति 'नगर शोभा' है। इसमें विभिन्न जातियों की स्त्रियों का शृंगारिक वर्णन है।" इन रचनाओं के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनायें—'बरवे-नायिका भेद', 'शृंगार सोरठ', 'रहीमसतसई', 'मदनाष्टक', 'रहीम रत्नावली', 'रहीम विलास', 'रास पंचाध्यायी' आदि हैं।

रहीम की कल्पना-शक्ति महान् थी जिसकी छाया इनकी कविताओं में मिलती है। सरस्वति का निवास रहीम की वाणी में था। इनके दोहे सरल भाषा में हैं, जो महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी फारसी कविताएँ भी उच्चकोटि की हैं।

डॉ. रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में कहा जा सकता है कि, 'रहीम के काव्य के मुख्य विषय शृंगार, नीति और भक्ति है। इनकी विष्णु और गंगा संबंधी भक्ति-भावमयी रचनाएँ वैष्णव भक्ति आन्दोलन से प्रभावित होकर लिखी गयी हैं। नीति और शृंगार परक रचनाएँ दरबारी वातावरण के अनुकूल हैं। रहीम की ख्याति इन्हीं रचनाओं के कारण है। बिहारी और मतिराम जैसे समर्थ कवियों ने भी रहीम की शृंगारिक उक्तियों से प्रभाव ग्रहण किया है। व्यास, वृन्द और रसविधि आदि नीति विषयक दोहे रहीम से प्रभावित होकर लिखे गये हैं। रहीमक ाब्रज और कवियों के अवधी दोनों पर समान अधिकार था।" सारांश में, रहीम का काव्य उनके सहज उद्‌गारों की अभिव्यक्ति है। इन उद्‌गारों में इनका दीर्घकालीन अनुभव निहित है। वे सच्चे और संवेदनशील हृदय के व्यक्ति थे। जीवन में आने वाली कटु मधुर परि-स्थितियों ने इनके हृदय पट पर जो वहु विधि अनुभूति की रेखाएँ अंकित कर दी थीं, उन्हीं के अकृतिम अंकन में इनके काव्य की रमणीयता का रहस्य निहित है।

## 5. उसमान

जायसी की भाँति उसमान कवि भी प्रेम के चित्रण में अधिक सफल हुये हैं। वह गाजीपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था। ये मुगल सम्राट जहाँगीर के समकालीन थे।

उसमान ने 'चित्रावली' नामक प्रसिद्ध काव्य की रचना की। चित्रावली में जायसी का अत्यधिक अनुकरण किया गया है। अन्तर इतना ही है कि उसकी कहानी सर्वथा काल्पनिक है और जायसी की कुछ ऐतिहासिक है। उसमान ने 'चित्रावली' में सुजान कुमार की प्रेम-गाथा लिखी है जो कंवलावती और चित्रावली नामक राजकुमारियों से विवाह करने में समर्थ होते हैं। इस काव्य में बीजापुर नगर

का विस्तृत वर्णन है। कविता के एक भाग में जो जोगी-खण्ड कहलाता है, उसमें कावुल, खुरासान, गुजरात, लंका, वदख्शां तथा भारत का भी वर्णन है। उसमान की रचना तत्कालीन सामाजिक जीवन पर भी प्रकाश डालती है। कवि के लिखने का ढंग ग्राकर्षक तथा मधुर है। उन्होंने जहाँगीर की न्यायप्रियता, उसके दरवार में ग्राने वाले विदेशियों ग्रादि का भी वर्णन किया है। श्री रामपूजन तिवारी के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "कवि की दृष्टि से हिन्दी के सूफी कवियों में जायसी के के वाद उसमान को ही स्थान दिया जा सकता है। 'चित्रावली' में पद-पद पर कवि की काव्य प्रतिभा, वाग्वैदग्ध्य ग्रौर रचना कौशल का परिचय मिलता है।"

निष्कर्ष—यह केवल प्रेम का ही स्वरूप नहीं था कि मुसलमान कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ कीं ग्रौर ग्रपनी योग्यता का परिचय दिया। यथार्थ में, यह स्पष्ट करता है कि हिन्दू व मुसलमानों में घनिष्ठ प्रेम सम्वन्ध था। यदि सौन्दर्य वर्णन में एक तरफ महाकवि तुलसीदास व सूरदास हैं, तो दूसरी तरफ रहीम रसखान तथा 'ग्रालम' कवि भी हैं, जिन्होंने हिन्दी कविता ग्रौर साहित्य को समुन्नत किया है।



7

# भक्ति आन्दोलन

## [The Bhakti Movement]

I. भक्ति आन्दोलन : उदय के कारण

II. भक्ति आन्दोलन की विशेषतायें और प्रभाव

III. भक्ति आन्दोलन के प्रवर्त्तक सन्त

---

## I. भक्ति आन्दोलन : उदय के कारण

"मध्यकालीन साँस्कृतिक समन्वय की एक महत्त्वपूर्ण देन भक्ति आन्दोलन है।"

—प्रो० बी० एन० लूनिया

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव ने लिखा है कि "दिल्ली सुल्तानों के काल (1206–1526 ई०) में कई हिन्दू सन्तों और सुधारकों ने धर्म-सुधार के आन्दोलन का सूत्रपात किया। इस आन्दोलन ने भक्ति पर जोर दिया। इसलिए इसे भक्ति-आन्दोलन कहा गया।" भक्ति-मार्गीय साधना के उद्भव एवं विकास को इतिहासकारों ने आन्दोलन या धर्म-सुधार की संज्ञा दी है।

**उत्पत्ति और विकास**—भारतवर्ष में भक्ति के विचारों की उत्पत्ति के लिए विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव का मत है कि यह आन्दोलन पूर्णतया नवीन न था और इसकी प्रगति का श्रेय इस्लाम को नहीं था। इस आन्दोलन का इतिहास महान् धर्म सुधारक शंकराचार्य के समय से प्रारम्भ होता है जिन्होंने हिन्दू धर्म को एक ठोस दार्शनिक भूमि प्रदान की थी। सेनार्ट का भी मत है कि भारत में भक्ति की जड़ें बहुत गहरी हैं। वेदों के देव गीत अगाध भक्ति से भरे हुए हैं। हिन्दू और प्राचीन आर्य भी देवताओं के सामने भक्ति से नत-मस्तक हो जाते थे। बार्थ ने भी कहा है कि भक्ति-आन्दोलन एक भारतीय घटना है, जिसकी जड़ें हिन्दुओं के धार्मिक विचारों में थीं। डा० यूसुफ हुसैन ने लिखा है कि ईश्वर भक्ति का जन्म बिल्कुल स्वाभाविक रूप में भारत में हुआ। भारत में जिस अर्थ में भक्ति समझी जाती थी, वह प्रेम से परिपूर्ण है।

परन्तु, अनेक विद्वान उपरोक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन इस्लाम धर्म की देन है। इस्लाम धर्म की सादगी, मूर्ति-पूजा का विरोध, एकेश्वरवाद में विश्वास, जाति-पाँति के विरुद्ध सभी बातें इस्लाम धर्म की विशेषतायें थीं, जिसे भक्ति-आन्दोलन के सन्तों ने अपनाया था। मुस्लिम धर्म से सम्पर्क के कारण भक्ति-आन्दोलन की भावना को प्रोत्साहन मिला और जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें नामदेव, दादू, कबीर और नानक की शिक्षाओं में परिलक्षित होता है जिनमें हमें हिन्दू तथा मुस्लिम विचारधाराओं का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है।

प्रो० हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार, भारत में इस्लाम धर्म का शान्ति-पूर्वक प्रवेश दक्षिण भारत में हुआ। वहीं से धार्मिक सुधार आन्दोलनों का शुरू होना सूचित करता है कि इनको इस्लाम से कुछ प्रेरणा अवश्य मिली। इस्लाम के अनुयायियों की उपस्थिति ने जाति-भेद, आत्मिक जीवन और ईश्वर के अस्तित्त्व आदि विषयों पर लोगों को विचार करने के लिए उत्तेजित किया। एकेश्वरवाद और समानता आदि के विचार हिन्दू-धर्म में पहले से ही विद्यमान थे, किन्तु इस्लाम से उन्हें बल मिला।

डॉ० ताराचन्द ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव' में लिखा है कि "भक्ति इस्लाम के प्रारम्भिक काल में ही पश्चिमी समुद्र तट पर आकर बसने वाले अरबों की देन है।.... इस्लाम के आगमन के पूर्व एकेश्वरवाद भारत में था ही नहीं और शंकर जैसे आचार्यों की शिक्षा पर भी इस्लाम का प्रभाव पड़ा है।"

प्रो० बी० एन० लूनिया का कथन है कि इस्लाम और हिन्दू धर्म के परस्पर संसर्ग के महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। इस सम्पर्क से कुछ ऐसे सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ जो हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के भेद-भाव को मिटाने वाले थे और जिन्होंने हिन्दू धर्म के सुधार-आन्दोलनों का रूप ले लिया। इस्लाम विश्व-बन्धुत्व का संदेश देता है, धर्म की सादगी का समर्थन करता है एवं एकेश्वरवाद का उपदेश देता है। इस्लाम के ये सिद्धांत दार्शनिक हिन्दू मस्तिष्क पर चेतन या अचेतन रूप में अपना प्रभाव डालने लगे और इन्होंने इतिहास में धार्मिक सुधारकों के नाम से प्रसिद्ध होने वाले सन्त उपदेशकों के उदार आन्दोलनों को प्रोत्साहित किया। विशिष्ट विस्तृत बातों में कतिपय मतभेदों को छोड़कर ये सुधारक उदार भक्ति-सम्प्रदाय के समर्थक थे।

**भक्ति-आन्दोलन के दो काल**—डॉ. यूसुफ हुसैन ने लिखा है कि भक्ति आन्दोलन को दो स्पष्ट कालों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) प्रथम काल(प्राचीनकाल से 13वीं शताब्दी ई. तक)-यह काल 'भगवद्-गीता' के समय से लेकर 13वीं शताब्दी तक माना जाता है, जबकि इस्लाम धर्म ने भारत के आन्तरिक भागों में प्रवेश किया था। इस काल में भक्ति व्यक्तिगत भावना

थी। यह भक्ति वासुदेव अर्थात् सर्वोच्च ईश्वर के प्रति थी। 'भगवद्गीता' का उद्देश्य किसी निश्चित दर्शन या धर्म का निर्माण न करके हिन्दू दर्शन के विभिन्न अंगों का समन्वय करना था। इस समन्वय का आधार भक्ति था।

(2) द्वितीय काल (1 वीं सदी से 16वीं सदी तक)—यह काल सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक और धार्मिक सुधार तथा कलात्मक अभिव्यक्ति का काल है। इस काल में इस्लाम और हिन्दू धर्म के सम्पर्क के कारण प्रबल मानसिक क्रान्ति हुई, जिसका प्रभाव प्रायः सभी अंगों पर पड़ा। इस काल में सुधार आन्दोलनों का प्रारम्भ पहिले दक्षिण भारत में हुआ, फिर उत्तर भारत में। दक्षिण में रामानुज ने लोगों को त्याग की भावना के साथ इच्छा-रहित भक्ति करने का उपदेश दिया। उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के प्रवर्त्तक रामानन्द थे, उन्हें जाति प्रथा में कोई विश्वास नहीं था और उन्होंने सभी जातियों के व्यक्तियों को अपना शिष्य बनाया। बंगाल में चैतन्य ने लोगों को कृष्ण से प्रेम करने और उसकी भक्ति करने की शिक्षा दी। तैलंग ब्राह्मण वल्लभाचार्य का मत था कि ब्राह्मण और अन्य व्यक्ति की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है और मनुष्य की आत्मा को केवल भक्ति से ही मुक्ति मिल सकती है। महाराष्ट्र के नामदेव ने ईश्वर की एकता पर बल दिया। उनका यह विश्वास था कि केवल ईश्वर-प्रेम और भक्ति द्वारा ईश्वर से एकता प्राप्त हो सकती है। रामानन्द के शिष्य कबीर ने इस्लाम और उसमें सहयोग तथा समन्वय की भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया। पंजाब के गुरु नानक ने कबीर के समान सब धर्मों की मौलिक एकता और हिन्दू-मुसलमानों के अभेद पर बल दिया। इस तरह, यह "मध्ययुग का भक्ति आन्दोलन इस्लामी संस्कृति के हिन्दू समाज पर प्रथम प्रभाव का प्रतिनिधित्व करता है।"

## भक्ति आन्दोलन के उदय के कारण

**1. शंकराचार्य का अद्वैतवाद : ज्ञान मार्ग**—दक्षिण भारत में, सातवीं शताब्दी में हुए शंकराचार्य ने 'अद्वैतवाद के सिद्धांत' का प्रसार किया। उनका कथन था कि केवल ब्रह्म ही सत्य है और आत्मा तथा ब्रह्म में कोई भेद नहीं है, पर माया से घिरे रहने के कारण आत्मा ब्रह्म में लीन नहीं हो पाती है। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करे। परन्तु, साधारण मनुष्यों के लिए इस ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करना कठिन था, वह उनकी समझ से बाहर था। वे ऐसे मार्ग की खोज में थे जो उनके हृदय और मस्तिष्क दोनों को संतोष दे। अतः जन-साधारण ने मध्यकाल में प्रतिपादित भक्ति-मार्ग को अपनाया क्योंकि वह अपेक्षाकृत सरल और रुचिकर था। इस तरह डॉ. यूसुफ हुसैन के शब्दों में, भक्ति आन्दोलन को अपने विकास के लिए उचित वातावरण मिला।"

**वैदिक धर्म का जटिल रूप : ब्राह्मणवाद का खोखलापन**—वैदिक धर्म की शिक्षाएं केवल सैद्धान्तिक थीं। ब्राह्मणवाद मूलरूप से एक बौद्धिक सिद्धांत बनकर

रह गया था तथा अपने-आप में नीरस था, उनकी शिक्षाएँ काल्पनिक और समझ से बाहर थीं। इन्हीं परिस्थितियों में भक्ति-प्रेम मिश्रित ईश्वर-भजन के आन्दोलन ने एक अनुकूल वातावरण पाया।"

3. **जाति-व्यवस्था की कठोरता**—पूर्व मध्यकाल में भारतवर्ष में हिन्दुओं की जाति-प्रथा ने कठोर रूप धारण कर लिया था। निम्न जतियों के व्यक्तियों को न केवल घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, वरन् उन पर अत्याचार भी किये जाते थे। जबकि भक्ति-मार्ग में जाति-भेद को कोई स्थान नहीं दिया गया। भक्ति-आन्दोलन के अनेक सन्तों के शिष्यों में सभी जातियों के व्यक्ति और मुसलमान भी थे। इसके फलस्वरूप भक्ति-आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त होता चला गया।

4. **इस्लाम का प्रभाव**—बहुत से विद्वान भक्ति-आन्दोलन का कारण इस्लाम धर्म बतलाते हैं। डॉ रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा कि "इस्लाम की प्रजातांत्रिक और उदार भावनाओं ने इस आन्दोलन को विशेष रूप से प्रभावित किया। डॉ. जदुनाथ सरकार के मतानुसार, "यह वास्तविकता है कि मध्यकालीन भारत के इस विवादास्पद आन्दोलन को उनके अत्यन्त पड़ौस में मुसलमानों की उपस्थिति से बड़ी प्रेरणा मिली।" इस्लाम जाति-पांति का विरोध करता है और मूर्ति-पूजा को महत्त्व नहीं देता जो भक्ति आन्दोलन के प्रमुख सिद्धांत थे।

## II. भक्ति आन्दोलन की विशेषताएँ और प्रभाव

भक्ति आन्दोलन देश की तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था के खिलाफ जबरदस्त आन्दोलन था। बड़े-बड़े सन्त एवं साधु जिसमें सहयोग करने को तत्पर हुए। ऐसा शक्तिशाली आन्दोलन निश्चय ही तत्कालीन व्यवस्था को प्रभावित करने वाला सिद्ध हुआ। इसमें किसी एक वर्ग के व्यक्ति सम्मिलित न होकर सभी धर्मों के व्यक्ति सम्मिलित थे। अतः इसके प्रभाव बहुत ही व्यापक रहे। डॉ० यूसुफ हुसैन ने लिखा है कि "इस आन्दोलन ने न केवल दोनों धर्मों (हिन्दुत्व और इस्लाम) के निष्ठावान व्यक्तियों के मिलन के लिए एक संगम-भूमि तैयार की, अपितु मानव की सार्वभौम एकता का प्रचार किया तथा खुले रूप में कुसंस्कारों और क्रूर वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया। मौलिक रूप से यह आन्दोलन नया था तथा मूल रूप से प्राचीन परम्पराओं और धार्मिक प्रभुत्व के विचारों से भिन्न था।"

भक्ति आन्दोलन राष्ट्रीय दृष्टिकोण पर आधारित था। इस आन्दोलन में वे संत और महात्मा सम्मिलित हुए थे, जो कट्टर धर्मानुयायी न होकर एक उदारवादी विचारधारा के समर्थक थे। ये वे लोग थे जो मनुष्य के बीच धर्म अथवा जाति की मनुष्य द्वारा खड़ी की गयी दीवारों के अस्तित्त्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। वे जमकर धर्म के ठेकेदारों का विरोध कर रहे थे और मानवीय समानता को खुला समर्थन दे रहे थे। इससे देश में राष्ट्रीय विचारधारा को जन्म मिला। शासन व समाज में ऐसा तत्त्व सामने आया जो हिन्दू-मुस्लिम एकता को अच्छी नजर

से देखता था और मानवता को धार्मिक कठमुल्लापन से दूर ले जाना चाहता था। यही कारण है कि रसखान को, मुस्लिम पठान होते हुए भी, हिन्दुओं ने भक्तों की श्रेणी में रखा। इसी तरह, मुसलमानों ने भी—नानक और दादूदयाल को श्रद्धा के फूल चढ़ाये। कबीर जैसे संत भक्त की मृत्यु पर हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्म के लोगों ने आंसू बहाये। वास्तव में, यही वह राष्ट्रीयधारा है जिसको अकबर बादशाह ने आगे चलकर अपनी राज्य शासन की नीति के रूप में स्वीकार किया।

**भक्ति आन्दोलन की विशेषतायें**—भक्ति-आन्दोलन के संतों के उपदेशों में कुछ सामान्य विशेषतायें मिलती हैं। उनकी प्रमुख शिक्षाओं का सारांश इस प्रकार है :

**1. धार्मिक संकीर्णता का विरोध**—भक्ति आन्दोलन ने धार्मिक संकीर्णता के बन्धनों को तोड़ने पर बल दिया और लिंग, धर्म, वर्ण, जाति, स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-अब्राह्मणों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया। इस आन्दोलन के सन्त मनुष्यमात्र को एक मानते थे।

**2. जात-पाँत व ऊँच नीच के भेदभाव का खण्डन**—इन सन्तों ने भक्ति के आधार पर सबकी समानता का प्रतिपादन किया। उनमें जाति-पाँति को महत्त्व देने जैसी क्षुद्र प्रवृत्तियाँ नहीं थीं। उन्होंने जात-पांति और ऊँच-नीच के भेदभाव का खण्डन कर सामाजिक क्षमता की घोषणा की। स्वामी रामानन्द का तो मूलमंत्र था :

"जांत-पांत पूछे नहीं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।"

इस शिक्षा को द्विजेतर जातियों ने बड़े ही उत्साह से ग्रहण किया।

**3. ईश्वर की एकता पर बल**—इस आन्दोलन में भाग लेने वाले, विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना करने के बजाए एक ईश्वर में विश्वास करते थे। यह सत्य है कि उनमें कोई निर्गुण ब्रह्म का उपासक था, तो कोई सगुण ईश्वर का, परन्तु सबका मूल उद्देश्य सर्वशक्तिमान भगवान की उपासना करना मात्र था। उन्होंने सभी धर्मों की आधारभूत समानता का उपदेश दिया तथा एकेश्वरवाद का समर्थन किया।

**4. मूर्ति-पूजा का खण्डन और विरोध**—भक्त संतों ने मूर्ति-पूजा में कोई रुचि नहीं दिखायी और कुछ सन्तों ने तो स्पष्ट विरोध किया, जिनमें कबीर प्रमुख थे। उनके अनुसार—

"पाहन पूजे हरि मिले, मैं पूजूँ पहार।
ताते या चाकी भली, पीस खाये संसार।

भक्त विसोवा खेचर ने प्रत्यक्ष मूर्ति-पूजा का विरोध करते हुए कहा था : "पत्थर का देवता तो बोलता तक नहीं, फिर भला हमारे इस जीवन के दुःखों को

कैसे दूर कर सकता है ? यदि वह हमारी इच्छा पूर्ण करने की शक्ति रखता तो स्वयं गिर जाने पर टूट क्यों जाता है ?"

5. **कर्मकाण्ड तथा आडम्बरों का विरोध**—भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक धार्मिक कर्म काण्ड, अन्धविश्वास तथा आडम्बरों के विरोधी थे। सभी भक्त-सन्तों का मोक्ष के एक मात्र साधन के रूप में, भक्ति-साधना में अटूट विश्वास था। उन्होंने मोक्ष प्राप्ति के लिए ईश्वर की प्रेमपूर्वक शरणागति को सर्वोत्तम साधन बताया। भक्ति आन्दोलन का स्वरूप अत्यन्त सरल तथा आडम्बरहीन था। सरल रूप में भगवान् के प्रति प्रेम तथा सच्चे हृदय से भक्ति करना, इस मत का प्रमुख आधार था। उनका मत था कि "सच्चा धर्म दार्शनिकों, पंडितों और पुरोहितों के कठोर सिद्धांतों और मिथ्या वादानुवाद में नहीं है और न निरर्थक कर्मकाण्ड में, बल्कि ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति में है।"

**हिन्दू मुस्लिम एकता पर बल**—भक्ति आन्दोलन के अधिकांश संत असाम्प्रदायिक थे। वे किसी भी सम्प्रदाय अथवा अन्धविश्वास के कट्टर अनुयायी न थे। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर विशेष बल दिया। भक्ति-आन्दोलन के कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच भेद की खाई पाटने का प्रयास किया। उन्होंने दोनों धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियों और आडम्बरों का खण्डन करते हुए मूलभूत आन्तरिक एकता पर बल दिया और हिन्दू-मुस्लिम धर्मों की झूठी पृथकता का खण्डन किया। इस तरह उन्होंने हिन्दुत्व और इस्लाम की की मूलभूत एकता पर बल दिया।

7. **जन-भाषा का प्रयोग**—इस आन्दोलन के सन्तों ने अपने उपदेश साधारण बोल-चाल की भाषा में किये। जो सन्त जिस प्रान्त का निवासी था, उसने वहीं की सामान्य-भाषा को अपनाया। भक्ति-मार्ग के सन्तों ने महात्मा बुद्ध और महावीर की भाँति जन-भाषा का प्रयोग किया, जिसके परिणामस्वरूप इस आन्दोलन के सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार हुआ। कबीर तथा नामदेव ने हिन्दी, नानक ने पंजाबी, मीरा ने राजस्थानी, नरसी मेहता ने गुजराती तथा चैतन्य ने बंगाली भाषा में काव्य रचना की।

8. **संन्यास-धारण करने का विरोध**—इस आन्दोलन के प्रवर्तक कर्मकाण्ड तथा आडम्बरों के, तो विरोधी थे ही, परन्तु संन्यास लेने के पक्ष में नहीं थे। उनके विचार में ईश्वर को प्राप्त करने के लिये संन्यास ग्रहण करना आवश्यक नहीं था। यदि व्यक्ति का आचरण पवित्र है और उसके हृदय में भगवान के प्रति सच्ची श्रद्धा है तो वह गृहस्थ रहकर भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। कबीर, नानक, रैदास आदि संतों ने गृहस्थ में रहते हुए भक्ति-प्रचार किया।

9. **कुप्रथाओं का विरोध**—इस आन्दोलन के समर्थकों ने सती-प्रथा, दास-प्रथा और शिशु-हत्या जैसी सामाजिक कुरीतियों को समूल नष्ट करने का प्रयास किया।

10. जनवादी आन्दोलन—इसे न तो राज्यश्रय प्राप्त था और न उच्च वर्ग का समर्थन। यह एक जनवादी आन्दोलन था और जन-साधारण ने इसको पूरा-पूरा सहयोग दिया।

## भक्ति आन्दोलन : प्रभाव और परिणाम

भक्ति आन्दोलन ने सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया और उसका प्रभाव अनेक शताब्दियों तक कायम रहा। पंजाब से लेकर बंगाल तक और हिमालय-उत्तर प्रदेश से लेकर कन्याकुमारी तक भारत का कोई भी भाग ऐसा न था जहाँ पर यह आन्दोलन लोकप्रिय न हुआ हो। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने ठीक ही कहा है कि, "यह जन-आन्दोलन था और इसने लोगों को गहरे रूप से प्रभावित किया था। शायद बुद्ध-धर्म के पतन के पश्चात् भक्ति आन्दोलन जैसा देशव्यापी जन-आन्दोलन हमारे देश में दूसरा नहीं हुआ था।"

प्रो. बी. एन. लूनिया के अनुसार, इस्लामी समाज का उदाहरण हिन्दुओं के ईर्ष्या-द्वेष को गलाने वाला पदार्थ था। सभी सुधारकों ने जाति-प्रथा की निन्दा की, बहुदेववाद और मूर्ति-पूजा का खण्डन किया और सच्चा धर्म, सात्त्विक आचरण एवं पवित्र जीवन का समर्थन किया। उनका कथन था कि सच्चा धर्म निरर्थक आडम्बरों में निहित नहीं है, पर भक्ति व ईश्वर के पवित्र प्रेम में है। ईश्वर तो हिन्दुओं और मुसलमानों, चाण्डालों और ब्राह्मणों सभी का है और उनके सम्मुख सब समान हैं। उन्होंने प्रेम व दया से पूर्ण अपने उपास्य-देव की भक्ति का उपदेश दिया और उसी को मुक्ति का साधन बतलाया।

इन सन्तों ने अपने उपदेशों से जनता के मस्तिष्क को पण्डितों, पुजारियों और मौलवियों के ढोंग से मुक्त करने में सहायता दी, धार्मिक पक्षपात, कट्टरता और असहिष्णुता को कम करने का प्रयत्न किया, धार्मिक कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बर की निस्सारता प्रदर्शित की, बहुदेव-पूजा की रोक-थाम की एवं एकेश्वर का पुनः प्रचार किया। उन्होंने हिन्दू वर्ण-व्यवस्था को कट्टर अनुदार व अपरिवर्तनशील भावनाओं से मुक्त किया, निम्न श्रेणी के लोगों के लिए आध्यात्मिक तथा सामाजिक स्तरों को ऊंचा उठाया, जन्म की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दिया एवं समाज में उदारता, सहनशीलता, दान आदि की उच्चतम भावनाओं का प्रसार किया। वास्तव में उन्होंने, "देश को विचार और कार्य दोनों ही दृष्टियों से ऊँचा उठाने तथा क्षमताशील बनाने में सफलता प्राप्त की।"

भक्ति आन्दोलन मध्य-कालीन भारतीय इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह एक जन-आन्दोलन था जिससे देश में धार्मिक व सामाजिक चेतना की एक नई लहर उत्पन्न हुई। भक्ति-आन्दोलन का हिन्दू समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसके परिणाम भी महत्त्वपूर्ण निकले जो अग्रानुसार हैं :

1. समानता की भावना का उदय—हिन्दू समाज में समानता के सिद्धान्त का समर्थन किया जाने लगा और लोगों का जात-पांत तथा ऊंच-नीच में विश्वास कम हो गया।

2. मूर्तिपूजा में कमी—इस आन्दोलन से मूर्ति-पूजा समाप्त तो नहीं हुई, पर कम अवश्य हो गई। लोगों में यह धारणा प्रबल हो गई कि मूर्तियों की पूजा निरर्थक है।

3. आडम्बरों में अविश्वास—अब धार्मिक कर्म-काण्डों व सामाजिक वाह्य आडम्बरों में लोगों की आस्था न रह गई।

4. ब्राह्मणवाद के प्रभाव का पतन—भक्ति आन्दोलन के विस्तार में ब्राह्मणों की पौराणिक परम्परागत प्रभुता तथा धार्मिक क्षेत्र में उनके एकमात्र अधिकार का अन्त हो गया।

5. निम्न जातियों का उत्थान—अब समाज में निम्न जातियों को भी ऊँचा उठने और भक्ति द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने का अधिकार मिल गया।

6. धार्मिक सहिष्णुता का विकास—इस आन्दोलन ने धार्मिक सहिष्णुता को जन्म दिया। इसके फलस्वरूप भारतीय समाज के दो मुख्य अंगों–हिन्दुओं और मुसलमानों में सामंजस्य और समन्वय की भावना उदय हुई। परिणामतः भारत के सामाजिक जीवन में समृद्धि, स्थिरता और शान्ति दृष्टिगोचर होने लगी। ऐसे ही वातावरण में मुगल साम्राज्य की, सोलहवीं शताब्दी में स्थापना हुई थी।

7. जन-भाषाओं की अभूतपूर्व उन्नति—अधिकांश संतों व धर्म व समाज सुधारकों ने इस काल में लोगों को अपने-अपने प्रदेश की जन-भाषाओं में उपदेश दिये। भक्ति-आन्दोलन के कारण अनेक गीतों और पदों ने गुजराती एवं राजस्थानी में, चण्डीदास तथा चैतन्य ने बंगला में, एकनाथ और ज्ञानेश्वर ने मराठी में, कबीर, जायसी व रसखान ने हिन्दी में, तुलसी ने अवधी में, सूरदास ने वृज भाषा तथा नानक ने पंजाबी में अपनी रचनायें कीं। इस तरह भाषाओं के साहित्य की सम्पन्नता में वृद्धि हुई।

निष्कर्ष—इस तरह भक्ति आन्दोलन का भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस आन्दोलन के कारण हिन्दू जाति के निराश हृदय में आशा का सचार हुआ। इसके प्रभाव से अनेक सामाजिक कुरीतियों का नाश हुआ तथा राष्ट्रीय विचारधारा को शक्ति प्राप्त हुई। धर्म का रूप शुद्ध एवं सात्विक बन गया। उसमें व्यर्थ के कर्मकाण्डों एवं वाह्य आडम्बरों का महत्त्व कम हुआ। लोगों में भक्ति-भावना का जोर बढ़ता गया।

डॉ० यूसुफ हुसैन ने ठीक ही लिखा है कि "भक्ति-आन्दोलन ने ईश्वर की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति के महत्त्व के विषय में एक नया सामाजिक सन्देश दिया। साथ ही नये सामाजिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों की भक्ति का अनुसरण करके

उपयुक्त साधन बनाने के लिए प्रचलित हिन्दू-आन्दोलन ने दलित वर्ग के लिए मुक्ति का मार्ग खोल दिया। सर्व-साधारण में धार्मिक कट्टरता के स्थान पर उदारता लगी। इससे धार्मिक, सामाजिक तथा दर्शनिक क्षेत्र में समन्वयकारी प्रवृत्तियों का बल मिला।

## III. भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक सन्त

मध्य काल में इस्लाम और हिन्दू धर्म के परस्पर संसर्ग से अति महत्त्व-शाली परिणाम हुए। इस सम्बन्ध में डॉ० मजूमदार, राय चौधरी एवं दत्त ने लिखा है: "इस्लाम के कुछ प्रजातन्त्रीय सिद्धांतों ने हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक व्यवस्थाओं में प्रवेश किया और कुछ धार्मिक उपदेशकों की अध्यक्षता में उदार आन्दोलनों को जन्म दिया। विस्तार में कुछ अन्तरों के अलावा ये सब सुधारक उदार भक्ति-सम्प्रदाय के निदेशक थे।" कुछ प्रमुख सन्त इस प्रकार हैं:

रामानुज—भक्ति आन्दोलन के सबसे पहले समर्थक रामानुज थे, जिनके सिद्धांत भक्ति के आधार बन गए। रामानुज का जन्म दक्षिण में मद्रास के पास तिरुपति में 1060 ई० में हुआ और इनकी शिक्षा काल कांजीवरम् में बीता। अपनी विद्वता के कारण वे शीघ्र ही महान वैष्णव आचार्य यमुनामुनि की गद्दी के उत्तराधिकारी हो गये और त्रिचनापल्ली के समीप श्रीरंगम उनका प्रमुख केन्द्र बन गया। उनका जीवन बहुमुखी था एवं कार्य क्षेत्र व्यापक था। उन्होंने वैष्णवों का संस्थाबद्ध रूप में संगठन किया। उनके सतत् सफल प्रयासों से वैष्णव-मत की नींव दृढ़ हो गई और उसने स्थायी रूप ले लिया।

रामानुज सुधारक थे। उनका मत था कि "समाज में पुरुष अथवा स्त्री की चाहे जो भी दशा हो, परमात्मा के समीप सभी समान हैं, शर्त यह है कि वे सदजीवन का पालन करते हों।" उनके अनुसार, एक शुद्ध अंत्यज भी भक्ति और प्रेम के माध्यम द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। उन्होंने शुद्रों को एक निश्चित् दिवस पर मन्दिर प्रवेश की अनुमति दे दी।

उन्होंने वैष्णव नाम के अन्तर्गत एकेश्वरवाद का उपदेश दिया और शंकराचार्य के अद्वैत-मत का खडन किया। ईश्वर में अनन्य भक्ति को ही उन्होंने मुक्ति का एकमात्र साधन बतलाया। उनका मत था कि आत्मा तथा परमात्मा भिन्न हैं। यद्यपि आत्माओं का समुदय आग से चिनगारी के समान उसी से होता है। मनुष्य की आत्मा ईश्वर से इस प्रकार निकलती है, जिस प्रकार आग से चिनगारी। उन्होंने निराकार ईश्वर का प्रतिरोध करते हुए कहा कि ईश्वर में अनेक विशिष्ट गुण हैं, भक्त जिनका ध्यान कर सकता है। इस प्रकार उन्होंने सगुण ईश्वर का उपदेश दिया। उनका सिद्धांत "विशिष्ट द्वैत" नाम से प्रख्यात है। उन्होंने लोगों को त्याग-भावना के साथ इच्छा रहित भक्ति का उपदेश दिया। उनका विचार था कि बिना मन की एकाग्रता तथा भक्ति के मोक्ष-प्राप्ति सम्भव नहीं है।

माध्वाचार्य—दक्षिण के अन्य प्रसिद्ध उपदेशक माध्वाचार्य थे जो दक्षिण कन्नड़ में उदिपी नामक स्थान के निवासी थे । ये विष्णु के उपासक थे और शिव को कोई महत्त्व नहीं देते थे। उनके सिद्धांत के अनुसार ज्ञान से भक्ति होती है और मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य हरि का प्रत्यक्ष दर्शन है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। उनका मत था कि "सुखों–दुखों की स्थिति कर्मानुसार होने से उनका अनुभव सभी के लिए अनिवार्य है। इसलिए सुख का अनुभव करते समय भी भगवान को न भूलो तथा दुःख काल में उसकी निन्दा मत करो। वेद-शास्त्र सम्मत कर्म-मार्ग पर अटल रहो। कोई भी कर्म करते समय बड़े दीन भाव से भगवान् का स्मरण करो। भगवान् ही सबसे बड़े, सबके गुरु तथा जगत के माता-पिता हैं। इसलिए अपने सारे कर्म उन्हीं को अर्पण करने चाहिए।"

वल्लभाचार्य—अन्य प्रसिद्ध वैष्णव सन्त वल्लभाचार्य थे जो कृष्ण सम्प्रदाय के सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रवर्तक माने गये हैं। ये दक्षिण के तैलंग ब्राह्मण थे और अपनी अद्वितीय प्रतिभा और विद्वता से शीघ्र ही विद्वानों में प्रसिद्ध हो गये। उन्होंने शारीरिक यातनाएँ, वैराग्य और संसार-त्याग का उपदेश दिया एवं सर्वोपरि परमात्मा के साथ अपनी आत्मा व विश्व के सम्पूर्ण एकीकरण पर बल दिया। उन्होंने लोगों को कृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया और पुष्टि-मार्ग की स्थापना की। उन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया और लोगों को बतलाया– "जीव उतना ही सत्य है, जितना कि ब्रह्म। फिर भी वह ब्रह्म का अंश और सेवक है। जीव को भगवान की भक्ति के बिना शांति नहीं मिल सकती है। भगवान् श्री कृष्ण ही परमब्रह्म है।" डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव के मतानुसार, "वल्लभाचार्य के उपदेशों में एक भावात्मक प्रेरणा थी और इस प्रेरणा ने ब्रज, राजस्थान और गुजरात की कला और काव्य को बहुत ही ऊँचा उठाया। वास्तव में वल्लभाचार्य के विचारों ने केवल धार्मिक जागृति ही उत्पन्न नहीं की, बल्कि संगीत, काव्य, नृत्य और चित्रकला में भी महान पुनरुत्थान का श्रीगणेश किया।"

वल्लभाचार्य का अधिकांश जीवन ब्रज में व्यतीत हुआ। उनका एकेश्वरवाद "शुद्ध अद्वैत" नाम से प्रसिद्ध है। प्रो० बी० एल० लूनिया के अनुसार, उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अनुयायियों ने इस सिद्धांत का भौतिक अर्थ लगाया। अतएव उनके सिद्धांतों में दुर्गुण उत्पन्न हो गये और उनकी मौलिक पवित्रता व सरलता विनष्ट हो गयी। अपने पतितरूप में यह इन्द्रिय-सुख में निरत रहने वालों का विषयासक्त धर्म हो गया।

## रामानन्द [1356-1410 ई०] उपदेश की विशेषताएँ

14वीं शताब्दी तक सभी धर्म-गुरु दक्षिण-भारत में ही हुए थे। पर 14वीं शताब्दी में उत्तर भारत में एक प्रसिद्ध आचार्य का जन्म हुआ। यह आचार्य रामानन्द थे। वे रामानुज के बाद वैष्णव

धर्म के पांचवें गुरू थे। उत्तर भारत में वैष्णव धर्म के प्रसार के लिए वे ही अधिक उत्तरदायी हैं। उन्होंने जाति-प्रथा का खण्डन किया और विना किसी भेद-भाव के सभी वर्गों और जातियों से लोगों को अपना शिष्य बनाया। उनके प्रमुख शिष्यों में एक नाई, एक मोची व एक मुसलमान था। उन्होंने ईश्वर के सम्मुख मनुष्य की समानता का उपदेश दिया। वे पहले सुधारक थे जिन्होंने अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए हिन्दी भाषा का उपयोग किया और इस प्रकार जन-साधारण में, विशेषकर निम्न-वर्ग के लोगों में, उन्होंने ख्याति प्राप्त की।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है : "रामानन्द का महत्त्व अनेक दृष्टियों से है। वे राम-भक्ति को साम्प्रदायिक रूप देने वाले सर्व-प्रथम आचार्य थे। उन्हीं की प्रेरणा से मध्य युग में तथा उसके पश्चात् प्रचुर रामभक्ति साहित्य की रचना हुई। कबीर और तुलसी दोनों का श्रेय रामानन्द को ही है। रामानन्द ने भक्ति के द्वार स्त्री और शूद्र के लिये भी खोल दिये। फलतः मध्य युग में एक बड़ी सबल उदार विचारधारा का जन्म हुआ। सन्त-साहित्य की अधिकांश उदार चेतना रामानन्द के ही कारण है। यही नहीं, रामानन्द की इस उदार भावना ने हिन्दू और मुसलमानों को भी समीप लाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका तैयार कर दी। हिन्दी के अधिकांश सन्त कवि, जो रामानन्द को ही अपनी मूल प्रेरणा-स्रोत मानते हैं, मुसलमान ही थे। रामानन्द की उदार विचारधारा प्रायः समूचे भारत में फैल गयी।

रामानंद के उपदेश : विशेषताएँ—स्वामी रामानन्द ने जो उपदेश दिये, उनके विभिन्न पहलुओं पर निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकाश डाला जाता है :

(1) राम और सीता की उपासना—उन्होंने राम और सीता के पवित्र रूप को जन-साधारण के आगे प्रस्तुत किया तथा नैतिक और सामाजिक मर्यादा का पाठ पढ़ाया। राम भक्ति में ईश्वर के अवतार पुरुषोत्तम राम के आदर्श का यशोगान किया गया।

(2) मानव समानता में विश्वास—रामानन्द मानव-समानता के सिद्धांत में विश्वास करते थे। उनके क्रांतिकारी विचारों के फलस्वरूप शूद्रों और निम्न जातियों में जागरण की लहर दौड़ गयी। उन्होंने स्त्रियों की दलित दशा के प्रति दुःख प्रकट किया और उनके स्तर को ऊँचा उठाने के लिए अपने शिष्यों को प्रोत्साहित किया। उनका कहना था कि "सब लोग परमात्मा के सेवक हैं, इसलिए वे सभी आपस में भाई-भाई हैं।"

(3) परम्पराओं में विश्वास—रामानन्द ने जाति-व्यवस्था के बन्धनों को शिथिल किया और शूद्रों एवं स्त्रियों के लिए अपने धर्म के द्वार खोल दिए। इतना करने पर भी वे इस पक्ष में नहीं थे कि प्राचीन परम्पराओं को पूर्णरूप से समाप्त कर दिया जाय। इस सम्बन्ध में डॉ० बड़थ्वाल ने लिखा है : "उन्होंने शूद्र के वेदों को पढ़ने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया और सामाजिक मामलों में वे मुसलमान से हिन्दू की और शूद्रों से द्विजों की श्रेष्ठता को अस्वीकार न कर सके।

(4) **जन-भाषा हिन्दी का प्रयोग**—यह प्रथम वैष्णव गुरु थे जिन्होंने अपने सिद्धांतों का प्रचार हिन्दी-भाषा में किया। इससे पूर्व वैष्णव धर्म का प्रचार संस्कृत भाषा में किया जाता था। हिन्दी उत्तर भारत की जन साधारण की भाषा थी: अतः उनके उपदेशों को सर्वसाधारण ने बड़ी सरलता से ग्रहण कर लिया और उनके सिद्धांतों का प्रचार भी व्यापक मात्रा में हुआ।

(5) **भक्ति के दो सम्प्रदायों के जन्मदाता**—रामानन्द का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि इनके शिष्य सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के उपासक थे। **डॉ० ताराचंद** ने लिखा है- "रामानन्द के उपदेशों ने धार्मिक विचारधारा के दो सम्प्रदायों को जन्म दिया, एक अनुदार और दूसरा उदार। पहले सम्प्रदाय ने प्राचीन विश्वासों में आस्था रखी और धार्मिक सिद्धांतों तथा विधियों में केवल मामूली परिवर्तन किया। दूसरे ने अधिक स्वतन्त्र मार्ग का अवलंबन किया और ऐसे धर्म का निर्माण करने का प्रयास किया, जो विभिन्न धर्मों के मनुष्य को, विशेष रूप से हिन्दुओं और मुसलमानों को स्वीकार हों। पहले सम्प्रदाय में सर्वश्रेष्ठ नाम तुलसीदास का और दूसरे में कबीर का। ये दोनों वास्तव में मध्ययुगीन भारत के अद्वितीय महापुरुष थे।"

**निष्कर्ष**—रामानन्द के उपदेशों के परिणाम अति हितकर सिद्ध हुए। ***डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव*** के शब्दों में : "क्योंकि हर कोई वैष्णव धर्म के उपदेश समझ सकता था, इसलिए शूद्रों में काफी जागृति हुई। रामानन्द ने धार्मिक सभाओं में अपने शिष्यों को समान व्यवहार का आश्वासन दे रखा था, इसलिए उनके उपदेशों ने स्त्रियों का स्तर ऊँचा उठाया और पारिवारिक जीवन को पवित्रता प्रदान की। रामानन्द ने प्रेम और भक्ति पर तो बल दिया पर, धार्मिक कृत्यों, धार्मिक रस्मों, उपवासों और तीर्थ यात्राओं पर बल नहीं दिया। फिर, उन्होंने भक्ति आंदोलन को लोकवादी रूप प्रदान किया जो उनकी जनप्रियता का स्वाभाविक परिणाम था।" इन सबके परिणाम स्वरूप रामानन्द की उदार विचारधारा प्रायः समूचे भारतवर्ष में फैल गयी।

## सन्त कबीर : मुख्य शिक्षायें और महत्त्व

रामानन्द के शिष्यों में सबसे श्रेष्ठ स्थान कबीर का है। भक्तकालीन संतों में कबीर का नाम सबसे ऊपर आता है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार, उनका जन्म संवत 1456 के लगभग हुआ था तथा उनकी मृत्यु 1515 वि० संवत में हुई। नाम के लिए तो वे मुसलमान थे, पर उनके विचार हिन्दुओं के-से थे। यद्यपि वे विवाहित थे, पर उनके विचार त्यागी मनुष्य जैसे थे। वे जाति-प्रथा के कट्टर विरोधी थे। उनको इस बात में दृढ़ विश्वास था कि केवल ईश्वर-भक्ति से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। उन्होंने सभी प्रकार के आडम्बरों की निन्दा की। कबीर ने गुरु को अति उच्च स्थान प्रदान किया है। सच्चा गुरु केवल भगवान की कृपा से ही

मिलता है। गुरू के माध्यम से ही शिष्य ईश्वर के समीप पहुँच सकता है। कबीर ने अपने उपदेशों में ईश्वर और मानव जाति के प्रति प्रेम पर बल दिया। उन्होंने अच्छी संगति की अत्यधिक प्रशंसा की।

प्रो० बी० एन० लूनिया के मतानुसार, "कबीर की शिक्षाओं पर, जो रहस्य-वाद से ओत-प्रोत थीं, इस्लाम के सूफी संतों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कबीर एक निर्मल भविष्य के स्वप्नदृष्टा थे जिसमें असत्य और असमानता तथा आडम्बर और अलंकार का सर्वथा अभाव था। वे समाज के दृढ़ सचेतक, निर्भय आलोचक, हिन्दू मुस्लिम समन्वय के प्रथम प्रयासक, मध्य वर्ग के प्रणेता, मार्ग-दर्शक, हिन्दू-मुस्लिम एकता के महान् अग्रदूत और विशुद्ध मानव धर्म के प्रशस्त प्रचारक तथा महान् धार्मिक क्रांति कारक थे।"

**कबीर–समाज-सुधारक के रूप में**—कबीर का महत्त्व एक कवि या साहित्यिक की अपेक्षा एक सुधारक के रूप में अधिक है। डॉ० यूसुफ हुसैन के मतानुसार, उत्तरी भारत के विभिन्न वर्ण और धार्मिक समुदायों के मतभेदों का मान्य उपायों द्वारा अंत करना कबीर का प्रमुख उद्देश्य था। वे वर्णाश्रम–प्रथा के साथ ही अन्धविश्वासों पर आधारित धर्मों की शत्रुता का अथवा दूसरों की मूर्खता से लाभ उठाकर उन्हें भ्रष्ट करने वाले एक स्वार्थी अल्पसंख्यक समुदाय का उन्मूलन करना चाहते थे। साथ-साथ रहने वाले लोगों के बीच वे सामाजिक एवं धार्मिक शांति स्थापित करने के आकांक्षी थे, क्योंकि धर्म के नाम पर उन्हें एक दूसरे से अलग कर दिया गया था।

कबीर पूर्ण शक्ति के साथ उन परम्पराओं का खण्डन करते रहे जो ऊँच-नीच की भावनाओं को उत्साहित करती थीं। कबीर के युग में—पन्द्रहवीं शताब्दी में—सामाजिक समानता की बात करना एक अनोखापन था। प्रारम्भ में अवश्य ही उन्हें बड़े विरोध का सामना करना पड़ा होगा; परन्तु वे अपने विचारों में दृढ़ रहे और मानव समानता पर जीवन-भर बल देते रहे। एक विद्वान के शब्दों में : "कबीर का व्यक्तित्व क्रान्तिकारी था। उनका यह व्यक्तित्व ही भक्त, प्रेमी तथा शुद्ध मानव की विभिन्न धाराओं में वहा है। उनके व्यक्तित्व में सर्वत्र एक प्रखरता, निश्छलता तथा स्पष्टता है।" उनके सामाजिक सुधार की उल्लेखनीय विशेषताएँ निम्न-लिखित थीं :

(1) **जाति-प्रथा व ऊँच-नीच की भावना की निन्दा**—डॉ. यूसुफ हुसैन के अनुसार कबीर जाति-प्रथा के अन्त के बारे में सुनिश्चित थे। वे इसको निरकुश और अन्यायपूर्ण मानते थे तथा उसकी खुलकर निन्दा करते थे, जैसा कि उनसे पहले किसी सुधारक ने नहीं किया। उन्होंने शूद्रों के लिये अन्य जातियों के बराबर सामाजिक समानता की मांग की। उन्होंने जाति-भेद का खंडन करते हुए मनुष्य की समानता पर बल दिया और इस बात की घोषणा की कि ईश्वर के उच्च सिंहासन के सम्मुख

ऊँच और नीच, हिन्दू और मुसलमान सभी समान हैं। कबीर ने स्वयं कहा था : "यह क्या बात है कि एक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है और अपनी मृत्यु तक शूद्र रहता है ? ब्राह्मण स्वयं अपने लिए जनेऊ बनाता है और उसे धारण करता है। यदि ब्राह्मणी से जन्म लेने वाला ब्राह्मण है, तो तेरा जन्म दूसरे ढंग से क्यों नहीं होता है ?"

(2) बाह्य पवित्रता का उपहास—कबीर ने बाह्य पवित्रता और स्पर्श द्वारा अपवित्र होने के विचार का अति व्यंग्यात्मक भाषा में उपहास किया है। उनका कथन था- "मुझे बताइये कि अपवित्रता क्या है ? यह किस प्रकार उत्पन्न होती है ? तुम्हारे भोजन में और पानी में, जिससे तुम अपना मुंह साफ करते हो अपवित्रता है। मछलियों, कछुओं और मगरों के रूप में नदी रक्त से ओत-प्रोत है। ओ पण्डित ! तुम भोजन करने के लिए पृथ्वी पर बैठते हो, पर पृथ्वी अपवित्र है। पग-पग पर उसमें लोग दफन हैं और वे मिट्टी हो गये।"

(3) मानव-कल्याण पर बल—कबीर ने आध्यात्मिक समस्याओं के बजाय मानव-आचरण की समस्याओं पर अधिक बल दिया है। उन्होंने अच्छी संगति की अत्यधिक प्रशंसा की और कहा—"मनुष्य जैसी संगति में रहता है, वैसा ही उसका आचरण और स्वभाव हो जाता है।"

कबीर—धार्मिक सुधारक के रूप में—डॉ० यूसुफ हुसैन के अनुसार, कबीर की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे मार्ग की खोज करना था, जिसको स्वीकार करके उत्तरी भारत की विभिन्न जातियों और धार्मिक सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित हो सके। परंतु, कबीर ने नया धर्म स्थापित करने का कभी विचार नहीं किया। उन्होंने न तो हिन्दू धर्म और न इस्लाम धर्म को श्रेष्ठता प्रदान की, बल्कि उन्होंने दोनों धर्मों की अच्छी बातों की प्रशंसा और बुरी बातों की निन्दा की। अतएव, उन्होंने धार्मिक सुधारों पर बल दिया जो निम्नानुसार हैं :

(1) सर्वोच्च सत्ता एक है—कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों को यह बताकर कि सर्वोच्च सत्ता एक ही है, हिन्दू और इस्लाम धर्मों की झूठी पृथकता का खण्डन किया। उन्होंने कहा—"भाई ! संसार के दो स्वामी कहाँ से आये ? मुझे बताओ कि अल्लाह, राम, केशव, हरि और हजरत, नाम किसने रखे हैं ? सोने के सभी आभूषण एक ही अपूर्व धातु के बने हैं। संसार को दिखाने के लिए उपासना के दो रूप हैं, जिनमें से एक को नमाज और दूसरे को पूजा कहते हैं। महादेव और मुहम्मद, ब्रह्म और आदम एक ही हैं। हिन्दू और तुर्क क्या है ? दोनों इसी संसार में रहते हैं। उनमें से एक वेद पढ़ता है और दूसरा कुरान; एक पण्डित है दूसरा मौलाना। यद्यपि मिट्टी के बर्तन एक ही वस्तु से बनते हैं, पर इनके नाम अलग-अलग होते हैं। कबीरदास कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों भ्रम में हैं क्योंकि इनमें से किसी को भी ईश्वर नहीं मिला है।"

(2) धर्मों की झूठी प्रयकता का खण्डन—कबीर ने कहा कि धार्मिक भेद-भाव अर्थहीन है। वास्तविक मानवता तो एक ही है। उनका कथन था–"ओ सन्यासियों ! मैंने दोनों धर्मों की विधियों को देखा है। अपने गर्व के कारण हिन्दू और मुसलमान की विधि एक ही है। सतगुरु ने मुझे यह बात बताई है। जो बात कबीर कहता है उसे सुनो—राम और खुदा एक ही हैं।"

(3) मूर्ति पूजा व आडम्बरों की निन्दा—कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों के अर्थहीन आडम्बरों और रस्मों की निन्दा की है। उन्होंने दिखावे के व्रत, रोजा, कब्रों की पूजा आदि के विरुद्ध आवाज उठाई। मूर्ति-पूजा की निरर्थकता का विरोध करते हुए उन्होंने हिन्दुओं से कहा—

'पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते या चाकी भली, पीस खाय संसार॥

(3) तीर्थ यात्रा में अविश्वास—कबीर को हिन्दुओं की तीर्थ-यात्रा और मुसलमानों के हज (मक्का की तीर्थ-यात्रा) में अविश्वास था। उनका कहना था कि तीर्थ यात्रा करना व्यर्थ है। इससे कहीं आवश्यक है—भाव की शुद्धता, मालिक का भय, नैतिक आचरण, सबके प्रति स्नेह और भाईचारे का व्यवहार।

(5) ब्राह्मणों और मुल्लाओं की निन्दा—कबीर ने पुरोहित ब्राह्मणों व मौलवियों को अन्ध-विश्वासी, अहंकारी, सत्य-भ्रष्ट व मूर्ख आदि कहकर निन्दा की। उन्होंने कहा कि ब्राह्मण और मौलवी जिन धार्मिक कृत्यों को करते हैं, उससे उनको मोक्ष नहीं मिलती है, बल्कि लोगों में भेदभाव बढ़ता है।

निष्कर्ष—वास्तव में यह संत कबीर ही थे जिन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों में सामंजस्य की भावना स्थापित करने के लिए उत्साहपूर्वक हार्दिक प्रयत्न किये। उन्होंने प्रेम तथा धर्म का उपदेश दिया जिसका उद्देश्य समस्त वर्गों और सम्प्रदायों में एकता का विकास करना था। उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की विस्तीर्ण खाई को भरने तथा उसमें सहयोग, समन्वय और सम्मिलन की भावना धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियों एवं आडम्बरों का खण्डन करते हुए उनकी आन्तरिक एकता पर अधिक जोर दिया। डॉ० ताराचन्द के शब्दों में कहा जा सकता है कि "कबीर के जीवन का उद्देश्य प्रेम के धर्म की शिक्षा देना था, जो सब जातियों और धर्मों को एक बनाये। उन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम के उन तत्वों को अस्वीकार कर दिया, जो इस भावना के विरुद्ध थे।"

## गुरु नानक [1469–1538 ई०] : प्रमुख उपदेश

गुरु नानक सिख धर्म के संस्थापक एवं सिखों के आदि गुरु थे। वे अपने समय के अपूर्व धर्म-सुधारक, रूढ़िविरोधी तथा अद्भुत युग-पुरुष थे। मध्य-युगीन धर्म सुधारकों में नानक का विशिष्ट स्थान है। कनिंघम के अनुसार, "प्रत्येक मौलिक धर्म-संस्थापक अपनी व्यक्तिगत, सामाजिक व ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप

हो अपने धार्मिक सन्देश देता है जिसका पालन नानक ने भी किया ।" गुरू नानक का जन्म 1469 ई० में पाकिस्तान स्थित वर्तमान'ननकाना' में हुआ था।

उद्देश्य और धर्म-प्रचार—खुशवन्तसिंह के अनुसार, "एक युवक के रूप में वे उस समय प्रचलित भक्ति मार्ग के सीधे सम्पर्क में आये । कबीर ने उन्हें काफी प्रभावित किया और पंजाब की यात्रा करते समय उनका कई मुसलमान सूफी संतों से भी मिलना हुआ। सूफी शेख फरीद के जीवन-दर्शन ने उन्हें बहुत ज्यादा प्रभावित किया ।" वास्तव में, नानक विभिन्न धर्मों की बुराइयों के विरोधी थे तथा साथ ही विभिन्न धर्मों की अच्छाइयों को स्वीकार करना अपना परम कर्तव्य समझते थे। डॉ० ताराचन्द के मतानुसार, "नानक के मस्तिष्क में यह विचार सर्वथा स्पष्ट था कि उनका जन्म केवल एक ही कार्य की सिद्धि के लिए हुआ है और वह कार्य है–लोगों को उस मुक्ति का मार्ग बताये जो एक है तथा जिस पर एक ही ईश्वर का शासन है ।"

डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने गुरु नानक के उपदेशों के लक्ष्य के सम्बन्धों में लिखा है : "नानक का उद्देश्य एक ही ईश्वर की मान्यता के आधार पर हिन्दू धर्म में सुधार करना और हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना था।" प्रो० बी. एन. लूनिया के अनुसार, "उन्होंने मृत्यु-पर्यन्त हिन्दू-मुसलमानों के तीव्र मतभेदों को दूर करने की सफल चेष्टा की। इनके शिष्यों में हिन्दू व मुसलमान दोनों ही थे ।"

गुरू नानक ने उपनिषद् के विशुद्ध एकेश्वरवाद के सिद्धांत को पुनः जागृत किया। कबीर के समान उन्होंने एकेश्वरवाद का उपदेश दिया, मूर्ति-पूजा की निन्दा की, बहुदेव-पूजा का विरोध किया एवं हिन्दू धर्म और इस्लाम के कर्मकाण्ड का प्रतिरोध किया। उनका उद्देश्य विभिन्न धर्मों के संघर्ष का अन्त करना था। उनका कथन था कि ईश्वर नाम के सम्मुख जाति और कुल के बन्धन निरर्थक हैं। उन्होंने ईमानदारी, विश्वासपात्रता, सत्य निष्ठा, दान-दया, मद्य-निषेध आदि उच्चतम आदर्शों के पालन करने का आदेश दिया। उनका मत था कि विश्व का परित्याग कर सन्यास लेना ईश्वर की दृष्टि में आवश्यक नहीं है, उसके लिए तो धार्मिक सन्यासी तथा भक्त व गृहस्थ सभी समान हैं।

## गुरु नानक के उपदेश : प्रमुख विशेषताएँ

गुरुनानक ने जो उपदेश दिए उनके विभिन्न पहलू और प्रमुख विशेषताएँ निम्नानुसार हैं : (1) हिंदू-मुस्लिम एकता पर बल—नानक हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। वे इन दोनों को पिता-परमेश्वर की संतान मानते थे। नानक ने हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य द्वेष को मिटाने के लिए कहा : "ईश्वर ने मुझसे कहा कि तू संसार में जा और लोगों से एक ही ईश्वर का नाम लेने के लिए कह । सत्य का धर्म स्थापित कर और बुराई को दूर कर । दोनों जातियों में से

जो भी तेरे पास आएं, उसे अपना शिष्य बना। जीवन को व्यर्थ नष्ट मत होने दे निर्धनों की रक्षा कर, याद रख कि 84 लाख योनियों में ईश्वर विद्यमान है।"

(2) एक सर्वोच्च सत्ता—नानक ने चरम सत्य ईश्वर को बताया और उसी को जनता के समने रखा। उनका कहना था—"संसार भर का ईश्वर एक है, समस्त भेद मात्र मानव-कृत हैं।"....विश्व में या इससे बाहर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसका सम्बन्ध ईश्वर से नहीं है। जितनी भी सृष्टि है, वह सब उसी का नाम है।

(3) सच्चे धर्म पर जोर—नानक ने लोगों को सच्चा धर्म का अभिप्राय बताते हुए कहा : "धर्म केवल शब्दों में नहीं है। जो व्यक्ति सब मनुष्यों को बराबर समझता है, वही धार्मिक है। मकबरों या कब्रिस्तानों में घूमना या समाधि में बैठना धर्म नहीं है। विदेशों में घूमना या तीर्थ-स्थानों में स्नान करना धर्म नहीं है। संसार की अशुद्धताओं में शुद्ध रहो और इसी में तुम्हें सच्चा धर्म मिलेगा।" धार्मिक कट्टरता और अन्ध-विश्वास किसी भी धर्म का हो, उन्हें अप्रिय था और वे उसका बिना किसी हिचक के विरोध करते थे।

(4) आडम्बरों की निन्दा—गुरुनानक ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बाह्य आडम्बरों की निन्दा की। उन्होंने गंगा-स्नान, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा, ब्राह्मणों और मौलवियों की प्रमुखता और इस्लाम के धर्म कर्मकाण्डों का विरोध किया। कबीर के समान नानक वेदों में विश्वास नहीं करते थे तथा मूर्ति-पूजा को भी व्यर्थ समझते थे। मुसलमानों को उन्होंने उपदेश दिया था—"दया को अपनी मस्जिद बना, इन्साफ को अपना कुरान समझ, नेक कार्यों को अपना काबा बना और परोपकार को कलमा तथा खुदा की मर्जी को अपनी तस्बीह मान।" हिन्दुओं से उन्होंने कहा कि 'वही मनुष्य अपने धर्म के प्रति सच्चा है जो भगवान् से डरता है और अच्छे काम करता है।"

(5) जाति-प्रथा का विरोध—नानक का कहना था कि जाति की उच्चता के आधार पर गर्व करना अपने को ईश्वर से दूर ले जाना है। "याद रखो कि कर्म ही जाति को निश्चित करता है। मनुष्य अपने स्वयं के कार्यों से श्रेष्ठ अथवा पतित बनता है।"...जाति-भेद की चिन्ता न करो। याद रखो कि ईश्वर का प्रकाश सब व्यक्तियों में है और उसके यहाँ जाति भेद नहीं।"

(6) चरित्र एवं हृदय की पवित्रता पर बल—गुरुनानक ने चरित्र निर्माण पर अत्यधिक बल दिया। उनका कथन था—"यदि मनुष्य का चरित्र ठीक नहीं है, तो वह जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता। मनुष्य समाज में रहकर अपने कर्त्तव्यों का उचित प्रकार से पालन तभी कर सकता है, जबकि उसका चरित्र अच्छा हो।" उन्होंने हृदय की पवित्रता पर भी बल दिया।

(7) गुरू का महत्व—नानक ने कहा है : "गुरू के मिलने से ही हमें सांसारिक जीवन के अन्त और आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ का अनुभव होता है, गर्व का नाश होता है, मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है और परमात्मा की शरण में स्थान मिलता है। संसार में चाहे जितने भी मित्र या सखा हों, पर गुरू के बिना ईश्वर के अस्तित्त्व का ज्ञान नहीं होता है।

निष्कर्ष—गुरूनानक हमेशा 'पुण्य की प्रशंसा, और 'पाप की निन्दा' पर बहुत जोर देते थे। इस तरह, गुरूनानक का जीवन एक प्रकाश की भाँति तथा नैतिकता और चरित्र की निर्भयता लिए हुए है। उनका जीवन समस्त व्यक्तियों के दिलों में प्रेम, धैर्य और धार्मिक सद्भावना जागृत करने के लिए प्रेरणा का स्रोत है। गुरूनानक के अनुयायी बाद में सिक्ख कहलाये और उन्होंने उनके सिद्धान्तों को 'ग्रन्थ साहब' में संग्रहीत किया।

## सन्त दादू [ 1544-1603 ईस्वी ]

भक्ति सम्प्रदाय के सन्तों में दादू का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। संत कबीर की तरह दादू ने भी रूढ़िवाद की कटु आलोचना करते हुए हिन्दुओं और मुसलमानों को नजदीक लाने का सफल प्रयत्न किया। इनका जन्म तो अहमदाबाद में हुआ पर इन्होंने अपने जीवन का विशेष समय राजस्थान के नराना और भराना नामक स्थानों में व्यतीत किया। अन्य संतों के समान इन्होंने भी मूर्ति-पूजा, जाति बन्धन, तीर्थ, व्रत, अवतार आदि अन्धविश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाई। वे विभिन्न विरोधी सम्प्रदायों को भ्रातृत्व और प्रेम में बांधकर एक करना चाहते थे। अतएव इन्होंने एक अलग पंथ का निर्माण किया जो 'दादू पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वे धार्मिक ग्रन्थों की प्रभुता व प्रामाणिकता में विश्वास करने की अपेक्षा ईश्वर के साक्षात्कार में विश्वास करते थे। इसलिए उनका उपदेश था कि हम पूर्णतया अपने आपको ईश्वर को समर्पित कर दें।

सत दादू के महान् त्याग, ऊँचे प्रेम और अथाह दया ने हजारों को बरबस खींच लिया था। संत दादू का कहना था कि "आत्म-ज्ञान, जात-पांत की निस्सारता तथा संयम-नियम भावाभिव्यक्ति सच्ची उपासना के ठोस साधन है।" उनके अधिकांश अनुयायी गृहस्थ और व्यवसायी थे। इनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित थे।

## चैतन्य [1485-1533 ई०]

भक्ति आंदोलन की कृष्ण भक्ति शाखा आंदोलन के महानप्रवर्तकों में चैतन्य का नाम सबसे ऊपर आता है। बंगाल के नदिया ग्राम में उनका जन्म हुआ था और पच्चीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने संन्यास ले लिया था। इन्होंने जाति-प्रथा की घोर निन्दा की, मनुष्य के विश्व-बन्धुत्व की घोषणा की और कर्मकाण्ड की निस्सारता प्रकट की। उनका मत था कि प्रेम और भक्ति, भजन और नृत्य के द्वारा आनन्द और उल्लास की ऐसी दशा उत्पन्न होती हैं जिसमें ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है।

उन्होंने हरि-भक्ति का प्रचार किया एवं प्रेम, दया, भ्रातृ-भाव का उपदेश दिया ; संन्यासी जीवन के वे पक्षपाती थे और संकीर्तन-प्रथा के वे जनक थे। उन्होंने गोसाइयों के संघ को प्रतिष्ठित किया था। प्रेम इनके सम्प्रदाय की प्रधानता थी। इसने जन साधारण पर अत्यन्त ही गहन और विस्तृत प्रभाव डाला। उन्होंने लोगों को कृष्ण भक्ति का मन्त्र दिया। इनका धर्म रस्म-रिवाजों तथा आडम्बरों से मुक्त था। उन्होंने ज्ञान के स्थान पर प्रेम और भक्ति को मुख्य बताया।

परंतु, चैतन्य का प्रभाव केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित था, सामाजिक मामलों में यह परिलक्षित नहीं हुआ। चूंकि चैतन्य समाज सुधारक न थे इसलिए सामाजिक कुप्रथाओं की ओर विशेप ध्यान नहीं दिया। फिर भी, धर्म और ईश्वर की दृष्टि में वे सभी व्यक्तियों को समान मानते थे।

## मीराबाई [1498-1546 ई०]

मीरावाई का नाम भक्तकालीन संतों में विशेष श्रद्धा के साथ लिया जाता है। मीरावाई राजस्थान के जोधपुर क्षेत्र के मेड़ता में उत्पन्न हुई थी। यह वाल्यकाल से ही स्वयं पद बनाने लगी थी। सन्तों की भक्ति भावना का प्रभाव उन पर पड़ा और उन्होंने संत मत के अनसार ईश्वर की भक्ति की।

मीरा की उपासना माधुर्य भाव की थी अर्थात् वे अपने इष्टदेव श्री कृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थीं। उन्होंने अपने भगवान् का उल्लेख प्रियतम, योगी, सगुण ब्रह्म, प्रणय लीलाकारी आदि रूपों में किया है। अस्तु, मीरा का भगवान् प्रियतम पुरुप है, जिनकी दासी मीरा नारी है। मीरा का प्रेम ही उनकी साधना है। मीरा प्रेम-योगिनी थी। उनकी प्रणयानुभूति और विरह-पीड़ा की अभिव्यक्ति रहस्यवाद की भावना से ओत-प्रोत हैं।

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव के अनुसार, मीरा की प्रसिद्धि उनके भजनों के कारण हैं। ये भजन कृष्ण के प्रति प्रेम व भक्ति-भावनाओं से ओत-प्रोत थे। "मीरा के पद विश्व के भक्ति-साहित्य के रत्न हैं।" मीरा ने श्रृंगार रस में अपने भावों का प्रकाशन किया है, पर इसमें वासना का सौरभ नहीं मिलता। सारांश में, कृष्ण-भक्त गायकों में मीरा का स्वर काफी ऊँचा और उनकी पुकार हृदय की सच्ची पुकार लगती थी जिसने कृष्ण भक्तों को अपनी ओर आकर्षित किया। अपने मधुरतम गेय-पदों के कारण ही मीराबाई का नाम अमर हो गया।

## नामदेव

15वीं शताब्दी में नामदेव ने महाराष्ट्र में भक्ति-मार्ग को बहुत लोकप्रिय बनाया। नामदेव अपनी युवावस्था में ही कृष्ण भक्त हो गये और पैतृक दर्जी के व्यवसाय के स्थान पर हरि कीर्तन का व्यवसाय अपना लिया। उनका मुख्य केन्द्र पण्डरपुर था। नामदेव ने सभी लोगों को प्रेम व भक्ति का पवित्र उपदेश दिया। वे जाति-प्रथा के पक्ष में नहीं थे। उनके शिष्यों में सभी जातियों और

वर्गों के लोग थे। उन्होंने साहसपूर्वक परम्परागत रीति–रिवाजों और जाति–पांति के बंधनों को काटने का सफल प्रयास किया। अन्य सन्तों की भांति नामदेव भी एकेश्वरवादी थे और मूर्ति-पूजा तथा पुरोहितों के नियन्त्रण एवं प्रभुत्व के विरुद्ध थे। उनकी मान्यता थी कि भक्ति के माध्यम से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। नामदेव भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे। उनके झूठे आडम्बरों के विरुद्ध थे। उनकी वाणी का नमूना प्रस्तुत है :

"हिन्दू अन्धा, तुरको काना। दूवौं ते ज्ञानी सयाना।"
"हिन्दू पूजे देहरा, मुसलमान मसीद।
नामा सोई सेविया, जहाँ देहरा न मसीद।"



# 8

# भारतीय पुनर्जागरण : कारण और परिणाम

I. भारतीय पुनर्जागरण : या पुनरुत्थान के कारण
II. राजा राममोहनराय : आधुनिक भारत के जनक !
III. ब्रह्म समाज : मूलभूत सिद्धान्त और योगदान
IV. स्वामी दयानन्द : व्यक्तित्व और योगदान
V. आर्य समाज : पुनर्जागरण में योगदान
VI. रामकृष्ण परमहंस : व्यक्तित्व एवं योगदान
VII. स्वामी विवेकानन्द : भारतीय पुनर्जागरण में योगदान
VIII. थियोसोफीकल सोसायटी : उद्देश्य एवं योगदान
IX. मुस्लिम समाज का पुनर्निर्माण : अलीगढ़ आन्दोलन

---

"बिना पुनर्जागरण के कोई भी सुधार सम्भव नहीं है।"

—ई० बी० हैवल

भारतीय पुनर्जागरण—19वीं शताब्दी, विशेषतः इसका उत्तरार्ध, भारतीय इतिहास में एक उन्मेष, चेतन और उत्थान का युग था। राजनीतिक कारण सामाजिक चेतना उत्पन्न करते हैं, सामाजिक चेतना राजनीतिक उत्थान का कारण बन जाती है। अस्तु जो कारण राजनीतिक चेतना के लिए उत्तरदायी थे, वे ही सामाजिक पुनरुत्थान के लिए प्रेरक सिद्ध हुए।

पुनर्जागरण शब्द का अर्थ है पुनः जागना। इसका शाब्दिक अर्थ है 'पुनर्जीवन'। साधारणतया यह माना जाता है कि जब किसी देश में सामाजिक व धार्मिक क्षेत्रों में अत्यन्त हीन दशा हो जाती है तो कुछ कारक ऐसे उत्पन्न हो जाते हैं जो धार्मिक और सामाजिक ह्रास को रोककर इन क्षेत्रों में विकास करने का प्रयत्न करते हैं, इसी को पुनर्जागरण कहते हैं। "भारतीय पुनर्जागरण भारतीय सांस्कृतिक जीवन की नवीन यौवनावस्था है जिसने बिना प्राचीन सिद्धांतों को तोड़े नवीन वेष-भूषा धारण करली थी। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने ही वह मूलाधार प्रदान किया है जिस पर वर्तमान नवाभ्युत्थानोन्मुख भारत ने अपने भव्य भवन का

निर्माण किया है।" इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण प्रमुखतः एक भावना का विषय है जिसने राष्ट्र के विकास के साथ-साथ धर्म, समाज और संस्कृति में विलक्षण परिवर्तन कर दिये हैं। आधुनिक भारत का विकास उन्नीसवीं सदी के भारतीय पुनर्जागरण का केवल एक अंग-मात्र है। इस पुनर्जागरण ने भारतीय आत्मा को उसकी गहराई तक हिला दिया है और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वशाली परिवर्तन उत्पन्न कर दिये हैं। आधुनिक भारत प्रत्येक विषय के लिए इस पुनर्जागरण का ऋणी है।

भारतीय नवाभ्युत्थान प्रारम्भ में एक बौद्धिक पुनर्जागरण था और इसने हमारे साहित्य, शिक्षा, कला और विचारधारा को प्रभावित किया। दूसरी पीढ़ी से यह एक नैतिक शक्ति हो गयी और इसने हमारे समाज व धर्म को सुधारा। तीसरी पीढ़ी में इसने प्रारम्भ से ही भारत का आर्थिक दृष्टि से आधुनिकीकरण करने का प्रयास किया और अन्त में राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त की।

भारत की सभ्यता और संस्कृति श्रेष्ठ है, उसमें प्रगति करने का साहस है और वह पश्चिमी सभ्यता के मुकाबले खड़ी हो सकती है, यह पुनर्जागरण-आन्दोलन का आधार था। जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन और सुधार उसका व्यावहारिक स्वरूप तथा भारत के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक, धार्मिक और कलात्मक क्षेत्र में एक नवीन चेतना प्रदान करना उसका परिणाम था।

भारत को पश्चिमी सभ्यता का अंग बनाने से रोकना, भारतीयों में आत्म-गौरव और आत्म-विश्वास उत्पन्न करना, परम्परागत धर्म और समाज में विभिन्न परिवर्तन करना तथा नवीन भारत का निर्माण करना भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन की आधुनिक भारत को देन है। आरम्भ में पुनरुद्धार-आन्दोलन एक बौद्धिक परिवर्तन था, बाद में वह अनेक सामाजिक और धार्मिक सुधारों का आधार बना। अन्त में, उसने भारत के राजनीतिक आन्दोलन को जीवन प्रदान करने में सहयोग दिया। भारतीय जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र बाकी न रहा था जिसपर इस आन्दोलन का प्रभाव न पड़ा हो।

## I. भारतीय पुनर्जागरण या पुनरुत्थान के कारण

1. **पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव**—अपनी राजनीतिक सार्वभौमिकता और आर्थिक सत्ता के साथ-साथ अंग्रेजों ने भारत में पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति का भी बीजारोपण कर दिया। इससे भारत की लड़खड़ाती हुई व्यवस्था को गहरा आघात लगा। प्राचीनतम विचारधाराएँ, प्रणालियाँ तथा रूढ़ियाँ विलुप्त होने लगीं और नवीन विचारों और प्रथाओं ने उनका स्थान ले लिया। सांस्कृतिक धाराओं का एक नवीन रूप दृष्टिगोचर होने लगा। इसके अतिरिक्त भारत में अंग्रेजों और उनके सुदृढ़ साम्राज्यवाद ने अनेक विरोधी तत्त्वों के मध्य हमें शान्ति, राजनीतिक एकता और शासकीय सभ्यता दी। इससे राष्ट्रव्यापी पुनर्जागरण का मार्ग सुलभ हो गया।

(2) **विदेशों से सम्पर्क**—अंग्रेजी शासन-काल में एक बार फिर भारतीयों का विदेशों से सम्पर्क स्थापित हुआ। यूरोप के विभिन्न राज्यों के अतिरिक्त चीन, अमरीका, जापान, रूस आदि राज्यों से भी भारत का सम्पर्क हुआ। इससे भारत को विभिन्न देशों की सामाजिक व्यवस्था, शासन, राजनीतिक विचार, आर्थिक व्यवस्था, औद्योगीकरण आदि के बारे में जानकारी हुई। इससे भारत में अपने सुधार करने तथा प्रगति करने की भावना आयी।

(3) **अंग्रेजी भाषा की शिक्षा**—भारतीय पुनर्जागरण का एक प्रमुख कारण यहाँ की अंग्रेजी शिक्षा है। भारत में अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ ईसाई पादरियों और स्वयं भारतीयों के प्रयास से हुआ। सन् 1836 में यह भाषा शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर ली गई। अनेक भारतीय उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलैण्ड गये और उन्होंने अन्य यूरोपीय देशों की यात्रा भी की। अंग्रेजी भाषा ने पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता के द्वार भारतीयों के लिए खोल दिये। पश्चिम के स्वतन्त्रता, समानता, जनतन्त्र और राष्ट्रीयता के विचारों से भारतीय प्रभावित हुए।

स्कूलों और कॉलेजों में दी जाने वाली शिक्षा ने लोगों के विचारों और दृष्टिकोण में खूब परिवर्तन कर दिया। इस अंग्रेजी-शिक्षण ने भारतीय मस्तिष्क के बौद्धिक पृथकत्व को भंग कर दिया और उसे पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य और इतिहास के सम्पर्क में ला दिया। फलस्वरूप, यहाँ ऐसी ही विशाल मानसिक प्रगति हुई जैसी यूरोप के राष्ट्रों में पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में पुनर्जागरण के समय हुई थी। "हमारे नौजवान विद्यार्थियों के सामने नवीन विचारों का एक संसार खुल गया। धार्मिक व पौराणिक भूगोल, काल्पनिक इतिहास और मिथ्या विज्ञान के स्थान पर, जिनसे वे परिचित थे, अब पृथ्वी के रूप-आकृति के विषय में गंभीर विशुद्ध सत्य, पश्चिम के नवीन विकसित सामाजिक व राजनीतिक विचार, राष्ट्रों के उत्थान व पतन एवं प्रकृति के अपरिवर्तनशील नियम उनके ध्यान में आ गये। वस्तुतः भारतीय पुनर्जागरण अंग्रेजी साहित्य, आधुनिक दर्शन और विज्ञान के अध्ययन से आरम्भ होता है।

(4) **प्रारम्भिक ईसाई धर्म-प्रचारक**—सन् 1813 के पश्चात् विदेशी ईसाई पादरियों ने काफी बड़ी संख्या में भारत आना शुरू कर दिया था। इन ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भारतीय धर्मों का मजाक उड़ाया और भारत में ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का प्रचार किया। शिक्षा, दान, अस्पताल, सेवा आदि सभी का उपयोग उन्होंने ईसाई धर्म के प्रचार के लिये किया। भारत सरकार ने भी उनके कार्य में उन्हें सहायता प्रदान की। इन प्रचारकों ने सामाजिक कुरीतियों को धर्म में सम्मिलित करके हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों पर कठोर प्रहार करना शुरू किया। इस कारण भारतीय, मुख्यतया हिन्दू बहुत बड़ी संख्या में ईसाई धर्म को स्वीकार करने लगे। इस कारण हिन्दू और मुसलमानों को अपने-अपने धर्म की रक्षा करने की ओर

ध्यान देना पड़ा। इसी कारण 19वीं शताब्दी के आरम्भ में अनेक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का भारत में सूत्रपात हुआ।

(5) **भारतीय प्रेस, समाचार पत्र–पत्रिकाएँ और साहित्य**—पुनरुत्थान एवं धार्मिक व समाज सुधार आन्दोलन के लिए भारतीय छापाखाने, समाचार-पत्र, पत्रिकायें और साहित्य सशक्त सहायक और उत्तेजक प्रमाणित हुए।

हमने अपनी प्राचीन सांस्कृतिक पैतृक सम्पत्ति को उन योरोपीय लोगों के प्रयत्नों से ढूँढ़ लिया, जिन्होंने भारतीय साहित्य और इतिहास का अध्ययन किया और ग्रन्थों को प्रकाशित किया। विलियम जोन्स और मैक्समूलर जैसे अनेक विद्वानों ने भारतीय प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन किया, अंग्रेजी में उनका अनुवाद किया और उन्हें प्रकाशित कर विश्व को प्रकट किया कि ये ग्रन्थ संसार की सभ्यता की अमूल्य निधियां हैं। पश्चिम के विद्वानों ने भारत की अनेक प्राचीन कला-कृतियों और सभ्यता के केन्द्रों की खोज की तथा उनसे प्राचीन भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता स्थापित की। उनके अध्ययन से जब भारतीयों को यह पता चला कि पश्चिम के विद्वान भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य और कला को इतना श्रेष्ठ बताते हैं तो उन्हें भी अपने आत्म-सम्मान और गौरव का ध्यान आया, अपने धर्म और संस्कृति में उनका विश्वास उत्पन्न हुआ तथा उन्होंने उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

भारत में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। वे भारतीयों को बाह्य विश्व के घनिष्ठ सम्पर्क में ही नहीं लाये अपितु इन्होंने हमारे देश की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक बुराइयों को भी हमारे सामने प्रकट कर दिया। हमें अपनी दुर्दशा का आभास हुआ और इनको दूर करने के लिए हमारे शिक्षित-वर्ग ने दृढ़ संकल्प किया।

(6) **पश्चिमी सभ्यता का प्रचार**—भारत में पुनर्जागरण का एक मूल कारण भारत में पश्चिमी सभ्यता का प्रचार भी था। भारत में अनेक व्यक्ति ऐसे हो गये जिनके लिए पश्चिमी सभ्यता आदर्श बन गयी। पश्चिमी विचार, वेशभूषा, खान-पान, समाज और धर्म से वे इतने अधिक प्रभावित हो गये कि वे उसकी नकल करने में अपना गौरव मानने लगे। भारतीय सभ्यता, धर्म और समाज में उनको विश्वास न रहा और एक समय ऐसा आया जबकि यह प्रतीत हुआ कि सम्पूर्ण भारत पश्चिमी सभ्यता का शिकार हो जायेगा। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रही। अनेक भारतीयों ने पश्चिम की ओर की इस घुड़-दौड़ का विरोध किया और अपनी ओर सभ्यता और धर्म में विश्वास करने की प्रेरणा भारतीयों को प्रदान की।

पश्चिमी सभ्यता ने अंध-विश्वास के स्थान पर तर्क को श्रेष्ठ बताया। व्यक्ति की भावना को बाह्य बन्धनों से अधिक महत्त्व दिया और इस प्रकार सामाजिक न्याय और राजनीतिक अधिकारों की नवीन भावना को जन्म दिया। सारांश में, पश्चिमी

सभ्यता की भारत को मूल देन यही थी जिसके द्वारा भारतीयों ने परम्परा और अन्ध-विश्वास के आधार पर सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रथाओं को मानने से इन्कार कर दिया तथा उन सभी को तर्क और बुद्धि के आधार पर जाँचना शुरू कर दिया। मस्तिष्क की यह स्वतंत्रता ही भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन का एक मुख्य कारण थी जिससे भारत में धर्म, समाज, कला, साहित्य, अर्थ-व्यवस्था, राजनीति आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन करने की भावना जागृत हुई और भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुए।

निष्कर्ष—उपर्युक्त सभी कारणों ने लोगों को झकझोर दिया और उन्हें युगों की कुम्भकर्णी निद्रा से जाग्रत कर दिया। यह भारतीय पुनरुत्थान का सूत्रपात था। एक विद्वान के शब्दों में, "भूतकाल पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण और भविष्य के लिए नवीन महत्वाकांक्षाएँ इस नवीन पुनर्जागरण की विशिष्टताएँ रहीं। धर्म और विश्वास का स्थान विवेक और न्यायसंगत निर्णय ने ले लिया था; अन्धविश्वास ने विज्ञान को आत्म-समर्पण कर दिया था; गतिहीनता का स्थान प्रगति ने ले लिया था। निर्दिष्ट दोषों और बुराइयों को दूर कर सुधार करने के तीव्र उत्साह ने युगों की उदासीनता व आलस्य पर विजय प्राप्त कर ली थी। शास्त्रों की परम्परागत अर्थों की समालोचनात्मक दृष्टि से जाँच की गयी और नैतिकता तथा धर्म की नवीन धारणाओं ने सनातनी विश्वासों और प्रथाओं के ढाँचे को परिवर्तित कर दिया।" नवीन विचार और भावनाएँ पहले तो लोगों के एक छोटे से समुदाय तक ही सीमित रहीं। धीरे-धीरे ये लोगों के विस्तृत क्षेत्र में प्रसारित हो गयीं और अन्त में उनका प्रभाव जन-साधारण तक पहुँच गया।

## पुनरुत्थान या पुनर्जागरण के परिणाम

भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन ने न केवल विभिन्न सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलनों को भारत में जन्म दिया बल्कि उसने आर्थिक, साहित्यिक, कलात्मक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में भारतीयों को प्रभावित किया और जीवन के सभी अंशों में एक नवीन जागृति को जन्म दिया।

1. **राजनीतिक क्षेत्र**—इस क्षेत्र में जो जागृति हुई, उससे राष्ट्रीयता की लहर समस्त देश में फैल गयी और अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष व विद्रोह की भावना का उत्कर्ष हुआ। फलतः महात्मा गांधी के नेतृत्व में अंग्रेजों से संघर्ष कर भारत ने अपनी स्वतंत्रता पुनः प्राप्त कर ली। पुनर्जागरण की भावना ने भारतीयों की सांस्कृतिक एकता और गौरव का निर्माण किया। 'यह राष्ट्र महान् था' की भावना से 'यह राष्ट्र महान् है' की भावना को प्रोत्साहन मिला। पुनरुद्धार आन्दोलन के सभी नेता चाहे वे धर्म-सुधारक हों या समाज सुधारक, साहित्यकार हों अथवा कलाकार, राष्ट्र प्रेमी भी थे।

2. **सामाजिक क्षेत्र**—इस क्षेत्र में पुनर्जागरण की जो लहर व्याप्त हुई उससे समाज की काया पलट हो गयी। इसके फलस्वरूप ही भारतीय समाज में फैली

कुप्रथाओं—सती-प्रथा, बाल-वध, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, अशिक्षा, छुआ-छूत, ऊँच-नीच और जटिल जाति-प्रथा आदि का निवारण संभव हो सका। देश की सामाजिक दशा सुधर गयी। फलतः आज भारतीय समाज प्रगतिशील हो रहा है। अब भारतीय समाज के अनेक प्रतिक्रियावादी तत्व समाप्त कर दिये गये हैं।

3. **धार्मिक क्षेत्र**—पुनरुद्धार-आन्दोलन का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव 19वीं सदी के धर्म-सुधार आन्दोलन थे। प्रायः सभी धर्मों ने एक नवीन चेतना का अनुभव किया। ईसाई, पारसी, इस्लाम और मुख्यतः हिन्दू धर्म में जो जागृति की भावना आयी, उसने भारतीय समाज और राष्ट्र को एक नवीन जीवन प्रदान किया। विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दू धर्म को उसके दोषों से मुक्त किया और उसके सत्य सिद्धातों को खोज निकाला। अब अध्यात्मवाद भारत की श्रेष्ठता का प्रतीक है।

4. **आर्थिक दृष्टिकोण**--भारतीय काफी समय से अन्ध-विश्वासी और परम्परावादी रहे हैं। पश्चिमी सभ्यता, विचारधारा और अंग्रेजी शिक्षा ने उनकी जड़ता को समाप्त कर दिया। तर्क के आधार पर अच्छाई और बुराई का निर्णय करने की भावना को जीवन के सभी क्षेत्रों में विकास करने की प्रेरणा प्रदान की।

5. **साहित्यिक क्षेत्र**—इस क्षेत्र में जो पुनर्जागरण हुआ। उसके फलस्वरूप पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया, जिससे भारत विषयक अध्ययन का उदय हुआ। भारतीयों को अपने राष्ट्र के विलुप्त यश-गौरव और अतीत के स्वर्णिम इतिहास का प्रमाणिक परिचय मिला। भारतीयों में बौद्धिक जागरण हुआ, जिसकी विलक्षण अभिव्यक्ति प्रान्तीय भाषाओं के विकास में हुई।

**निष्कर्ष**— इस प्रकार भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन ने भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। धर्म, समाज, राजनीति, कला, साहित्य आदि क्षेत्रों में वह भारतीयों के विकास का आधार बना। उसने उस आधार-शिला का निर्माण किया, जिस पर आधुनिक भारत की नींव है।

## II. राजा राममोहन राय
### आधुनिक भारत के जनक
### (Raja Ram Mohan Ray–The father of Modern India)

"भारत नवोत्थान की धारा के क्रम में छोटे-बड़े अनेक व्यक्तित्व उत्पन्न हुए हैं। यह धारा अब भी प्रवाह में है और आज भी ऐसे व्यक्तियों का अविर्भाव अवरुद्ध नहीं हुआ है। किन्तु इन सब व्यक्तियों के आध्यात्मिक पिता राममोहन राय हैं।"

—**प्रो० एच० सी० जकरिया**

भारतीय धार्मिक तथा सामाजिक विकास के क्षेत्र में राजा राममोहन राय का नाम सबसे अग्रणी है। वह ही आधुनिक सामाजिक सुधार आन्दोलन के जनक थे। वह भारतीय पुनरुत्थान के प्रथम और संभवतः सबसे महान् तपस्वी थे।

डॉ० के० एम० पणिक्कर के शब्दों में, "उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में इस भारत के वक्षःस्थल पर उस मनीषी ने पदार्पण किया जिसे भारतीय पुनरुद्धार का जन्मदाता कहा जा सकता है।"

राममोहन राय एक दूरदर्शी प्रणेता थे। वे आधुनिक युग के प्रथम भारतीय बौद्धिक थे। उन्होंने समझ लिया था कि भारत भविष्य में किस दिशा की ओर मुड़ेगा और बड़े साहस से उन्होंने यूरोपीय विचार और विज्ञान का स्वागत किया। लेकिन, जहाँ एक ओर वे अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य विद्याओं का स्वागत करने को तैयार थे, वहीं दूसरी ओर वे अपने धर्म, अपनी परम्परा और अपने विश्वासों के प्रति आस्थावान थे। राममोहन राय का दृष्टिकोण समन्वयवादी था। उन्होंने भारतीयता और यूरोपीयता के उत्तम तत्वों का समावेश करके आधुनिक भारत के निर्माण का ठोस आधार तैयार किया।

यूरोपीय उदार दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रभावित होकर राममोहन राय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि देश की काया पर से नैराश्य की कैंचुल उतार फेंकनी है तो हिन्दू धर्म के सिद्धांतों में और हिन्दूओं के सामाजिक लोकाचारों में मौलिक परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

उनका कार्य क्षेत्र बहुत व्यापक था। उन्होंने धार्मिक सुधार, सामाजिक जागृति, बौद्धिक कोलाहल और राष्ट्रीय उत्थान के लिए समान दृष्टि से कार्य किया। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी तथा उनके कार्य-कलाप से समाज तथा राष्ट्र हर प्रकार से प्रभावित हुआ। इस कारण उनके योगदान की चर्चा करते समय यह जरूरी है कि सभी पहलुओं से उनके विचारों का अध्ययन किया जाय।

**संक्षिप्त जीवन परिचय**—राममोहन राय का जन्म 22 मई, 1772 ई० में बंगाल के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। 12 वर्ष की अवस्था में यह पटना विद्याध्यन के लिए भेजे गये। जब वह मुश्किल से 15 वर्ष के थे, तब उन्होंने फारसी में एक छोटी सी पुस्तिका लिखी जिसमें उन्होंने एकेश्वरवाद की प्रशंसा की और मूर्ति-पूजा का खंडन किया, जिसके बारे में उनका कहना था कि वह वेदों में नहीं है। उन्हें कट्टरपंथी परिवार ने घर से बाहर निकाल दिया। कहा जाता है कि वह तिब्बत गए और वहाँ बौद्ध मत का अध्ययन किया। वह पटना में रहकर अरबी तथा फारसी का अध्ययन कर चुके थे, बनारस में रहकर उन्होंने संस्कृत में भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। कुछ दिन उपरान्त वह कम्पनी सरकार की नौकरी में आ गये। सन् 1805 से 1814 ई० तक उन्होंने विभिन्न पदों पर ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी की। वहाँ रहते हुए उन्होंने अंग्रेजी में भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

राममोहन राय के हृदय में मानवता का स्रोत उमड़ रहा था। उन्हें एक धार्मिक और सामाजिक सुधारक बनना था। उन्होंने कम्पनी की सेवा को लात मार दी और सन् 1814 में नौकरी से त्यागपत्र देकर, अपने देश की जनता जनार्दन की सेवा क्षेत्र में कूद पड़े। वे कलकत्ता में रहने लगे और अपने धार्मिक विचारों का प्रचार

करने लगे। क्योंकि वे संसार के समस्त प्रमुख धर्म-ग्रन्थों का मूलरूप में अध्ययन करने में समर्थ थे, इस कारण वे संसार के सभी प्रमुख धर्मों की तुलना करने में सफल हो गए।

सन् 1815 में इन्होंने 'आत्मीय सभा' स्थापित की। सन् 1819 में इन्होंने 'वेदान्त सूत्रों' का सार बंगाली और अंग्रेजी में प्रकाशित किया तथा चार उपनिषदों ईश, मुण्डक, कठ और केन का अनुवाद भी प्रकाशित किया। वे हिन्दुत्व का आधार वेदान्त को बनाना चाहते थे। सन् 1828 ई० में शुद्ध एकेश्वरवाद की उपासना के लिए उन्होंने कलकत्ता में 'ब्रह्म समाज' संस्था की स्थापना की। सन् 1833 ई० में, इंग्लैण्ड–प्रवास के दौरान अचानक उनकी मृत्यु हो गई। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने कहा है कि, "वे भारतीय पुनर्जागरण के मसीहा थे।"

## राममोहन राय द्वारा धार्मिक सुधार

डॉ० के० एम० पणिक्कर ने लिखा है कि, धार्मिक सुधार में राममोहन राय ने जो योगदान किया उसको भारतवासी भूल नहीं सकते। राममोहन राय की धार्मिक विचारधारा बहुत बुद्धिवादी, हिन्दू धर्म की परम्परा से असंबद्ध और आधुनिक विचारों से इतनी ओत-प्रोत थी कि जनता पर समष्टि रूप से उसका कोई बड़ा प्रभाव नहीं पड़ा। परंतु, फिर भी इसने बंगाल के मध्यम वर्गों को उस समय आहार प्रस्तुत किया, जब वे नैराश्य में डूब रहे थे और इस प्रकार हिन्दू धर्म को एक भारी संकट से बचा लिया।

हिन्दू धर्म को रूढ़ियों से मुक्त करके वे उसे एक नया रूप देना चाहते थे। हिन्दू जनता धर्म के विषय में बिल्कुल पौराणिक संस्कारों से भरी हुई थी। इस चट्टान को तोड़कर वे हिन्दू हृदय को शुद्ध धर्म-आलोक से भरना चाहते थे। डॉ० रामधारीसिंह 'दिनकर' के अनुसार, "हिन्दुत्व की पवित्रता, इस्लाम की रुचि तथा ईसाइयत की सफाई (तर्क, उन्हें बेहद पसंद थी। एकेश्वरवाद में अटल विश्वास तथा मूर्ति-पूजा का विरोध–ये दो बातें वैदिक धर्म में भी थीं और इस्लाम में भी।"

राजा राममोहन राय ने स्वयं लिखा है कि "मुझे यह देखकर दुःख होता है कि हिन्दुओं की धार्मिक व्यवस्था ऐसी है जिससे उनके राजनीतिक हितों की पूर्ति में सहायता नहीं मिल सकती। उसके असंख्य विभाजन और उप-विभाजन को जन्म देने वाली जाति-प्रथा में उसको राजनीतिक भावना से बिल्कुल वंचित कर दिया है और अगणित धार्मिक संस्कारों और सिद्धिकरण के नियमों ने उनको किसी भी कठिन और साहसपूर्ण कार्य को करने के अयोग्य बना दिया है। मेरे विचार में यह जरूरी है कि कम से कम उनके राजनीतिक व सामाजिक कल्याण के लिए उनके धर्म में कुछ परिवर्तन होना चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि राममोहन राय ने ऐसे धार्मिक सुधारों की माँग की जो राष्ट्रीय हितों की पूर्ति कर सकें और सामाजिक जागृति का माध्यम बनें।

राजा राममोहन राय के हृदय में हिन्दुत्व से विशेष प्रेम था। परन्तु, उन्हें 18वीं शताब्दी वाले हिन्दुत्व से असन्तोष था। वे उसका परिष्कार करना चाहते थे। उसके परिष्कृत रूप में उन्हें निम्नांकित तत्व ग्राह्य थे :—

(1) एकेश्वरवाद में अटल विश्वास ।

(2) मूर्ति-पूजा का विरोध क्योंकि वह अनावश्यक है ।

(3) बुद्धिवादी दृष्टिकोण; सभी धर्म मौलिक रूप से एक हैं ।

(4) मानव धर्म : किसी भी धर्म की आलोचना व्यर्थ है ।

(5) शास्त्रों के पठन-पाठन के लिये पुरोहित की कोई आवश्यकता नहीं, इसलिए उन्हें स्वयं पठन-पाठन करना चाहिए ।

वास्तव में, राममोहन राय एक ऐसी संस्था की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे, जिसमें सभी धर्मों के लोग सम्मिलित हो सकें । इसके पीछे उनका अनेक धर्मों के मूल सिद्धांतों का विस्तृत अध्ययन था । उनका दृष्टिकोण बुद्धिवादी था, और बुद्धिवाद उन्हें मानव-धर्म अथवा विश्व-धर्म की ओर प्रेरणा दिये बिना नहीं रह सकता था । वेदांत के अनुसार आत्मा एक है, इसलिए भारत-धर्म और विश्व-धर्म में आध्यात्मिक दृष्टिकोण से कोई अन्तर नहीं है । राममोहन राय ने इसी विशुद्ध वेदान्त-विहित हिन्दू धर्म को स्वीकार किया ।

अपने धर्म सम्बन्धी विचारों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से राय ने अगस्त, 1828 ई० में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की ।

ब्रह्म समाज भवन का 'ट्रस्ट-डीड' राममोहन राय के विचारों का परिचायक है : "सभी लोग, किसी भेद-भाव के बिना शाश्वत सत्ता की उपासना के लिये इस समाज भवन का प्रयोग कर सकते हैं । ... इसमें किसी प्रकार की मूर्ति स्थापना न होगी ... न इसमें कोई बलिदान होगा ...... न किसी के धर्म की निन्दा की जायगी ......।" चाहे हम धार्मिक कसौटी पर यह विचार करें, चाहे इन्हें राष्ट्रीय तथा राजनीतिक तुला पर तोलें, हम इस निष्कर्ष पर आये बिना नहीं रह सकते कि दोनों दृष्टियों से इस्लाम और ईसाईयत से भेदभाव करना मूर्खता थी । राजनीति भी सहयोग की अपेक्षा करती है । धर्म का बिरवा तो सहयोग की भाव-भूमि पर ही पनपता है ।

राममोहन राय ने जब भी धार्मिक तथा सामाजिक प्रश्नों का निरूपण किया तो उन्होंने धर्म ग्रन्थों को आधार बनाया । सत्य को ढूंढने लिए उन्होंने मीमांसा पद्धति का अनुसरण किया । उन्होंने हिन्दू दर्शन की पुनः व्याख्या करने की ओर ध्यान दिया । वेदों और उपनिषदों के आधार पर उन्होंने निराकर ईश्वर के सिद्धांत को ही हिन्दू धर्म का मुख्य आधार बनाया । हिन्दू धर्म की गिरी हुई अवस्था का मुख्य कारण उन्होंने मूर्ति-पूजा को माना । सन् 1803 में उन्होंने एक पुस्तक लिखकर मूर्ति-पूजा का खंडन किया । उनका यह दृढ़ विचार बना रहा कि इसी के कारण हिन्दू धर्म में अन्य विकृतियां आ गयी थीं । इसी से विभिन्न प्रकार के अंध-विश्वास उपजे थे और कर्मकाण्ड आदि आडम्बर बढ़े थे । लोग धर्म के बाहरी स्वरूप में ही उलझ गये थे और मूल धार्मिक प्रश्नों से उनका ध्यान हट गया था ।

इस प्रकार राममोहन राय के नेतृत्व में ब्रह्म समाज धार्मिक क्षेत्र में बहुदेवतावाद, मूर्ति-पूजा, अन्ध-विश्वास, जादू-टोना का विरोधी था। वास्तव में, राममोहन राय विश्व-बन्धुत्व तथा मानव-धर्म के उपासक थे। उनकी निष्ठा किसी सम्प्रदाय विशेष तक सीमित न थी। वे सब धर्मों की मौलिक एकता व सत्यता में विश्वास करते थे। डॉ० के० एम० पणिक्कर के शब्दों में, **"राममोहन राय ने भारत में सर्व प्रथम बार धर्म-निरपेक्ष आन्दोलन को जन्म दिया।"**

## राजा राममोहन राय के सामाजिक सुधार

राममोहन राय एक महान् चिंतक तो थे ही पर इसके साथ ही उन्होंने सक्रिय ढंग से समाज-सुधार का कार्य किया। डी० एस० शर्मा के मतानुसार, "वे धर्म के शुद्ध आध्यात्मिक पक्ष की अपेक्षा उसके सामाजिक और राजनीतिक पक्ष के प्रति अधिक उत्सुक थे।" वास्तव में, वे सामाजिक जागृति के प्रेरक थे। सामाजिक सुधार के लिए उनका मत यह था कि इस दिशा में क्रमिक सुधार किया जाये। धीरे-धीरे सामाजिक सुधार की आवश्यकता जब सभी कोई स्वीकार करने लगेगा तभी समाज में प्रचलित कुरीतियों और अन्ध-विश्वासों को दूर किया जा सकेगा।

राममोहन राय के समय में भारत की सामाजिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी समाज में नाना प्रकार की कुरीतियों का प्रचलन था जैसे कन्या-वध, बाल-विवाह, बहु-विवाह, दहेज-प्रथा, सती-प्रथा आदि। हिन्दू समाज की दयनीय अवस्था देखकर उस तपस्वी का अन्तःकरण क्रन्दन कर उठा। अस्तु, राममोहन राय ने समाज में प्रचलित बुराइयों को दूर करने का हर संभव प्रयत्न किया। उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित बाल-विवाह, बहु-विवाह, सती-प्रथा, शिशु-हत्या आदि बुराइयों का डटकर विरोध किया। दूसरी ओर, उन्होंने स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि सुधारों का खुलकर समर्थन किया। उन्होंने स्त्री और पुरुष दोनों की समानता पर जोर दिया।

उन्होंने जिस ढंग से सती-प्रथा के विरुद्ध सक्रियता दिखाई उससे उनके साहस का परिचय मिलता है। सती-प्रथा के भीषण, बर्बर और अमानुषिक कृत्यों ने उस मनीषी के हृदय को झकझोर दिया। जब उनकी विधवा भावज को सती होने के लिए बाध्य किया गया तो उनका अन्तःकरण द्रवित हो उठा। उन्होंने अपनी विद्या और ज्ञान के बल से समस्त भारतीय समाज शास्त्र और धर्मशास्त्र का मन्थन कर पौराणिक शास्त्रियों का मुँह बन्द कर दिया। उन्होंने लार्ड बैंटिक को प्रेरणा दी कि वे निर्भय होकर सती-प्रथा को अवैध घोषित करें। **यह राममोहन राय का ही नैतिक बल था जिसका अवलम्ब ग्रहण कर लार्ड बैंटिक ने 1829 ई० में सती प्रथा विरोधी कानून पास किया।** आज सती-प्रथा की अवैधता का महत्त्व उतना नहीं जान पड़ता, परन्तु जिन्होंने उस भीषण दृश्य को देखा है, उनकी लेखनी द्वारा उल्लिखित वर्णन सुनकर बर्बरता का वह प्रकाण्ड-ताण्डव दृष्टि पथ के सामने साकार हो जाता है। न जाने इसे सती प्रथा का उद्दात नाम किसने दिया, इसे तो 'विधवा-दहन'

कहना अधिक संगत होगा। सती-प्रथा के उन्मूलन के लिये उन्होंने 'विधवा-विवाह' का समर्थन किया तथा 'वहु-विवाह का विरोध किया।

राममोहन राय ने स्त्रियों को समाज में उचित स्थान दिलाने के प्रत्येक तरीके को स्वीकार किया। वे स्त्रियों के समान अधिकार के पक्षपाती थे। वे वाल-विवाह' के भी विरोधी थे। उन्होंने अपनी पौत्री का विवाह 16 वर्ष की अवस्था में किया। उन्होंने दहेज-प्रथा व कन्या-वध का घोर विरोध किया। दहेज-प्रथा के कारण माता-पिता अपनी कन्याओं को जन्मते ही गला घोंटकर मार देते थे। **"वास्तव में, वे भारत में स्त्रियों के पक्ष में आवाज उठाने वाले प्रथम भारतीय थे।"**

राममोहन राय ने यह स्वीकार किया कि शिक्षा द्वारा ही सामाजिक न्याय प्राप्त किया जा सकता था। उनको यह अनुभव हुआ कि पश्चिमी ढंग की वैज्ञानिक शिक्षा और यूरोपीय विचारों से ओत-प्रोत वर्ग सामाजिक चेतना और जागरूकता में योगदान देगा। उनका मुख्य अस्त्र तर्क था। हर प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के कारण समझने की उन्होंने कोशिश की और तव उन्हें प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का ज्ञान हुआ और उनका प्रबल विरोध करने में सफलता प्राप्त की। सामाजिक सुधार का औचित्य सिद्ध करते समय राममोहन राय ने शास्त्रों का कुशलतापूर्वक सहारा लिया।

**व्यक्तिगत तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता**—राजा राममोहन राय ने व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की आवश्यकता पर पूरा वल दिया। स्वतन्त्रता की चर्चा उन्होंने समय-समय पर की। राष्ट्र के उत्थान के लिए उन्हें यह एक आवश्यक सिद्धांत दिखाई दिया। यूरोप की यात्रा करने वाले वे पहले प्रमुख भारतीय थे। डॉ० विपिनचन्द्र पाल ने स्वीकार किया है कि **"राजा साहव पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत में स्वतंत्रता का संदेश प्रसारित किया।"** वे ब्रिटेन में प्रचलित राजनीतिक परंपरा से प्रभावित हुए थे। एडम ने ठीक ही लिखा है कि, **"स्वतन्त्रता की लगन उनकी अन्तरात्मा की सबसे जोरदार लगन थी और यह प्रवल भावना उनके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी कार्यों में फूट-फूटकर निकल पड़ती है।"**

**पत्रकारिता की स्वतंत्रता के पक्षधर**—राममोहन राय ने भारतीय पत्रकारिता को अपने पैरों पर खड़ा किया। उनके समय से ही देश में छापेखाने का कार्य शुरू हुआ था। सामाजिक और धार्मिक प्रश्नों पर विवाद करने का अथवा अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करने का प्रेस वहुत अच्छा माध्यम था। सुधारवादी विचारों के प्रचार और प्रसार के लिए पत्रकारिता को उन्होंने अपना साधन वनाया। 1821 में उन्होंने "संवाद कौमुदी" नामक सर्वप्रथम वंगला पत्र और एक वर्ष वाद ही 'मिरातुल अखवार' फारसी में निकाला। इन दोनों अखवारों को स्थापित करके राममोहन राय ने सामाजिक चेतना जगाने का कार्य किया। 'समाचार पत्र अधिनियम, द्वारा समाचार पत्रों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति पर रोक लगाने के विरुद्ध उन्होंने प्रबल आन्दोलन भी चलाया था। इस तरह वे वैचारिक स्वतंत्रता के प्रवल समर्थक थे।

**शिक्षा-सुधार : अंग्रेजी शिक्षा पद्धति** — सन् 1813 में पौर्वात्य और पाश्चात्य दलों के बीच यह संघर्ष मचा हुआ था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो या संस्कृत राममोहन राय ने अंग्रेजी माध्यम का समर्थन किया। यद्यपि वे अपने युग के सबसे बड़े प्राच्य-भाषाओं के ज्ञाताओं में से एक थे, तथापि उनका विश्वास और मन्तव्य था कि भारत की प्रगति केवल उदार शिक्षा के द्वारा होगी। जिसमें पाश्चात्य विद्या तथा ज्ञान की सभी शाखाओं की शिक्षण की व्यवस्था हो। उन्होंने ऐसे लोगों का पूर्ण समर्थन किया जिन्होंने अंग्रेजी भाषा तथा पश्चिमी विज्ञानों के अध्ययन को भारत में प्रारम्भ किया। कलकत्ता का 'हिन्दू कालेज' उन्हीं के सक्रिय सहयोग से 1817 ई० में खुल सका। स्मरणीय रहे कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार भारतीय बुद्धिजीवियों और नवयुवकों में क्रान्तिकारी विचारों के बीजारोपण का साधन बना। 1825 में उन्होंने 'वेदान्त कालेज' स्थापित किया। इस तरह भारतीय शिक्षा पद्धति को परिवर्तित करने के लिए राममोहनराय ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। वास्तव में वे एक प्रकाण्ड शिक्षा शास्त्री थे।

**मूल्यांकन**—राजा राममोहन राय को "नये युग का अग्रदूत" ठीक ही कहा गया है। वे भारतीय नवोत्थान के एक महान् पथ-प्रदर्शक थे। मिस्र कालेट के शब्दों में, "इतिहास में राममोहन राय का स्थान उस महान सेतु के समान है जिस पर चढ़कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है। प्राचीन जाति-प्रथा और नवीन मानववाद के बीच जो खाई है, अन्ध-विश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतंत्र के बीच जो अंतराल है तथा बहुदेववाद एवं शुद्ध ईश्वरवाद के बीच में जो भेद है, उन सारी खाईयों पर पुल बांधकर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर भेजने वाले महापुरुष राममोहन राय हैं।"

राजा राममोहनराय की भिन्न-भिन्न भूमिका के संदर्भ में यह श्रेय उनको ठीक ही दिया जाता है कि उन्होंने आधुनिक भारत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उनके द्वारा भारतीयता तथा यूरोपीयता के उत्तम तत्वों का समावेश करने का अभियान चलाया गया; जिसका परिणाम आधुनिक भारत के रूप में प्रकट हुआ। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ठीक ही कहा है कि "राममोहन राय ने भारत में आधुनिक युग का सूत्रपात किया।" वास्तव में, वे इस भारत देश के सर्व प्रथम आधुनिक पुरुष थे।

अंत में, नन्दलाल चटर्जी के शब्दों में कहा जा सकता है, कि "राजा राम मोहन राय अवनिष्ट भूतकाल तथा उदित होते हुए भविष्य, स्थिर अनुदारता तथा क्रान्तिकारी सुधार, अन्ध परम्परागत तथा प्रगतिशील एकता के मध्य मानव-सम्बन्ध स्थापित करने वाले थे। संक्षेप में, वे प्रतिक्रिया तथा प्रगति के मध्य-बिन्दु थे।"

## III ब्रह्म समाज : मूलभूत सिद्धांत और योगदान

## (Brahma Samaj : Basic Principles and Contribution)

18 वीं सदी में उच्च वर्ग के हिन्दुओं का धर्म अपने मूलरूप से बिल्कुल [ग]या था। बहुत कम लोग उपनिषदों या दर्शनों का अध्ययन करते थे और जो लोग करते भी थे, वे भी पौराणिक कथाओं और कर्म-काण्डों में विश्वास करते थे। एकेश्वरवाद की कल्पना एकदम भुला दी गयी थी और बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का बोलवाला था। ग्रह-नक्षत्रों में अन्ध-विश्वास किया जाता था और कोई भी कार्य करने से पहले ज्योतिषी की राय ली जाती थी। त्योहारों और तीर्थ-यात्राओं का बहुत प्रभाव था। निम्नतर वर्ग भी भयंकर कुसंस्कारों में डूबा हुआ था। देवता और देवियों के अलावा जड़ और चेतन पदार्थों, साँपों, बंदरों, पेड़-पौधों, नदियों, पहाड़ों, पत्थरों आदि की पूजा होती थी। जाति-पाँति जोरों पर थी और सामाजिक ऊँच-नीच को ईश्वरीय पद्धति माना जाता था। सती-दाह, नदियों में बच्चों को चढ़ाना, जगन्नाथ के रथ के पहियों के नीचे पिसकर मर जाना पुण्य कार्य समझे जाते थे। उपर्युक्त शोचनीय परिस्थितियों को बदलने का महान् कार्य करने का बीड़ा राजा राममोहन राय और उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज ने उठाया।

**ब्रह्म समाज का विकास-काल**—विद्वान फरकुहर के अनुसार ब्रह्म समाज के विकास को निम्नलिखित तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है —

### प्रथमकाल (1828 से 1842) राजा राममोहन राय

धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों की बुराइयों को दूर करने के लिए राजा राममोहन राय ने सन् 1828 में कलकत्ता में 'ब्रह्म समाज' के नाम से एक नई धार्मिक-सामाजिक संस्था की स्थापना की। इस संस्था में वे सब लोग सम्मिलित हो सकते थे, जो ईश्वर में विश्वास रखते हों और मूर्ति-पूजा के विरोधी हों। राममोहन-राय का मत था कि वैदिक धर्म अत्यन्त पवित्र, शुद्ध, सरल और अनुकरणीय है और जिसमें मूर्ति-पूजा, अन्ध-विश्वास आदि को कोई स्थान नहीं है।

प्रथम काल में ब्रह्म समाज की प्रतिष्ठा हुई और धीरे-धीरे उसका कार्यक्रम निर्धारित हुआ। इस समाज के लिए कलकत्ता में एक भवन का निर्माण किया गया। जिसका स्वामित्व ट्रस्टियों की एक समिति को सुपुर्द किया गया। सन् 1830 में इस भवन के विक्रय-पत्र को तैयार करते हुए राममोहन राय ने उसमें लिखा था कि नस्ल, जाति व धर्म के भेद-भाव रखे बिना सब प्रकार के लोग इस भवन में आकर एक ईश्वर की उपासना कर सकते हैं और इस उपासना के लिए किसी प्रतिमा मूर्ति व कर्मकाण्ड का प्रयोग नहीं किया जायेगा।" राममोहन राय ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वे भगवान की एकनिष्ठ पूजा स्थापित करने की ही महत्त्वाकांक्षा रखते हैं। वह हार्दिक पूजा थी, हाथ की नहीं; आत्म बलिदान की थी, आत्मा के अधिकार की नहीं। इसने सब धर्मों तथा धर्म-शास्त्रों के प्रति आदर प्रतिष्ठा की। सब धर्मा-

वलम्बियों को उस प्रार्थना-भवन में भ्रातृत्व-भावना से पूजा-इवादत करने का निमन्त्रण दिया गया।

राममोहन राय के नेतृत्व में ब्रह्म समाज में प्रतिपादित किया कि ईश्वर एक है। वह सर्व गुण सम्पन्न है। वही संसार का पालक, सृष्टा और रक्षक है। अतः उसी की भक्ति करनी चाहिए। मानव-मात्र को धार्मिक व सामाजिक बन्धनों को तोड़कर बिना किसी भेद-भाव के ईश्वराधना करनी चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति हेतु प्रार्थना, भक्ति, सुकर्म, सद् व्यवहार तथा भगवान के प्रति समर्पण जरूरी है।

**ब्रह्म समाज के मूलभूत सिद्धांत**—ब्रह्म समाज मूलतः भारतीय था और इसका आधार उपनिषदों का अद्वैतवाद था। संक्षेप में, ब्रह्म समज के मूलभूत सिद्धान्त निम्नानुसार थे:—

(1) **निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ध्यान व उपासना करना**—वही संसार का कर्ता-धर्ता है। किसी प्रकार की मूर्ति, शिल्प, चित्र या किसी व्यक्ति या वस्तु का चित्र इस सभा के अहाते के अन्दर नहीं रखा जा सकता।

(2) संसार के सब मनुष्य चाहे वे किसी भी जाति अथवा धर्म के क्यों न हो, भाई-भाई हैं और ईश्वर सबका पिता है। **छूआ-छूत मानवता के नाम पर कलंक है।**

(3) **अवतारवाद मिथ्या है**—ईश्वर अजन्मा है। वह न कभी पैदा होता है और न कभी संसार में उत्पन्न हुआ है।

(4) **सभी धर्म मौलिक रूप से एक हैं**—इस समाज में दूसरे धर्मों के प्रति गाली-गलोज या उनका अपमान नहीं किया जा सकता। वहां केवल ऐसी प्रार्थना व कक्षाओं की अनुमति थी जो मानव को भगवद् भक्ति की ओर आकर्षित करें। **सभी धर्मों के प्रति सद्भावना रखनी चाहिए।**

(5) पाप का प्रायश्चित तथा निरोध ही दैवी क्षमा और मुक्ति का मार्ग है। मनुष्य को पाप का त्याग कर शुद्ध आचरण और परोपकार का मार्ग अपनाना चाहिए।

(6) कोई शास्त्र-धर्म ग्रन्थ दैवीय नहीं है, प्रत्येक में कोई न कोई त्रुटि है।

ब्रह्म समाज के सिद्धान्त बड़े ही उदार व तर्क संगत थे। बुद्धिवाद की कसौटी पर कसा जाने वाला सिद्धान्त ही राममोहन राय को मान्य थे। वे तो मानव-मात्र के प्रेम-पुजारी थे। ब्रह्म समाज ने धार्मिक अन्ध विश्वासों एवं सामाजिक कुरीतियों को कम करने में पूरा योगदान दिया। इस तरह प्रथमकाल में, राममोहन राय ने मध्यकालीन कुरीतियों और आडम्बरों को हटाकर, उपनिषदों और वेदान्त के एकेश्वरवाद की स्थापना का प्रभाव पूर्ण प्रयास किया। डॉ० ताराचन्द के शब्दों में, "इससे हिन्दुओं के धार्मिक इतिहास में एक अपूर्व क्रान्ति आयी।"

## द्वितीयकाल (1842 से 1856 ई०) : देवेन्द्र नाथ टैगोर

ब्रह्म समाज के दूसरे काल में देवेन्द्रनाथ ठाकुर (रविन्द्रनाथ टैगोर के पिता) राजा राममोहन राय के स्थानापन्न आचार्य हुए। देवेन्द्रनाथ का परिवार बंगाल का

बहुत ही सम्पन्न, सुसंस्कृत और प्रभावशाली परिवार था। वे स्वयं बड़े प्रतिभावान व्यक्ति थे। 1843 ई० में ब्रह्म समाज का नेतृत्व संभालकर उन्होंने इस संगठन को नयी दिशा दी। उनके प्रभाव के कारण समाज के अन्य लोग भी ब्रह्म समाज की ओर आकृष्ट हुए।

देवेन्द्रनाथ के प्रयत्नों से इस आन्दोलन ने एक पृथक समाज व सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। उन्होंने 'तत्वबोधिनी पत्रिका' के नाम से एक नवीन पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया और 'महानिर्वाणतंत्र' के आधार पर एक नई दीक्षा-विधि का सूत्रपात किया, जिसके अनुसार ब्रह्म समाज के सदस्यों को दीक्षा दी जानी शुरू की गयी। उन्होंने 'तत्वबोधिनी पाठशाला' की भी स्थापना की। इनका उद्देश्य ईसाईयत की बाढ़ को रोकना था।

**1743 ई० में देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज में प्रवेश के पूर्व शपथ का विधान स्थापित किया। उसके अनुसार प्रत्येक ब्रह्म समाजी को मूर्ति-पूजा का निषेध, ईश्वरोपासना तथा ईश्वर के प्रार्थनार्थ आचरण की शपथ लेनी पड़ती थी।** वे सदैव ईश्वर के ध्यान और उपासना में निरत रहते थे। उन्होंने उपनिषदों से सामग्री एकत्रित कर **'ब्रह्म-धर्म'** नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा जिसमें ब्रह्म समाजियों की उपासना के नियम हैं। इस तरह **देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज में नयी जान डाली, उस संगठन को शक्तिशाली बनाया और उसकी विचार धाराओं, संस्कारों और सिद्धांतों की पुनः व्याख्या की।**

## तृतीय काल (1865–1878) : केशव चन्द्र सेन

सन् 1857 के बाद ब्रह्म समाज में एक नवीन परिवर्तन हुआ। इसी समय अंग्रेजी शिक्षा एवं पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगे हुए व्यक्ति केशव चन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज में प्रवेश किया। केशव चन्द्र सेन का जन्म 1838 में बंगाल के एक प्रतिष्ठित और सम्पन्न परिवार में हुआ था। केशव चन्द्र कुशाग्र बुद्धि के थे और इन्हें आधुनिक शिक्षा भी मिली थी। उनके प्रवेश से ब्रह्म समाज में नवीन स्फूर्ति और उत्साह का संचार हुआ।

केशव चन्द्र अत्यन्त उदार व्यक्ति थे। वे प्राचीन रूढ़ियों एवं व्यर्थ के धार्मिक बन्धनों के विरुद्ध थे। सन् 1861 में **'इण्डियन मिरर'** नामक समाचार पत्र के माध्यम से उन्होंने अपनी मान्यताओं को जन साधरण के सामने रखा। केशवचन्द्र सेन जाति-प्रथा का उन्मूलन चाहते थे। वे समाज सुधार के प्रबल समर्थक थे। वे धर्म के नैतिक पक्ष पर अधिक बल देते थे। 1862 में केशव चन्द्र सेन ब्रह्म समाज के प्रधान आचार्य पद पर सुशोभित किये गये। ब्रह्म समाज के इतिहास में पहली बार पुरोहिती कार्य करने का उत्तरदायित्व एक ऐसे व्यक्ति को मिला जो ब्राह्मण नहीं था। जाति-प्रथा के बन्धनों को अस्वीकर करके ब्रह्म समाज ने एक साहसपूर्ण कार्य किया।

**ब्रह्म समाज का विस्तार एवं सामाजिक सुधार**—केशव चन्द्र की प्रेरणा से बहुत से ऐसे लोग ब्रह्म समाज में शामिल हुए, जिन्होंने कि सांसारिक उत्कर्ष व सुख को लात मार कर अपने समाज के सिद्धांतों के प्रचार में ही अपने जीवन को लगा देने का संकल्प कर लिया था। सामाजिक सुधार का प्रतिपादन करते हुए केशव चन्द्र ने केवल बंगाल के समाज तक ही अपना ध्यान सीमित नहीं रखा। वे सम्पूर्ण देश को सामाजिक विकास की परिधि में लाने के लिए आगे बढ़े। वे पहले प्रमुख व्यक्ति थे, जिन्होंने व्यापक भारतीय सुधार आन्दोलन को नई दिशा दी। उन्होंने स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह का उत्साह से समर्थन किया तथा बाल-विवाह, बहु-विवाह तथा पर्दा-प्रथा का विरोध किया। सन् 1864 में केशवचन्द्र ने उत्तर भारत का दौरा किया और बम्बई व मद्रास में ब्रह्म समाज की शाखाओं की स्थापना के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। 1870 ई० में वे यूरोप की यात्रा पर भी गये।

इंगलैण्ड से वापस लौटकर केशव चन्द्र सेन ने 'भारतीय सुधार समिति' की स्थापना की। इस संस्था ने स्त्रियों की स्थिति में सुधार, मजदूर-वर्ग की शिक्षा, सस्ते साहित्य का निर्माण, नशाबन्दी आदि समाज सुधार के कार्यक्रम को अपनाया। अपने इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये, एक साप्ताहिक समाचार-पत्र 'सुलभ समाचार' को केशव चन्द्र ने शुरू किया। स्त्रियों को उनके घरों पर शिक्षा देने के लिए एक उत्साही समुदाय बनाया। कुछ बुद्धिजीवी लोग सस्ती और उपयोगी पुस्तकों के प्रकाशन में लग गये। उन्होंने अन्तर्राजीय विवाह का जोरदार समर्थन किया, जिसके परिणामस्वरूप 1872 ई० में सरकार ने ब्रह्म-समाजियों के अन्तर्जातीय विवाह को कानूनी मानने के लिए 'सिविल मैरिज एक्ट' पारित किया, जिसमें कन्या (वधु) की अवस्था 14 वर्ष तथा लड़के (वर) की अवस्था 18 वर्ष कम से कम निश्चित की गई थी।

## भारतीय पुनर्जागरण में ब्रह्म समाज का महत्व

इस तथ्य से सभी विद्वान सहमत हैं कि ब्रह्म समाज ने समाज सुधार, धर्म-सुधार और आधुनिक भारत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उसने पहली बार भारतीय समाज की आवश्यकताओं और समस्याओं को भारतीयों के सम्मुख रखा तथा बौद्धिक जागृति की ओर एक साहसी कदम उठाया, जिससे आगे आने वाले सुधारकों को सहायता प्राप्त हुई। डॉ० एच० सी० जकरिया के शब्दों में कहा जा सकता है कि "राममोहन राय और उनका ब्रह्म समाज हिन्दू धर्म, समाज और राजनीति में उन सभी सुधार आन्दोलनों को आरम्भ करने वाले थे, जिन्होंने पिछले 100 वर्षों में भारत में उत्तेजना पैदा की और जिन्होंने हमारे समय में उसके अद्वितीय पुनःजागरण को जन्म दिया।"

ब्रह्म समाज एक सक्रिय सुधारवादी आन्दोलन था। शुरू में बंगाल के सनातनी हिन्दुओं ने ब्रह्म समाज के कार्यों का बहुत विरोध किया। वे इस समाज के सदस्यों को विधर्मी और विजातीय समझने लगे। पर धीरे-धीरे उनकी मनोवृत्ति में

अन्तर आने लगा। शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ अन्य हिन्दुओं ने भी अनुभव किया कि बाल-विवाह बुरी बात है और स्त्री-शिक्षा व विधवा विवाह सामाजिक उन्नति के के लिए उपयोगी हैं। 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रह्म समाज के मन्तव्य बहुत क्रान्तिकारी माने जाते थे। पर 20 वीं सदी में हिन्दू धर्म के प्रायः सभी प्रगतिशील लोग उनका समर्थन करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि सुशिक्षित हिन्दुओं और ब्रह्म समाजियों में मत भेद कम होता चला गया। सारांश में, ब्रह्म समाज के आन्दोलन से हिन्दू धर्म व समाज में सुधार की प्रक्रिया को बहुत बल मिला।

## पुनर्जागरण में ब्रह्म समाज की देन

(1) ब्रह्म समाज ने कुछ ऐसे सिद्धान्त निकाले, जो हिन्दुत्व तथा इस्लाम व ईसाईयत तीनों में शामिल थे। इसी कारण बंगाल में ईसाईयत की बाढ़ रुक सकी।

(2) इसके द्वारा प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियों में समन्वय स्थापित हो सका।

(3) भारतीय समाज में अनेक सामाजिक सुधार सम्भव हो सके, जैसे सती-प्रथा उन्मूलन, स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री-पद में सुधार, बाल-विवाह निषेध आदि। भारतीय संविधान ने जिन कुरीतियों को अवैध घोषित कर दिया है, उनके विरुद्ध संघर्ष आरम्भ ब्रह्म समाज ने ही किया था।

(4) देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ। अनेक ब्रह्म समाजियों ने विदेश यात्रा की। वहां की संस्थाओं का स्थानीय संचालन देखकर वे प्रभावित हुए और उनको अपने देश में क्रियान्वित करने के जिए तत्पर हुए।

(5) अपने धार्मिक और सामाजिक विचारों को फैलाने के लिए ब्रह्म समाज ने आधुनिक काल के सभी माध्यमों-साधनों का प्रयोग किया। इस हेतु इन्होंने विभिन्न संस्थाओं की स्थापना के साथ ही समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, स्कूल और कॉलेज आदि की स्थापना की जिससे समाज में जागृति उत्पन्न होने में सहायता मिली।

(6) जहाँ प्राचीन साहित्य का पुनरुद्धार हुआ, वहाँ नवीन साहित्य का सृजन भी हुआ। इनके द्वारा रचित साहित्य में प्राचीनता की प्रेरणा और भविष्य का संदेश था।

(7) ब्रह्म समाज के द्वारा भारती उदारवाद को प्रश्रय मिला और देश में राष्ट्रीयता की भावना को बल प्राप्त हुआ।

(8) इसके द्वारा विदेश में भारतीय संस्कृति की नवीन व्याख्या संभव हो सकी और पाश्चात्यों की भ्रान्ति का बहुत कुछ निराकरण हो सका।

निष्कर्ष—ब्रह्म समाज भारत के महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक आन्दोलनों में प्रमुख स्थान रखता है। यूरोप की प्रगतिशील विचारधारा ने आरम्भ में ब्रह्म समाज के माध्यम से ही हिन्दू समाज में प्रवेश किया। इसने उनके जीवन में बुद्धिवाद तथा व्यक्ति-अन्तःकरण की स्वतंत्रता की प्रतिष्ठा की। ब्रह्म समाज ने राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसने राष्ट्रीय चेतना की भूमिका तैयार की। यह

स्वाभाविक ही था कि ब्रह्म समाज के कई नेता आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रमुख नेता बने और इसी के प्रभाव के कारण बंगाल में राजनीतिक जागरूकता अन्य प्रदेशों की तुलना में अधिक थी। सारांश में, भारतीय पुनर्जागरण का सूत्रपात करने और विकसित करने का श्रेय इसी संस्था और इसके प्रतिभाशाली उन्नायकों, विशेषतः राजा राममोहन राय को देना चाहिए। इसके विश्व धर्म तथा पूर्व व पश्चिम की विचार धाराओं के समन्वय के सिद्धांत ने भारत के बुद्धिजीवी वर्ग और बहुत से सामान्य लोगों पर गहरी छाप छोड़ी है।

## IV स्वामी दयानन्द : व्यक्तित्व और योगदान

"यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ, जो स्वामी दयानन्द से बड़ा संस्कृतज्ञ, उससे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्मम रहा हो।"

—मादाम ब्लेवटस्की

प्राचीन हिन्दू-धर्म में नवजीवन का संचार करने और हिन्दू जाति की सामाजिक दशा में सुधार करने के लिये उन्नीसवीं शताब्दी में जिन विविध आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, उनमें आर्य समाज का स्थान सबसे अधिक महत्त्व का है। जो कार्य बंगाल में राजा राममोहन राय (1772–1833 ई०) ने किया, वही उत्तर भारत में स्वामी दयानन्द (1824–1883 ई०) ने किया।

ब्रह्म समाज की तरह आर्य समाज की प्रेरणा पश्चिमी विचारधारा से नहीं आयी। इसका मूलाधार वैदिक परम्परा थी। स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं का ध्यान हिन्दुत्व की बुनियादी शक्ति की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार का दृढ़ संकल्प कर अथक प्रयास किया। स्वामी दयानन्द ने न तो अंग्रेजी पढ़ी और न ही पाश्चात्य सभ्यता का ही अध्ययन किया। पर उस समय चारों ओर पश्चिमीय सभ्यता की गौरव-गाथा का जय-घोष हो रहा था। भारतीय सभ्यता अन्धकार में पड़ी थी। स्वामीजी की धारणा थी कि यदि हिन्दुत्व पर जमी हुई काई को खरोंच कर साफ कर दिया जाय, तो द्वादश-वर्ण के स्वर्ण के समान वह चमकने लगेगी और उसकी नैसर्गिक कान्ति में पश्चिम की चमक फीकी पड़ जायेगी।

**दयानन्द का संक्षिप्त जीवन-वृत**— दयानन्द का जन्म सन् 1824 ई० में काठियावाड़ के मोरवी नगर में हुआ था। उनका बचपन का नाम मूलशंकर था। 1845 ई० में अपने विवाह के पूर्व ही घर से इन्होंने पलायन कर दिया और एक ब्रह्मचारी साधु के रूप में भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते रहे। अल्पावस्था में ही मूर्ति-पूजा पर से इनका विश्वास हट गया था। सन् 1861 में मथुरा के स्वामी विरजानन्द को अपना गुरु मानकर उनसे वेदों का अध्ययन किया। अपनी शिक्षा की समाप्ति पर उन्होंने शपथ ली कि वे देश में वेदों के ज्ञान को फैलायेंगे।

अस्तु, अपने गुरु से अलग होकर इन्होंने वैदिक हिन्दू धर्म, सभ्यता और संस्कृति के प्रचार का कार्य आरम्भ किया। वे स्थान-स्थान पर घूमे और लोगों को अपने विचारों का बनाया। उनके अंतिम दिन राजस्थान में व्यतीत हुए जहाँ अनेक प्रभावशाली व्यक्ति उनके शिष्य बने। 30 अक्टूबर, 1883 ई० को किसी के द्वारा धोखे से विष दिये जाने से स्वामीजी की अजमेर में मृत्यु हो गयी।

**दयानन्द के धार्मिक विचार एवं धर्म-सुधार**—वे अंग्रेजी शिक्षा से शिक्षित न थे, किन्तु वे संस्कृत के महान् विद्वान थे। उनका पुराणों में विश्वास न था तथा उन्होंने उसे स्वार्थी, अज्ञानी तथा कुबुद्धि व्यक्तियों की कृति बताया। उन्होंने मूर्ति-पूजा तथा यज्ञों में पशु-बलि का खण्डन किया। उन्होंने जन्म-जात जाति-पाँति का भी विरोध किया।

**श्री अरविन्द**—ने लिखा है कि "राममोहन राय उपनिषदों पर ही ठहर गये थे, किन्तु दयानन्द ने उपनिषदों से भी आगे देखा और यह जाना कि हमारी संस्कृति का मूल, वेदों में है।" स्वामीजी की मान्यता थी कि हिन्दू समाज का उद्धार वैदिक विचारधारा को पूर्णरूप से जीवित करके ही किया जा सकता है। उन्होंने हिन्दुओं को 'वेदो की ओर मुड़ने का आह्वान किया।' उन्होंने बताया कि हिन्दुओं के लिए वेद उतने ही पवित्र प्रमाणिक हैं जितना 'कुरान' मुसलमानों के लिए और 'बाईबल' ईसाइयों के लिए। उनके अनुसार, "सब तरह का ज्ञान वेदों में है।"

**सामाजिक सुधार**—दयानन्द ने धर्म-सुधार का ही बीड़ा नहीं उठाया बल्कि राममोहन राय की भांति इन्होंने भी हिन्दू समाज में फैली हुई कुरीतियों और बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने हिन्दू समाज में क्रान्तिकारी सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने बाल-विवाह, बहु-विवाह तथा पर्दा प्रथा का खण्डन किया और अन्तर्जातीय विवाह एवं विधवा-विवाह का समर्थन किया। स्वामीजी ने स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया। उन्होंने जन्म या वंश की परम्परा पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने जन्म के स्थान पर कर्म व चरित्र को वर्ण का आधार माना। उन्होने ब्राह्मणों के शास्त्रों पर एकाधिकार को नहीं माना और वेद तथा धर्म-ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार सब को दिया। वे हर प्रकार की अस्पृश्यता (छुआ-छूत) के भी विरोधी थे। उन्होंने कर्म और व्यवसाय के आधार पर जाति को मान्यता दी। उन्होंने सारे देश में घूम-घूमकर मानवता की समानता का प्रचार किया और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध वातावरण बनाया। स्वामीजी ने सती-प्रथा को क्रूरता तथा घोर पाप की संज्ञा प्रदान की और इस प्रथा को समाप्त करने हेतु अथक प्रयास किया। आर्य समाज द्वारा हजारों विधवा स्त्रियों की शादी प्रति वर्ष वैदिक रीति से होने लगी क्योंकि स्वामीजी ने विधवा-विवाह का जोरदार शब्दों में समर्थन किया था। स्वामीजी की प्रेरणा से आर्य समाज ने अनाथ बच्चों के जीवन यापन और निर्वाह आदि के लिए अनाथालयों की भी स्थापना

की। उन्होंने भारतीयों को अध्ययन तथा यात्रा के लिए विदेशों की यात्रा करने की प्रेरणा दी।

डॉ० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखा है कि दयानन्द के अन्य समकालीन सुधारक केवल सुधारक मात्र थे, किन्तु दयानन्द क्रान्ति के वेग से आये और उन्होंने निश्छल भाव से घोषणा कर दी थी कि हिन्दू धर्म ग्रन्थों में केवल वेद ही मान्य हैं, अन्य शास्त्रों और पुराणों की बातें बुद्धि की कसौटी पर कसे बिना नहीं मानी जानी चाहिए। वास्तव में, दयानन्द ने बुद्धिवाद की जो मशाल जलायी थी। उसका कोई जवाब नहीं था।

**स्वामीजी द्वारा आर्य समाज की स्थापना**—स्वामी दयानन्द सन् 1874 में **'सत्यार्थ प्रकाश'** नामक प्रसिद्ध ग्रंथ समाप्त कर प्रयाग से बम्बई पहुँचे और वहाँ पर 'प्रार्थना-समाज' के अधिकारियों से मिले। वहाँ उनके व्याख्यानों का बड़ा प्रभाव पड़ा। परन्तु स्वामीजी ने अनुभव किया कि सामाजिक-धार्मिक पुनरुत्थान केवल व्यक्तिगत संघर्ष से नहीं किया जा सकता था, बल्कि इसके लिए किसी ऐसे संगठन की आवश्यकता थी जो किन्हीं निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अनवरत कोशिश करता रहे। व्यक्तिगत प्रयास के अलावा सामूहिक और संगठित प्रयास को भी उन्होंने आवश्यक समझा। इसी उद्देश्य से उनके द्वारा सन् 1875 में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की गई। कुछ समय के भीतर ही आर्य समाज की शाखाएँ देश के विभिन्न नगरों में स्थापित हो गयीं। पंजाब में स्वामी जी को बड़ी सफलता मिली और थोड़े दिनों में ही सन् 1877 में लाहौर आर्य समाज का केन्द्र बन गया। फलस्वरूप पंजाब के सभी प्रसिद्ध नगरों में आर्य समाज की शाखाएँ खुल गईं।

## दयानन्द द्वारा प्रतिपादित आर्य समाज के दस सिद्धांत

1. वेद ईश्वरोक्त हैं। इनमें त्रुटि का स्थान नहीं है। वे स्वतः प्रमाण हैं।

2 ईश्वर सत् चित्त आनन्द है। आत्मा-परमात्मा से भिन्न होते हुए भी पृथक नहीं है। इन दोनों के बीच व्यापक और व्याप्य का सम्बन्ध है। प्रकृति सृष्टि का कारण है। परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति अनादि हैं।

3. न्याय तथा मनसा, वाचा, कर्मणा सत्यता का आभास ही धर्म है। न्याय से अर्जित सम्पत्ति ही अर्थ है, अन्याय की कमाई अनर्थ है। ईमानदारी के साथ पैदा की हुई कमाई की मदद से उचित कामनाओं का उपभोग ही काम है। गुणों के द्वारा ही किसी व्यक्ति की जाति और आश्रय निर्धारित करना उचित है।

4. मोक्ष प्राप्ति का साधन ईश्वरोपासना, सत्कर्म, ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा सत् ज्ञान का अर्जन, सत्संग, सद्-विचार आदि है।

5. संस्कार वे रस्म व-रिवाज हैं जिनके द्वारा मनुष्य का शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक परिष्कार होता है। इनकी संख्या 16 है। मृत्यु के बाद संस्कार नहीं करना चाहिए।

6. अविद्या का नाश और ज्ञान की प्राप्ति मानव का ध्येय हो और विद्या समाज के सभी प्राणियों को प्राप्त होनी चाहिए। नारी शिक्षा भी महत्त्वपूर्ण अंग है।

7. व्यक्ति के साथ ही समाज की सर्वांगीण उन्नति आवश्यक है, तभी राष्ट्र की उन्नति सम्भव होगी।

8. जाति व्यक्ति के कर्म और गुणों पर आधारित है, जन्म पर नहीं।

9. मनुष्य का विकास उसकी शारीरिक, आध्यात्मिक और सामाजिक प्रगति पर निर्भर करता है। प्रत्येक भारतीय को शारीरिक व मानसिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

10. प्रत्येक कार्य करने से पूर्व उसके उचित तथा अनुचित पक्ष पर विचार करना चाहिए।

**मूल्यांकन—पंडित चमूपति**—के अनुसार, आर्य समाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरूदण्ड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई उसे गाली दे, उसकी हँसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्सना करे या उसके धर्म पर कीचड़ उछाले जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिर भी इन सारे अपमानों के सामने वह दांत निपोड़ कर रह जाता है। परन्तु दयानन्द के आर्य समाज ने हिन्दुत्व के संरक्षण का प्रबल बीड़ा उठाया। यद्यपि आर्य समाज ने पौराणिक कुरीतियों तथा अन्ध-विश्वासों का खण्डन किया, पर वह हिन्दुत्व से पृथक नहीं हुआ।

स्वामीजी की मृत्यु पर **'दि थ्योसोफिस्ट'** पत्रिका ने उनकी प्रशस्ति में एक सम्पादकीय लेख लिखा था, "उन्होंने मानो पतित हिन्दुत्व के गतिहीन जन समूह में बम फेंक दी हो और उनकी वक्तता का प्रभाव जिन पर पड़ जाता, उनके हृदयों पर ऋषियों के उपदेश के प्रति प्रेम तथा वैदिक ज्ञान की अमिट छाप लग जाती।"

सारांश में, स्वामी दयानन्द ने सुधरे हुए उग्र हिन्दू धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की और लूथर के समान धर्म में प्रविष्ट हुए दोष को दूर करने का बीड़ा उठाया एवं उपनिषदों एवं वेदों की प्रारम्भिक सादगी को धर्ममें पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने केवल वेद को प्रमाण माना और उसके अध्ययन का द्वार जाति-पाँति का विचार छोड़ सबके लिए खोल दिया। उन्होंने अनेकेश्वरवाद, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद एवं श्रद्धा का विरोध किया तथा सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एक ईश्वर की आराधना व उपासन का उपदेश दिया। उन्होंने जाति के प्रतिबन्धों, बाल-विवाह, अन्धरूढ़िवादिता, अशिक्षा, पर्दा-प्रथा, छुआ-छूत तथा समुद्र यात्रा निषेध के विरुद्ध आवाज बुलन्द की एवं विधवा विवाह तथा स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित किया। उन्होंने बड़ी दृढ़ता से हिन्दुओं को अपने प्राचीन धर्म, गौरव, सभ्यता और आदर्श का स्मरण कराकर उन्हें स्वावलम्बी बनाने की चेष्टा की। उन्होंने विविध राष्ट्र-हितमूलक सुधारों का प्रचार कर भारतीय हिन्दू समाज को एक ही सूत्र

में संगठित कर, उसे अन्धरूढ़िवादिता के जंजाल से मुक्ति दिलायी। इस तरह, सांस्कृतिक पुनर्जागरण के महायज्ञ में उन्होंने महत्त्वशाली भाग लिया।

दयानन्द ने अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखकर राष्ट्रभाषा के हेतु रचनात्मक प्रयास के रूप में ठोस कदम बढ़ाया। इसके अतिरिक्त उनकी 'स्वधर्म', 'स्वभाषा' और 'स्वदेश' की आवाज ने कालान्तर में इस देश में 'स्वराज्य' की आवाज बुलन्द करने में बहुमूल्य योग दिया। योगिराज अरविन्द के शब्दों में "दयानन्द सरस्वती परमात्मा की इस विचित्र सृष्टि के एक अद्वितीय योद्धा तथा मनुष्य और मानवीय संस्थाओं का संस्कार करने वाले एक अद्भुत शिल्पी थे।" डॉ. दिनकर के मतानुसार, "रणारूढ़ हिन्दुत्व के निर्भीक नेता जैसे स्वामी दयानन्द हुए, वैसा कोई नहीं हुआ।"

## V आर्य समाज : पुनर्जागरण में योगदान

"आर्य-समाज शुद्धि-संस्कार का प्रबल सम्प्रदाय है और वह सामाजिक सेवा की पगडंडी का अविक्षांत पथिक है। उत्तर भारत में हिन्दू पुनरुत्थान के चरण में आर्य समाज का नाम अमिट अक्षरों में लिखा जायेगा।"

—डॉ० के० एम० पणिक्कर

सन् 1877 ई० में आर्य समाज की स्थापना कर उसके प्रचार में स्वामी दयानन्द ने देश के धर्म-आंगन में एक व्यापक क्रान्ति का सूत्रपात किया, जिसने कालान्तर में हमारे जीवन के अन्य अंगों को हिलाने में सहायता दी। आर्य समाज के दिव्य धार्मिक सामाजिक, राजनैतिक और शिक्षण सम्बन्धी कार्यों ने भारत के राष्ट्रीय जीवन के निर्माण में बहुत योग दिया है। इसने हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक जीवन को स्वस्थ करने के लिए निरन्तर संघर्ष किया और हिन्दू जाति को सबल व क्रियाशील बनाया।

धर्म तथा सामाजिक सुधार के क्षेत्र में आर्य-समाज ने जो कार्य किया, उसका भारत के नवजागरण में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। दयानन्द के ओजस्वी विचारों ने हिन्दू जाति में अपूर्व उत्साह उत्पन्न किया और वे अपनी कुरीतियों को दूर करने व उन्नति-पथ पर आरूढ़ होने के लिए उद्यत हो गए।

**धार्मिक क्षेत्र में आर्य-समाज के कार्य**—धार्मिक क्षेत्र में आर्य समाज ने मूर्ति-पूजा, कर्म काण्ड, बलि-प्रथा, स्वर्ग और नर्क की कल्पना तथा भाग्य में विश्वास का विरोध किया। उसने वेदों की श्रेष्ठता का दावा किया और उसी आधार पर उसने मन्त्र-पाठ, हवन, यज्ञ, कर्म आदि पर बल दिया। आर्य समाज ने हिन्दू धर्म को सरल बनाया और उसकी श्रेष्ठता में विश्वास उत्पन्न किया। वेदों की व्याख्या उसने इस प्रकार की, जिससे वेद अनेक वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों के स्रोत माने जा सकते हैं। कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जिसे हम वेदों से प्राप्त नहीं कर सकते, यह उसका विश्वास था। हिन्दू केवल अपने सत्य-ज्ञान को भूल गये हैं और यदि वे वेदों का अध्ययन करेंगे तो उन्हें संसार का सम्पूर्ण ज्ञान वेदों में ही प्राप्त हो जायेगा।

इस कारण हिन्दुओं को धर्म के विषय में ही नहीं बल्कि राजनीतिक, आर्थिक और वैज्ञानिक धारणाओं के लिए भी इस्लाम और ईसाई धर्म या सभ्यता की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। यह विश्वास तथा हिन्दू धर्म और वेदों की श्रेष्ठता के आधार को लेकर आर्य समाज ने हिन्दू धर्म को इस्लाम और ईसाई धर्म के आक्रमणों से बचाने में सफलता पायी। आर्य समाज संग्रामी प्रवृत्ति वाले हिन्दू धर्म का प्रतीक है। राष्ट्रीयता के अंग के रूप में तथा इस्लाम व ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिरोध के रूप में आर्य समाज का अत्यन्त महत्त्वशाली भाग रहा है। आर्य समाज ने इस्लाम और ईसाई धर्म-प्रचार पर जो हिन्दू धर्म का मजाक उड़ाते थे, कठोरता से आक्रमण किया।

1877 में आर्य समाज ने जिन दस सिद्धांतों को निश्चित किया, उनमें हिन्दू धर्म को सुधारने की ओर विशेष जोर दिया गया था। मूर्ति-पूजा का खण्डन, तीर्थ यात्रा और अवतारवाद का विरोध, बहुदेव उपासना का खण्डन तथा एक ईश्वर में विश्वास करने पर जोर दिया गया। सारांश में, आर्य समाज के वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार से हिन्दुओं में आत्म-विश्वास व स्वाभिमान का विकास हुआ।

**आर्य समाज द्वारा सामाजिक सुधार के कार्य**—सामाजिक क्षेत्र में भी आर्य समाज का कार्य बहुत सफल रहा। उसने बाल-विवाह, बहु-विवाह पर्दा-प्रथा, जाति-प्रथा, सती-प्रथा आदि सभी हिन्दू सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। स्त्री-शिक्षा, जाति-समानता और अछूतों के उद्धार के लिए उन्होंने निरन्तर प्रयत्न किया। अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह तथा पारस्परिक सम्पर्क आर्य समाज के जीवन की दिन चर्या बन गया। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य आर्य समाज ने शुद्धि-आन्दोलन प्रारम्भ करके किया। इसके अन्तर्गत जो भी धर्म-परिवर्तन हिन्दू, इसाई या इस्लाम धर्म को छोड़कर पुनः हिन्दू धर्म स्वीकार करना चाहता था, वह पुनः हिन्दू धर्म में शामिल हो सकता था। सामाजिक सेवाओं और सुधारों पर अधिक जोर देने के कारण आर्य समाज उत्तर भारत में हिन्दू-पुनर्जागरण के क्षेत्र में आज भी एक महत्त्वशाली तत्व है। आर्य समाज देश व जाति के लिए सबल मंच बन गया। इस विशाल संस्था की लगभग डेढ़ हजार विविध शाखाएँ आज भी विभिन्न स्थानों में प्रस्थापित हैं जिनके द्वारा जातिभेद-उच्छेद, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, शुद्धि-संस्कार, लोक सेवा आदि के रूप में निरन्तर सुधार संगठन का न्यूनाधिक क्रम जारी है।

समाज सेवा के क्षेत्र में आर्य समाज का योगदान काफी महत्त्वपूर्ण है। विधवा और भूली-भटकी स्त्रियों का संरक्षण और उद्धार करने के लिए आर्य समाज ने यत्र-तत्र विधवा-आश्रम और महिला-आश्रम स्थापित किये। अनाथ बच्चों की रक्षा करने के लिए कई अनाथालय खोले, जिनमें बालकों का रक्षण, पोषण और शिक्षण किया गया और उन्हें भारत का उपयोगी नागरिक बनाया। अशक्त लोगों की सेवा के लिए कई औषधालय खोले, जो चन्दे से चलाये गये और जिनमें लोगों की निःशुल्क चिकित्सा की गई। दलित और अछूत जातियों के उद्धार के लिए आर्य समाज ने बहुत काम

किया गया। इनके लिए पाठशालाएँ खोलीं, छात्र वृत्तियाँ जारी कीं, छात्रावास चलाये और समानता के व्यवहार का प्रचार किया।

**आर्य समाज द्वारा शैक्षणिक कार्य**—आर्य समाज आन्दोलन के फलस्वरूप राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति की प्रतिष्ठा हुई। लाहौर में **दयानन्द एंग्लोवैदिक (डी० ए० वी०) कॉलेज** की स्थापना हुई। डी० ए० वी० कालेज का उद्देश्य संस्कृत, अंग्रेजी-साहित्य, पश्चिमीय विज्ञान, वेदों का अध्ययन तथा टैक्निकल शिक्षा का प्रचार करना था। इस संस्था को काफी सफलता मिली। कालान्तर में इसी प्रकार के अनेक (डी० ए० वी०) कालेज भारत के अन्य नगरों में भी खोले गये। इन कालेजों में विद्यार्थियों का रहन-सहन आर्य-समाज के आदर्शों के अनुसार होता था। नवीन ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ उन्हें वैदिक धर्म की शिक्षा भी दी जाती थी।

इस शिक्षा पद्धति से आर्य-समाजियों का एक दल संतुष्ट न हुआ। इसलिए, सन् 1803 में हरिद्वार के निकट **'गुरुकुलकांगड़ी'** की स्थापना की गई। इसमें प्राचीन वेदों-शास्त्रों को प्रमुख स्थान दिया गया, पर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा नहीं की गई। इसमें हिन्दी भाषा के माध्यम से समस्त विषयों की पढ़ाई की व्यवस्था की गई। अंग्रेजी किन्हीं कक्षाओं में अनिवार्य नहीं थी। वैसे संस्कृत पर अधिक जोर दिया जाता था। लड़कियों की उच्च शिक्षा के लिए भी जालन्धर में एक **'कन्या गुरुकुल'** विद्यालय स्थापित किया गया।

आर्य समाज द्वारा स्थापित इन शिक्षण संस्थाओं की शिक्षा में महत्त्व की एक बात यह थी कि गणित, रसायनशास्त्र आदि आधुनिक विज्ञानों की शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम द्वारा दी जाती थी, इस तरह, आर्य समाज ने शिक्षा-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भाग लिया तथा अब भी ले रहा है देश में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का श्री गणेश करने का श्रेय आर्य समाज को ही है, जिसने अनेक राष्ट्रवादी नेताओं को उत्पन्न किया—उदाहरणतया स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपत राय आदि।

**राजनीतिक क्षेत्र में**—राजनीतिक जागृति में भी आर्य-समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। "स्वामी दयानन्द का मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता था। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया। वह प्रथम व्यक्ति जिन्होंने विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार करना तथा स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना सिखाया। वह पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया।" आर्य-समाज ने अनेक ऐसे कट्टर व्यक्तियों के निर्माण में सहयोग दिया जो कट्टर हिन्दू धर्म की भावना को लेकर भारतीय राष्ट्रीयता के समर्थक बनी कांग्रेस में उग्रवाद की भावना के आरम्भ होने का कारण हिन्दू धर्म में आर्य समाज द्वारा प्रज्वलित उग्र भावना भी थी और इसमें सन्देह नहीं कि आर्य समाज ने उस भावना के निर्माण में सहयोग प्रदान किया। आर्य समाज ने भारतीय उदारवाद तथा राष्ट्रीयता का सदैव प्रबल समर्थन किया।

**निष्कर्ष : समालोचना**—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आर्य समाज ने भारत को धर्म, समाज, शिक्षा और राजनीतिक चेतना के क्षेत्र में बहुत कुछ प्रदान किया है। धर्म तथा सामाजिक सुधार के क्षेत्र में आर्य समाज ने जो कार्य किया, उसका भारत के नवजागरण में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। "आर्य समाज ने हिन्दुत्व की गरिमा को पुनः स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। यह पश्चिम की आँधी से इतना प्रभावित नहीं हुआ। इसने हिन्दुत्व के प्रछन्न रत्नों को साफ कर हिन्दुओं के सामने रखा।

यह हिन्दू समाज का संरक्षक दल है। इसने स्वयं का कठिनाइयां सहन कर हिन्दुत्व को अन्य धर्मों के प्रबल अघातों से बचाया। परन्तु, **डॉ० रामधारी सिंह दिनकर'** का मत है कि, आर्य समाज ने अधिक पुनरुत्थानवादी नीति अपनाई है—उसने वेदान्ती और पौराणिक तत्वों को निरसित करके और पाश्चात्य एवं मुस्लिम संस्कृतियों को एकदम अस्वीकार करके हिन्दू जाति को वैदिक युग की प्राक्कालीन सरलता में लौटा ले जाने का प्रयत्न किया।" स्वामीजी ने कहा कि वेदों में केवल धर्म की ही बातें नहीं हैं, उसमें विज्ञान की भी सारी बातें प्रछन्न हैं। इससे लोगों के ज्ञानोन्मेस में बाधा पड़ी। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से दूर रहने का एक ही परिणाम हो सकता है कि प्रगति की दौड़ में हम सबसे पीछे रह जायं। अस्तु, कट्टरता से दूर रहकर। आधुनिक सत्य को अपनाकर ही आर्य समाज एक जीवित आन्दोलन बना रह सकता है।

## VI रामकृष्ण परमहंसः व्यक्तित्व एवं योगदान

"सच्चे अर्थों में धार्मिक जागरण के—जिसका स्रोत विशुद्ध धार्मिक अनुभूति और परम तत्व के निकट एवं प्रत्यक्ष साक्षात्कार में होता है—अग्रदूत थे श्री रामकृष्ण परमहंस और उनके उत्तराधिकारी स्वामी विवेकानन्द।"

**डॉ० आबिद हुसैन**

ब्रह्म समाज और आर्य समाज बड़े ही प्रबल सांस्कृतिक आन्दोलन थे किन्तु उनमें भी अपनी कमजोरियाँ थीं। आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द बाल-ब्रह्मचारी, निरीह सन्यासी, प्रचंड तार्किक और उदभटट् विद्वान थे किन्तु संतो की नम्रता और निरहकारिता उनमें नहीं थी। ब्रह्म समाज में तार्किकता तो अधिक नहीं थी, किन्तु ब्रह्म-समाजी लोग अपने को जितना भक्ति-विह्वल दिखलाना चाहते थे, वस्तुतः उतनी भक्ति विह्वलता उनमें थी नहीं। राममोहन राय, दयानन्द व एनी-बेसैंट के प्रचार से यह तो सिद्ध हो गया कि हिन्दू धर्म निन्दनीय नहीं, वेराय है, किन्तु जनता तो यह देखना चाहती थी कि धर्म का जीता-जागता रूप कैसा होता है। धर्म का यह जीता जागता रूप उसे तब दिखाई पड़ा जब रामकृष्ण परमहंस का आविर्भाव हुआ।

**रामकृष्ण परमहंस : जीवनवृत एवं शिक्षाएँ**—जिस समय स्वामी दयानन्द उत्तरी भारत में हिन्दू जाति में नवजीवन का संचार करने के लिये प्रयत्न कर रहे

थे, बंगाल के एक अन्य महात्मा का प्रादुर्भाव हुआ इनका नाम रामकृष्ण परमहंस (1836-1886 ई०) था। रामकृष्ण का जन्म सन् 1836 ई. में बंगाल के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके बचपन का नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था। वे बचपन से ही धार्मिक चिन्तन व ध्यान में मग्न रहते थे। रामकृष्ण 17 वर्ष के ही थे कि उनके पिता की मृत्यु हो गई। अपने बड़े भाई के साथ वे कलकत्ता के दक्षिणेश्वर मंदिर में पुजारी हो गये। रामकृष्ण काली की मूर्ति की पूजा करने लगे उन्हें विश्वास होने लगा कि देवी उन्हीं की भांति सजीव है। वे घंटों उस मूर्ति के समीप गाना गाते, माँ के सामने बच्चे की भाँति प्रार्थना करते, और ऐसा करते-करते बेहोश हो जाते। उनको समाधि लगने लगी।

उनकी भक्ति बड़ी उत्कट थी। कहते हैं कि उन्होंने श्री कृष्ण का साक्षात्कार किया। डॉ० ताराचन्द ने लिखा है कि इस गरीब अशिक्षित, दुर्बल, ग्रामीण भक्त ने बंगाल को उद्वेलित कर दिया। न केवल वह दक्षिणेश्वर मन्दिर में आने वाले साधारण व्यक्तियों के लिए आलोक और पुण्य के स्तम्भ थे, बल्कि वह उन्हें कष्ट और तकलीफों को धैर्य के साथ सहन करने, आन्तरिक सुख और सन्तोष प्राप्त करने में समर्थ बनाते थे। साथ ही उनकी नम्रता, मानवता और आध्यात्मिकता के कारण उनके पास जो अति-शिक्षित मध्य वित्त वर्ग के अंग्रेजी रंग में रंगे हुए लोग आते थे, उनके लिए भी वह शक्ति शाली आकर्षण साबित हुए। इसलिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक नरेन्द्रनाथ दत्त (बाद में विवेकानन्द) केशवचन्द्र सेन और दूसरे लोग आकर या तो उन्हीं के पास रह गये और अपना जीवन उन्हीं की वाणी के प्रचार में लगा दिया अथवा उनसे प्रेरणा प्राप्त की, जिससे उनका दृष्टिकोण ही बदल गया।

स्वामी राम कृष्ण का चरित्र अदभूत था। उनके जीवन का केवल यही लक्ष्य था कि ईश्वरमय हो जाय। उसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने घर-बार-धाम, जाति-बिरादरी, भोग-विलास सभी त्याग दिया। "परमहंस में बचपन से ही तापसोचित आत्मानुशासन और आत्म-शासन की चिरसमादृत पद्धति द्वारा सत्य के अन्वेषण की खरकर जिज्ञासा थी। अपनी सर्व-सन्मित आस्था के वंश उन्होंने हिन्दू रहस्यवादियों के विविध आचार-अभ्यासों का तो परिपालन किया ही—जिससे उन्हें काली, सीता और कृष्ण के दर्शनों का सुखद अनुभव हुआ— परन्तु साथ ही इस्लाम और ईसाई धर्म की आराधना चर्चा का भी अनुसरण किया जिससे उन्हें क्रमशः पैगम्बर मोहम्मद साहब और ईसा मसीह की साक्षात् निकटता का परमसुख भी प्राप्त हुआ। अपने जीवन के अन्तिम सात वर्ष उन्होंने इर्द-गिर्द इकट्ठे हो जाने वाले शिष्यों को रहस्य-मूलक परमानन्द के गूढ़ तत्व को समझाने में बिताये। उनके अग्रगण्य शिष्य थे स्वामी विवेकानन्द। सन् 1886 ई० में उनका परलोकवास हो गया।

## धर्म के जीते-जागते स्वरूप परमहंस रामकृष्ण

परमहंस रामकृष्ण राजा राममोहन राय या स्वामी दयानन्द के समान विद्वान नहीं थे। फिर भी, वे एक उच्चकोटि के संत थे जिन्होंने महान् आध्यात्मिक उपलब्धियां अर्जित कीं। रामकृष्ण ने वेदान्त की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की और उसका जीवन में व्यावहारिक प्रयोग कर दिखाया। **धर्म के गहन तत्व को उन्होंने** सीधेसाधे वाक्यों में दृष्टांत देकर लोगों को समझाया। रामकृष्ण ने सभी धर्मों की सत्यता में विश्वास प्रकट किया। उनकी मान्यता थी कि **"विभिन्न धर्म ईश्वर तक पहुंचने के विभिन्न मार्ग हैं।"** ईश्वर एक है, लेकिन विभिन्न कालों और विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों और भिन्न भावों से पूजा जाता है। इसलिए धर्मों की अनेकता देखने को मिलती है। **रामकृष्ण परमहंस ने सदैव मानवता की एकता का स्वप्न देखा। उन्होंने कहा कि "सर्व-धर्म-समन्वय के आदर्श द्वारा ही वह स्वप्न पूरा हो सकता है।"**

जब सभी धर्मों के लोग-हिन्दू, ईसाई और मुसलमान आपस में इस प्रश्न पर लड़ रहे थे कि किस का धर्म ठीक है और किसका नहीं, तब परमहंस रामकृष्ण ने सभी धर्मों के मूल तत्व को अपने जीवन में साकार करके मानों, सारे विश्व को यह संदेश दिया कि **"धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ, हो सके तो उसकी सीधी अनुभूति के लिए प्रयास करो। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जाने वाले अनेक मार्ग हैं।"** रामकृष्ण उस ऊँचाई के मनुष्य थे जहाँ से सभी धर्म सत्य और सबके सब समान दीखते हैं। आजीवन वे बालकों की तरह सरल और निश्चल रहे। हिन्दू धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, रामकृष्ण उसकी प्रतिमा हैं।

रामकृष्ण परमहंस ने अपने आचरण से हिन्दुत्व के उस उदार भाव का उदाहरण प्रस्तुत किया जो हिन्दू संस्कृति की, आदिकाल से विशेषता रही है। मनुष्य की सेवा में वे पीड़ित, जीवित, प्रेमालु मानवता के सम्पर्क में आते थे। वे प्रार्थना में कहते थे, "माँ! मुझे दासानुदास बना।" **स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "बाहर से वह भक्त थे, भीतर से वह ज्ञानी थे।"**

**रामकृष्ण की शिक्षायें**—रामकृष्ण यद्यपि उच्च-शिक्षित विद्वान नहीं थे, मगर उन्होंने वेदान्त के मूल्यों की अति सुन्दर ढंग से व्याख्या की। उनकी शिक्षाओं व उपदेशों का सारांश निम्नानुसार है :—

1. ईश्वर-साक्षात्कार ही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।
2. मन को कंचन और कामिनी से हटाकर ईश्वर की ओर लगाओ।
3. शरीर और आत्मा दो भिन्न वस्तुएँ हैं। कामिनी-कंचन की आसक्ति यदि पूर्णरूप से नष्ट हो जाये तो शरीर अलग है और आत्मा अलग है, यह स्पष्ट रूप से दीखने लगता है।
4. ईश्वर शास्त्रार्थ की शक्ति से परे हैं। बगीचों में तुम आम खाने जाते हो, न कि पेड़ों के पत्ते गिनने।

5. मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं करना चाहिए।
6. विद्वता और पांडित्य के साथ मनुष्य में शील और सदाचार भी होना चाहिए।
7. सभी धर्म एक ही ईश्वर तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।

## रामकृष्ण का पुनर्जागरण में योगदान

स्वामी रामकृष्ण ने न कोई धर्म चलाया, न मठ बनाये और न नवीन धार्मिक सिद्धांतों को जन्म दिया। वह साधारण तरीके से उपदेश दिया करते थे और उन्हीं से उनके धार्मिक विचारों का पता लगता है, उन्होंने वेदों का अध्ययन नहीं किया था, लेकिन उनके विचार उन्हीं पर आधारित थे। उनका कहना था कि मनुष्य का मूल लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति होना चाहिए, जो अध्यात्मवाद के द्वारा ही सम्भव है। इसके लिए वे संसार को त्यागना आवश्यक नहीं मानते थे और न ही वे इच्छाओं के दमन में विश्वास करते थे। उनका कहना था, **"संसार में रहो, कार्य करो और इच्छाओं का दमन करने के स्थान पर उनको ईश्वर प्राप्ति में लगाओ।"** वे ज्ञान से अधिक चरित्र-निर्माण पर बल देते थे। उनका कहना था कि, **"बिना स्पष्ट और विकार रहित बुद्धि के धर्म शास्त्रों का ज्ञान और पवित्र पुस्तकों का अध्ययन बेकार है। विवेक और वैराग्य के बिना कोई भी आध्यात्मिक प्रगति संभव नहीं है।"**

**प्रमुख देन : (1) संसार के लिए रामकृष्ण की सबसे बड़ी देन अध्यात्मवाद है।** अपने सरल उपदेशों और जीवन के उदाहरण से उन्होंने वेदों और उपनिषदों के जटिल ज्ञान को साधारण व्यक्ति के निकट पहुँचा दिया और हिन्दुओं में अपने प्राचीन ज्ञान के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न किया।

(2) **रामकृष्ण की दूसरी महत्वपूर्ण देन, सभी धर्मों की एकता में विश्वास जाग्रत करना था।** अपने उपदेशों से ही नहीं बल्कि अपने जीवन के उदाहरण से भी उन्होंने यह स्पष्ट किया कि सभी धर्म समान हैं, सभी धर्म ईश्वर,प्राप्ति के विभिन्न मार्ग हैं और किसी भी मार्ग का सही अनुकरण करने से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। उनका कहना था कि, **"ईश्वर को जिस शक्ल और नाम से तुम पुकारोगे। उसी नाम और स्वरूप में तुम उसे देखोगे।**

(3) **मनुष्य मात्र की सेवा और भलाई को धर्म बताना रामकृष्ण की संसार को तीसरी महत्वपूर्ण देन थी।** उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का स्वरूप है और इस कारण मनुष्य की सेवा करने से एक व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त कर सकता है।

**निष्कर्ष**—इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने अपने व्यवहार और कर्म से उपनिषदों और वेदों के मूल विचारों को स्पष्ट करके हिन्दू पुनरुद्धार-आन्दोलन को उसकी श्रेष्ठता पर पहुँचा दिया। यही नहीं बल्कि, उन्होंने मानव मात्र को यह सन्देश भी दिया कि वे धर्म और संस्कृति के विभेदों को भूलकर

मानव मात्र की भलाई का प्रयत्न करें। भौतिकवाद, संघर्ष और घृणा के इस युग में उन्होंने संसार को अध्यात्मवाद का उपदेश देकर संसार को एकता, प्रेम और सहयोग का मार्ग बताया।

महात्मा गांधी ने स्वामी रामकृष्ण परमहंस के बारे में लिखा है कि "रामकृष्ण परमहंस के जीवन की कहानी व्यावहारिक धर्म है। उनका जीवन हमें ईश्वर को हमारे समक्ष दिखाता है।"

सारांश में, कहा जा सकता है कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस एक महान् विभूति थे जिन्होंने अन्य सुधारकों के समान किसी समाज या संस्था की स्थापना नहीं की। उन्होंने अपनी दृष्ट देवी काली की भक्ति, ध्यान और योग से यह अनुभव कर लिया कि सब धर्म एक ही सनातन धर्म के अंश और अंग हैं। उन्होंने सभी मत-मतान्तरों की साधना-प्रणालियों से ईश्वर का साक्षात्कार किया। उन्होंने देश को फिर से सब धर्मों की मूलभूत एकता, ईश्वर की लौकिक सत्ता एवं आध्यात्मिक जीवन की महत्ता में विश्वास जमाने की सबल प्रेरणा दी एवं निर्गुण-सगुण, एक-अनेक, द्वैत-अद्वैत, साकार-निराकार सबका मूल्य बताकर सुन्दर समन्वय किया। वे पूर्व और पाश्चात्य संस्कृतियों के समन्वय का स्वप्न सार्थक करने के लिए इस युग में अवतीर्ण हुए थे। डॉ० सिल्वेन लिवी के शब्दों में, "**क्योंकि रामकृष्ण का हृदय और मस्तिष्क सभी देशों के लिए था, इसलिए उनका नाम सम्पूर्ण मानव-मात्र की सम्पत्ति है।**"

## VII स्वामी विवेकानन्द : भारतीय पुनर्जागरण में योगदान

### (Vivekanand's Role in Indian Renaissance(

"वर्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द कर चुके थे। बाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्य रूप देने का प्रयास करते रहे हैं। जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गांधी और जवाहरलाल उसके इंजिनियर हैं।

**डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'**

परमहंस रामकृष्ण ने साधनापूर्वक धर्म की जो अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं, स्वामी विवेकानन्द ने उनसे व्यावहारिक सिद्धांत निकाले। **जवाहर लाल नेहरू ने** लिखा है कि "विवेकानन्द एक ओजस्वी वक्ता थे और बंगला गद्य और पद्य के सफल लेखक थे। वह एक सुन्दर और रोबीले आदमी थे और उनमें शान तथा ,गंभीरता भरी हुई थी। उनको अपने में और अपने मिशन में पूरा भरोसा था; साथ ही वह सक्रिय और तीव्र शक्ति से भरपूर थे और भारत को आगे बढ़ाने की उनमें गहरी लगन थी।"

विवेकानन्द के बचपन का नाम था नरेन्द्र दत्त, जिनका जन्म 12 जनवरी, 1863 ई० को हुआ। वह बड़े योग्य और मेधावी छात्र थे। अपने कॉलेज के प्रिंसिपल महोदय से परमहंस रामकृष्ण की अपूर्व प्रशंसा सुनकर वह उनके समीप

पहुँचे। जाते ही उन्होंने रामकृष्ण से प्रश्न किया, "क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है ?" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं ईश्वर को ऐसे देखता हूँ, जैसे मैं तुमको देख रहा हूँ।" इसी उत्तर को सुन कर वह बहुत प्रभावित हुए और परमहंस के शिष्य हो गये। गुरु की कृपा से उन्हें धर्म में प्रतीति बढ़ी और उन्हें आध्यात्मिक साक्षात्कार हुआ। रामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ के जीवन को नई दिशा दी। गुरु की प्रेरणा के कारण ही वह धार्मिक-सामाजिक चेतना के कार्य में जुट गये। रामकृष्ण परमहंस के सन् 1886 ई० में देहावसान के पश्चात् वह उनके उत्तराधिकारी बने तथा उन्होंने सन्यास धारण करने के साथ अपना नाम विवेकानन्द रख लिया। उन्होंने उस समय यह प्रणालियां कि **"मैं अपना जीवन रामकृष्ण के संदेश के प्रचार व प्रसार में लगा दूंगा।"** रामकृष्ण के मानववाद को उनके प्रिय शिष्य विवेकानन्द के रूप में एक शक्तिशाली प्रचारक प्राप्त हुआ।

**विवेकानन्द द्वारा भारत भ्रमण**—विवेकानन्द अब भारतीय समाज को जागृत करने में जुट गये। गुरु ने जिस समय परम गति पाई उस समय स्वामी विवेकानन्द की अवस्था केवल तेईस वर्ष की थी। पांच वर्ष तक तीर्थाटन एवं भारत-दर्शन के उद्देश्य से उन्होंने समूचे देश का भ्रमण किया। इस भ्रमण में देशवासियों के घोर अज्ञान और बेहद गरीबी का अनुभव कर उनका दिल भर आया। कन्याकुमारी अन्तरीप के पवित्र मन्दिर में दर्शनोपरान्त हिन्द महासागर के तट पर एक चट्टान पर खड़े होकर उन्होंने प्रतिज्ञा की कि **"वे अपना जीवन निर्धनता के मारे लाखों करोड़ों भारतीयों की भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक उन्नयन एवं उनकी शिक्षा के लिए होम देंगे।"**

स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व अनुपम था, उनकी विद्वता अगाध थी और उनमें तेजस्विता विद्यमान थी, जो आध्यात्मिक शक्ति के कारण उत्पन्न होती है। इस तरह रामकृष्ण अनुभूति थे और विवेकानन्द उसके व्याख्याकार बनकर आये। रामकृष्ण दर्शन थे, विवेकानन्द ने उसके क्रिया पक्ष का आख्यान किया।

**शिकागो सर्व-धर्म सम्मेलन में**—स्वामी विवेकानन्द के हृदय में एक आंधी उफन रही थी और उनकी आत्मा में एक अग्नि प्रज्वलित थी। इस हालत में उन्होंने यह निश्चय किया कि संसार के सामने भारतीय अध्यात्म का संदेश प्रस्तुत किया जाए। अस्तु, सन् 1893 में वह अमरीका गए और शिकागो में उन्होंने धर्म के विश्व-संसद के सामने अपना प्रसिद्ध भाषण दिया। उनका भाषण भारत की सार्वदेशिकता और विशाल हृदयता से ओत-प्रोत था। वहाँ उपस्थित सभी श्रोता उनकी वाणी सुनकर मंत्र-मुग्ध हो गए।

भारतीय आत्म-ज्ञान पर उनका जो व्याख्यान हुआ, उसे सुनकर लोग चकित रह गये। स्वामी विवेकानन्द ने उनसे कहा, **"जिस प्रकार सारी धाराएं अपने जल को ले जाकर सागर में मिला देती हैं, उसी प्रकार मनुष्य के सारे धर्म ईश्वर की ओर ले जाते हैं।"** वहाँ अपने प्रेम और आस्था के सन्देश का अच्छा स्वागत हुआ देखकर

उन्होंने पूरे संयुक्त राज्य अमेरिका का दौरा किया, जिसमें उन्होंने जगह-जगह व्याख्यान दिये, वेदान्त दर्शन समझाने के लिए गोष्ठियां कीं, । 'राजयोग' नाम से एक ग्रन्थ लिखा और न्यूयार्क में एक वेदान्त-समाज की स्थापना की ।

उनके वहां दिये गये भाषणों से प्रभावित होकर 'द न्यू यार्क हेरॉल्ड' समाचार पत्र ने लिखा कि "उनका भाषण सुन लेने पर अनायास यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए (ईसाई) धर्म प्रचारक भेजना कितनी वेवकूफी की बात है ।" इसी पत्र की रिपोर्ट के अनुसार, विवेकानन्द निश्चित रूप से विश्व-धर्म-संसद के सबसे प्रमुख व्यक्तित्व थे । "वे दिव्य शक्ति के वक्ता थे ।" उनकी ओजस्वी, मधुर, ज्ञानमयी वाणी, गेरूआ-वेश और बुद्धि-दीप्त मुख-मण्डल ने श्रोताओं को अत्यन्त प्रभावित किया । यह पहला अवसर था जब कि पाश्चात्य देशों की जनता को भारतीय धर्म की महत्ता ज्ञात हुई । इस तरह शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन के पश्चात् ही भारतीय धर्म व संस्कृति का महत्त्व यूरोपीय देशों में बढ़ा । उनमें इनके प्रति आकर्षण और सम्मान बढ़ गया । इस तरह, भारत में ही नहीं अपितु पाश्चात्य देशों में भी विवेकानन्द ने उपनिषदों के वेदान्त-दर्शन एवं प्राचीन आत्म-ज्ञान का सन्देश गुंजा दिया ।

विश्व के सम्मुख भारतीय सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता और सर्वोपरिता की साहस पूर्ण घोषणा करने से उन हिन्दुओं में नवीन प्रेरणा व शक्ति का संचार हुआ जो यूरोपीय संस्कृति व सभ्यता के सम्मुख अपने को हेय समझते थे । इससे भारतीयों के मन में आत्म-गौरव का एक सशक्त भाव उदित हुआ जिससे राष्ट्रीय पुनरुत्थान के मार्ग को प्रशस्त होने में निर्दिष्ट सहायता प्राप्त हुई ।

## विवेकानन्द द्वारा रामकृष्ण मिशन की स्थापना : उद्देश्य

सन् 1897 में, यूरोप व अमेरिका भ्रमण से लौटने पर स्वामी विवेकानन्द का देशवासियों ने भव्य स्वागत किया । कुमारी अन्तरीप (दक्षिण) से लेकर कलकत्ता तक उनकी यात्रा एक विजय-यात्रा रही, क्योंकि वह प्रथम भारतीय थे जिसने पाश्चात्य की श्रेष्ठता को चुनौती दी थी । स्वामी विवेकानन्द ने देश भर का एक और दौरा किया । इस बार उन्होंने हिन्दू-जाति को चुनौती दी कि पश्चिम की भाँति व्यवस्थित और सुसंगठित ढंग से समाज सेवा और सुधार का कार्य करें - विशेष रूप से स्त्री-शिक्षा और उन्नयन का कार्य ।

अस्तु, 1897 ई० में उन्होंने इस संगठन के आदर्श के रूप में रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की । इस मिशन का उद्देश्य परमहंस रामकृष्ण की शिक्षाओं के अनुसार जन-समाज की सेवा करना था और इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता नहीं थी । कुछ समय में ही भारत तथा विदेशों में उसकी अनेक स्थानों पर शाखाएँ कायम हो गयीं । "इस मिशन को भारत की प्राचीन संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त हुई । यह धार्मिक तथा सामाजिक सुधार का समर्थन करता है । विशुद्ध वेदान्त सिद्धान्त इसके आदर्श हैं और मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिकता का विकास करना इसका

लक्ष्य है। भारत में विभिन्न स्थानों में अपनी शाखाओं द्वारा यह मिशन परोपकारिता के दिव्य कार्य और देश-हितकारी साधनों से समाज-सेवा कर रहा है। अस्पताल खोलकर रोगियों की सहायता व सेवा-सुश्रुषा करना, अनाथालयों और आश्रमों द्वारा दीन-दुखियों की सेवा करना तथा विद्यालयों व वाचनालयों द्वारा ज्ञान व शिक्षा का प्रचार करना, आजकल इस मिशन का विशेष कार्य है। इस मिशन ने नयी परिस्थितियों के अनुरूप हिन्दुत्व की नयी अभिव्यक्ति के लिए असाधारण कार्य किया।"

स्वामी विवेकानन्द ने अपने शेष जीवन काल को बहुत जोर-शोर से मिशन को संगठित करने में लगाया। वे अंतिम क्षण तक तन्मयता से अपने वेदान्ती विचार द्वारा देश को ऊँचा उठाने में लगे रहे। उन्होंने मिशन के दो प्रधान केन्द्र स्थापित किए, एक कलकत्ता के पास वेलूर में और दूसरा अलमोड़ा के पास मायावती में। इन केन्द्रों में रामकृष्ण मिशन में शामिल होने वाले नौजवानों को सन्यासी के रूप में धार्मिक और समाज-कल्याण सम्बन्धी कार्यों की दीक्षा दी जाती थी। सन् 1902 में 39 वर्ष की अल्पावस्था में ही विवेकानन्द का देहांत हो गया।

**विवेकानन्द एवं रामकृष्ण मिशन का योगदान**—परमहंस रामकृष्ण व स्वामी विवेकानन्द ने अपने आचरण से हिन्दुत्व के उदार भाव का उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्हें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई किसी में भेद नहीं जान पड़ता था। जातिगत ऊँच-नीच व छुआ-छूत का भी उन्होंने प्रबल विरोध किया। हिन्दुत्व के प्रबल समर्थक होने पर भी उनका इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था। रामकृष्ण ने तो छः महीनों तक विधिवत मुसलमान रहकर इस्लाम की साधना भी की थी। उनकी कल्पना थी कि इस्लाम की व्यावहारिकता को आत्मसात किये बिना वेदांत के सिद्धांत जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकते। स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि, **"हमारी जन्म-भूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो महान् धर्म—हिन्दुत्व और इस्लाम मिलकर एक हो जायें। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।"**

(1) स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में रामकृष्ण मिशन ने प्रचार किया कि सभी धर्म सच्चे और सुन्दर हैं। प्रत्येक धर्म को चाहिए कि वह अपने में अन्य धर्मों की एकता को आत्मसात कर ले।

(2) पश्चिमीय सभ्यता भौतिकवादी, स्वार्थी एवं विलासपूर्ण है। इन दोषों से प्रत्येक हिन्दू को अपने धर्म व संस्कृति की रक्षा करना चाहिए। परन्तु, देश की उन्नति के लिए पश्चिमीय कार्य-प्रणाली तथा शिक्षा की आवश्यकता है।

(3) विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन के सन्यासी एक नये तरीके से समाज की सक्रिय सेवा में--दुर्भिक्ष पीड़ितों का दुःख दूर करने में, रोगियों की चिकित्सा में अनाथों के पालन-पोषण में लगाये गये। उन्होंने शिक्षा-प्रसार हेतु अनेक विद्यालय खोले और सेवा-केन्द्र स्थापित किए। अनेक स्थानों पर मठों की स्थापना

भी की। विना किसी भेद-भाव के मिशन आज भी सेवा-कार्य में जुटा हुआ है, जो श्लाघनीय है।

(4) रामकृष्ण और विवेकानन्द की अनुभूति, आचरण, अभ्यास, लगन और निष्ठा के द्वारा पथ भ्रष्ट पश्चिमी सभ्यता के अंधे-अनुयायी हिन्दुओं को सच्चे हिन्दुत्व की ओर आकर्षित किया गया।

**स्वामी विवेकानन्द के कार्यों का मूल्यांकन**— स्वामी विवेकानन्द के धर्म में मानव-समाज की सेवा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे शिक्षा, स्त्री-पुनरुद्धार और आर्थिक प्रगति के पक्ष में थे। निर्धनता, अशिक्षा, अन्ध-विश्वास और रूढ़िवादिता पर उन्होंने कठोरतम प्रहार किये। उनका कथन है, "**निर्धन, अनजान, अशिक्षित और असहाय को अपना ईश्वर बनाओ। इनकी सेवा करना ही महान् धर्म है।**" उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "**जब तक करोड़ों व्यक्ति भूखे और अज्ञानी हैं, तब तक मैं हर उस व्यक्ति को देश-द्रोही मानता हुँ जो उन्ही के खर्चे पर शिक्षा प्राप्त करता है और उनकी बिल्कुल परवाह नहीं करता।**"

विवेकानन्द धर्म के उस स्वरूप को प्रस्तुत कर रहे थे, जो मानव-कल्याण में सहायक हो। उन्होंने कहा कि, "**वे ऐसे धर्म पर विश्वास नहीं करते जो विधवा के आँसू न पोंछ सके अथवा अनाथ के मुंह में रोटी का टुकड़ा न ला सके।**" उनके मतानुसार, गिरे हुए की सेवा करना ही सबसे बड़ा धर्म है।

स्वामी विवेकानन्द सभी धर्मों की मूलभूत एकता में विश्वास करते थे, और उन्होंने सर्वदा धार्मिक उदारता, समानता और सहयोग पर बल दिया। उन्होंने कहा था कि "**सहायता करो, लड़ो नहीं, एक-दूसरे से ग्रहण करो, विनाश नहीं, मेल और शान्ति, मतभेद नहीं।**" विवेकानन्द ने धर्म के संकुचित स्वरूप को कभी नहीं माना। धर्मान्धता, रूढ़िवाद और मिथ्या विश्वासों को दूर करने पर उन्होंने जोर दिया। डॉ० हेमसथ के शब्दों में, "**वर्तमान युग में भारतीयों के भौतिक कष्टों और मिथ्या विश्वासों की संभवतः सबसे अधिक तीखी, जोरदार और कटु भर्त्सना विवेकानन्द ने की।**

डॉ० के० एम० पणिक्कर के मतानुसार, "**उनमें सबसे विलक्षण बात यह थी कि उनके हृदय में देश-भक्ति की ज्वाला धधक रही थी। और वह हिन्दू धर्म और मातृ-भूमि के अतीत-गौरव के पुनरुद्धार के लिए बेचैन थे।**"

स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों के फलस्वरूप भारतीयों में शारीरिक उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता का सम्मान और प्रचार बढ़ गया। विवेकानन्द ने अनेकों वार कहा है, **भारत का कल्याण शक्ति के साधनों में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है। जन-जन में जो साहस और जो विवेक प्रच्छन्न है उसे हमें बाहर लाना है।**"

विवेकानन्द नारी-शिक्षा और उनके उन्नयन के प्रबल समर्थक थे। नारियों के प्रति उनमें असीम उदारता थी। उन्होंने कहा है, "**संसार की सभी जातियों**

नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान् हुई हैं। जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी और न आगे उन्नति कर सकेगी।"

निर्धनता, पुरोहितवाद और धार्मिक अत्याचार सिखाने वाले दर्शनों के स्वामी विवेकानन्द प्रचंड विरोधी थे। जैसे-तैसे धन-संग्रह करने वाले धनवानों के प्रति भी उनमें आदर भाव नहीं था। उन्होंने कहा है, "भारत की एक मात्र आशा उसकी जनता है ऊंची श्रेणी के लोग तो शरीर और नैतिकता, दोनों ही दृष्टियों से मर चुके हैं।"

इस तरह, हम देखते हैं कि समाज का नव-निर्माण और सेवा ही विवेकानन्द का प्रथम धर्म था। एक आधुनिक इतिहासकार ने 'भारतीय राष्ट्रीयता' के निर्माण में उनके योगदान के बारे में लिखा है कि "स्वामी विवेकानन्द को आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता का पिता पुकारा जा सकता है बहुत कुछ अशों में उन्होंने उसका निर्माण किया और साथ ही अपने जीवन में उसके श्रेष्ठतम और ऊंचे आदर्शों को सम्मिलित किया।"

सारांश में, स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों ने राष्ट्रीयता, भारतीय सभ्यता व संस्कृति की शक्ति में वृद्धि की। उन्होंने भारतीयों को नवयुग की प्रेरणा दी। उनकी नसों में जागरण का नूतन स्वर भर, हमारी आध्यात्मिक और नैतिक भित्ति को पुनः दृढ़ बनाकर हमारे उत्थान की एक विशाल पृष्ठ भूमि तैयार कर दी। इस तरह विवेकानन्द की वाणी में ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एवं भारतीयों में अपने उज्जवल भविष्य के प्रति उज्जवल आशा का संचार हुआ।

## VIII थियोसोफिकल सोसायटी : उद्देश्य एवं योगदान
## (Theosophical Society : Aims and Contribution)

ब्रह्म-समाज की भांति एक और उदारवादी आन्दोलन भारत में चला, जिसकी प्रेरणा विदेशीय थी। परन्तु विकास क्षेत्र भारत था। उसकी धार्मिक नीति भारत के तत्कालीन वातावण के अनुकूल थी। इस कारण उसके प्रचार व प्रसार में यहाँ उसे अनुकूलता मिल सकी। यह आन्दोलन **'थियोसोफी'** अथवा **'ईश्वर का ज्ञान'** था। यह मत अथवा संगठन भी नवोत्थान का द्योतक है। इसकी विशेषता अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वास सृष्टि-व्यापी है। 'थियोसोफी' शब्द का निर्माण यूनानी भाषा के दो शब्दों— 'Theos'=ईश्वर + 'Sophia'=ज्ञान—से मिलकर बना, जिसका अर्थ "ईश्वर का ज्ञान" है। संस्कृत में इसके लिए 'ब्रह्म-विद्या' शब्द का प्रयोग होता है।

**स्थापना**—सन् 1875 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के न्यूयार्क नगर में एक रूसी महिला मेडम हेलन पेट्रोवना ब्लेवाटस्की और कर्नल एच. एस. ऑलकॉट ने थियोसोफिकल सोसायटी अथवा ब्रह्म-विद्या-मण्डल की स्थापना की थी। सोसायटी की स्थापना के चार वर्ष बाद ये दोनों भारत आये तथा यहाँ प्रचार कार्य आरम्भ किया। 1882 ई. में इस संस्था का अन्तर्राष्ट्रीय प्रमुख केन्द्र अडयार (मद्रास) हो गया और तब भारत से ही

इसका प्रचार भारत के विभिन्न प्रान्तों एवं अन्य देशों में होने लगा। सन् 1907 में श्रीमती एनीवीसेन्ट इस संस्था की अध्यक्षा वनीं और मृत्युपर्यन्त (सन् 1937 ई०) इस पद पर आसीन रहीं।

**प्रमुख उद्देश्य**—इस संस्था के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए संस्थापक कर्नल ऑलकॉट ने वम्बई में घोषणा की थी, "उसका लक्ष्य भारतीयों को उनके प्राचीन गौरव और महानता की याद दिलाना है ताकि भारत अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर सके।" वैसे इस संस्था का मुख्य उद्देश्य सृष्टि के अधिशासी नियमों का अनुसंधान तथा प्रचार करना था। आगे चलकर इनका विस्तार हो गया, जैसे सर्वोच्च नैतिकता और धार्मिक आकाँक्षाओं का चरित्र द्वारा जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करना, पाश्चात्य राष्ट्रों में पूर्वीय धार्मिक दर्शनों तथा ज्ञान की विविध शाखाओं का प्रचार करना, मानव-मात्र में भ्रातृत्व-भाव उत्पन्न करना तथा सभी धर्मों के लोगों को एक समान समझना। सारांश में, "यह कोई साम्प्रदायिक संस्था व आन्दोलन नहीं है। इसका प्रमुख उद्देश्य समस्त धर्मों की मूलभूत एकता, आध्यात्मिक जीवन का महत्त्व और विश्व-बन्धुत्व का प्रचार करना है।"

**दर्शन एवं प्रमुख सिद्धान्त**—थियोसोफिकल समाज ने प्रकृति के नियमों को खोजना और मनुष्य की दैवी शक्तियों के विकास की निम्नलिखित मुख्य वातें बतायी हैं :

1. **ब्रह्म की कल्पना**, जिससे सभी व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है और जो सभी मनुष्यों में निवास करता है।

2. **धर्म के विभिन्न स्वरूप हैं**, परन्तु वे सभी ब्रह्म के अंग हैं।

3. ब्रह्म की देख-भाल में 'उसके वड़े वच्चे' जिन्हें सन्त, दार्शनिक, महात्मा, देवता आदि पुकारते हैं, संसार का मार्ग-दर्शन करते हैं।

4 मनुष्य अपने कर्म के अनुसार धीरे-धीरे प्रयत्न करते हुए 'निर्वाण' प्राप्त कर सकता है।

5. सभी धर्मों का महत्त्व है क्योंकि प्रत्येक धर्म किसी न किसी प्रकार मनुष्य को निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग वताता है।

6. स्त्री और पुरुष समान हैं क्योंकि आत्मा कभी पुरुष शरीर में जन्म ले सकती तो कभी स्त्री-शरीर में।

**महत्व एवं योगदान**—भारत में यह संस्था डॉ० एनीवीसेन्ट के सभापतित्व में एक अनुपम शक्ति हो गयी इसने विश्व का तथा विशेषकर भारतीयों का, भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता की ओर ध्यान आकर्षित कर, धार्मिक सहिष्णुता पर अधिक जोर दिया। इसने शिक्षा तथा समाज-सुधार के अनेक कार्य किये। इसने वनारस, मद्रास, मदनपल्ली आदि स्थानों में साधारण व उच्च-शिक्षा के साथ-साथ वैज्ञानिक हिन्दू धर्म के अध्ययन का भी सफल प्रयत्न किया। इस संस्था द्वारा स्थापित किया

बनारस का 'सेन्ट्रल हिन्दू कालेज' ही आगे चलकर 'बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी' में परिवर्तित हो गया। इसी संस्था ने सर्वप्रथम अछूतों के लिए पाठशालाएँ निर्माण कर राष्ट्रीय कार्य की ओर ठोस कदम बढ़ाया।

सारांश में, 'थियोसोफिकल समाज' ने भारतीयों में नवीन प्रेरणा-शक्ति, अतीत में श्रद्धा, भविष्य में विश्वास व आशा उत्पन्न की एवं हिन्दू मस्तिष्क में धार्मिक-हीनता की भावना को दूर कर आत्म-गौरव की भावना का संचार किया। इसने प्राचीन भारतीय आदर्शों और परम्पराओं को पुनर्जीवित करने में सहयोग दिया। इस तरह इस संस्था का भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

## एनीबीसेन्ट : भारतीय पुनरुत्थान में योगदान

डॉ० रामधारीसिंह 'दिनकर' का कथन है कि थियोसोफिकल समाज का नाम विदेशी है और यह संस्था भी विदेश में ही जन्मी थी। इसके सदस्यों की संख्या भी कभी इतनी नहीं हुई कि इसकी गिनती भारत के महान् सांस्कृतिक आन्दोलनों में की जा सके। किन्तु फिर भी इस संस्था की एक सभानेत्री श्रीमती एनीबीसेन्ट ने हिन्दुत्व के नवोत्थान एवं भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के लिए इतना कुछ किया कि उनकी सेवा भुलाई नहीं जा सकती। उनके जीवन का सबसे बड़ा कार्य यह रहा कि उन्होंने ऊँघते-हुए हिन्दुओं में आत्माभिमान भर दिया एवं जब ईसाई मिशनरी भारत के बाहर भारत के विषय में कुप्रचार करके यहाँ के लोगों को ईसाई बना रहे थे, तब इस ईसाई महिला ने खुलकर भारत और हिन्दुत्व का पक्ष लिया।

श्रीमती एनीबीसेन्ट 16 नवम्बर, 1893 ई० के भारत आयीं, तब उनकी अवस्था 46 वर्ष की थी। इंगलैण्ड से भारत आते ही, वे भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन में कूद पड़ीं और भारत के साथ थियोसोफिकल समाज का नाम भी बहुत ऊँचा कर दिया। इंगलैण्ड में वे 'फेबीयन सोसायटी' में काम करती थीं, जहाँ उसके सहकर्मी विश्व-विख्यात साहित्यकार जार्ज बर्नार्ड शॉ थे। शॉ ने लिखा है कि **"उस समय इंगलैण्ड में उनके समान ओजस्वी भाषण देने वाला कोई व्यक्ति नहीं था। अंग्रेजी भाषा पर उनका असाधारण प्रभुत्व था।"**

**हिन्दू धर्म के प्रति सेवाएँ**—भारत और हिन्दुत्व को श्रीमती एनीबीसेन्ट एक-दूसरे का पर्याय मानती थीं। वे मानती थीं कि पूर्व जन्म में वे हिन्दू थीं। हिन्दू-धर्म को वे विश्व के धर्मों में सबसे प्राचीन ही नहीं, सबसे श्रेष्ठ मानती थीं। सन् 1914 में एनीबीसेन्ट ने एक भाषण में कहा था, "विश्व के अनेक धर्मों के 40 वर्ष के अध्ययन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि मुझे हिन्दुत्व के समान कोई धर्म इतना पूर्ण, वैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक नहीं जँचता। जितना अधिक तुमको इसका भान होगा, उतना ही अधिक तुम इससे प्रेम रखोगे।"

श्रीमती एनीबीसेन्ट का व्यक्तित्व अद्भुत था उनकी वाक्पटुता, कर्तव्यशक्ति तत्परता और अदम्य उत्साह, ज्ञान-भण्डार, सम्यक व्यक्तित्व सभी का प्रयोग हिन्दुत्व

के परिष्कार में हुआ। **डॉ० श्री प्रकाश** के मतानुसार, "श्रीमती एनीवीसेन्ट को ही इस बात का श्रेय है कि उन्होंने एक उदासीन और सोती हुई जाति को नींद से जगा दिया, उसके अपने आत्म-सम्मान और गौरव को पुनर्जीवित कर दिया। भारतीयों को विवश कर दिया कि वे अपने कदम टेक सकें और संसार के राष्ट्रों में अपना स्थान ले सकें।"

**राजनीतिक क्षेत्र में सेवाएँ : भारत-भक्ति**—भारत की निन्दा करने वाले यूरोपियनों और भारतवासियों को जैसा मुँह-तोड़ जवाब श्रीमती एनीवीसेन्ट ने दिया वैसा किसी और से न दिया जा सका। एनीवीसेन्ट और मैक्समूलर जैसे लोगों की ही निष्पक्षता और उदारता का परिणाम था कि ईसाई मिशनरियों के दंभ में कमी आयी और संसार भारत के सात्विक रूप को पहचानने में समर्थ हुआ।

सन् 1914 से श्रीमती एनीवीसेन्ट ने देश की राजनीति में प्रवेश किया। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक द्वारा चलाये हुए 'होम रूल' आन्दोलन का उन्होंने बड़े जोर के साथ समर्थन किया। 1917 में उन्हें भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का सभापति चुना गया। वहाँ उन्होंने बड़ी योग्यता से जिम्मेदारी को निभाया। कुछ वर्षों तक उन्होंने देश में राजनीतिक चेतना जगाने की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। इस सम्बन्ध में **महात्मा गांधी** ने लिखा है कि "जब तक भारतवर्ष जीवित है, एनीवीसेन्ट की सेवाएँ भी जीवित रहेंगी, जो उन्होंने इस देश के लिए की थीं।"

**निष्कर्ष : थियोसोफी धर्म नहीं, धर्म की संजीवनी**—थियोसोफी सभी धर्मों का समन्वय चाहती है। थियोसोफिस्ट प्रत्येक धर्म में जो उसका असली तत्व है, उसे अपने विश्वास का उपकरण मानते है। सारांश मे, विश्व-बन्धुत्व, तुलनात्मक धर्म और परलोक-विद्या का अनुसंधान थियोसोफी के ये तीन प्रमुख उद्देश्य हैं। इस तरह "थियोसोफी वह असली गहराई है जिसमें से सभी धर्म निकले हैं, उन्हें लेकर सभी धर्मों के बीच एकता स्थापित की जा सकती है।"

## IX. मुस्लिम समाज का पुनर्जागरण : अलीगढ़ आन्दोलन
## [Renconstruction of Muslim Society : Aligarh Movement]

19वीं सदी में धर्म और समाज-सुधार की जो लहर भारत में उठी उससे मुसलमान सम्प्रदाय भी मुक्त न रहा। उसमें भी विभिन्न धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हुए। मुस्लिम समाज में भी अनेक कुरीतियों का समावेश छा चुका था। अन्धविश्वास, पाखण्ड और रूढ़िवादिता धर्म पर बुरी तरह से छा चुकी थी।

**वहाबी आन्दोलन : धार्मिक सुधार** - उन्नीसवीं सदी के शुरू में मुसलमानों में अपूर्व जागृति आरम्भ हुई। अरब देश में 'वहाबी आन्दोलन' चला। जिसका मुख्य उद्देश्य था—इस्लाम को परिमार्जित और परिशुद्ध करना। उसी समय मुस्लिम भारतीय समाज में व्याप्त निराशाजनक वातावरण में सौभाग्य से मुहम्मद शाह वली उल्लाह (दिल्ली) जैसे उच्च धार्मिक नेता का अविर्भाव हुआ। उन्हीं के एक शागिर्द

(शिष्य) अहमद शाह (रायवरेली) ने भारत में 'वहावी सम्प्रदाय और आन्दोलन' को जन्म दिया। इसका उद्देश्य भारतीय मुस्लिम समाज में विशुद्धता लाना और इस्लामी धार्मिक विचारधारा और आचरण में घुस आयी दुर्वलताओं को निकाल वाहर करना था। सैयद अहमद वरेलवी ने पाश्चात्य सभ्यता के विरोध में कट्टर इस्लाम के सिद्धांतों का प्रचार किया। वे अंग्रेजों को मुसलमानों का सवसे वड़ा दुश्मन समझते थे। **डॉ० के० एम० पणिक्कर** ने लिखा है कि "यद्यपि वहावी आन्दोलन की पृष्ठभूमि आमूल-परिवर्तनवादी थी फिर भी वह एक धार्मिक पुनरुत्थान का निमित्त वनकर रह गया। किन्तु वह किसी प्रकार से हिन्दू-विरोधी नहीं था। उसकी शत्रुता तो अंग्रेजी-सत्ता से थी जिसने कठोर हाथों से उनका दमन किया था।"

## सर सय्यद अहमद खाँ : मुस्लिम समाज का पुनर्निर्माण

सैयद अहमद खाँ का जन्म सन् 1817 ई० में दिल्ली में हुआ था। हिन्दू पुन-र्जागरण में जो कार्य राजा राममोहन राय ने किया, वही कार्य मुस्लिम पुनर्जागरण में सैयद अहमद खाँ ने किया। वे मुस्लिम समाज व धर्म में घुस आयी बुराईयों को दूर करना चाहते थे। वे मुसलमानों को पाश्चात्य एवं आधुनिक रीति-नीति से शिक्षित करना चाहते थे। उनकी यह प्रवल इच्छा थी कि भारत के मुसलमान इस्लामी धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ पाश्चात्य अंग्रेजी शिक्षा के भी महत्त्वपूर्ण विषयों का अध्ययन करें।

**मुस्लिमों की शोचनीय-दशा**—1857 के गदर के वाद अंग्रेज सरकारी अधिकारी मुसलमानों के प्रति खुली शत्रुता ही नहीं निभा रहे थे, उनके कार्यों को वहुत संदेह की दृष्टि से देखते थे। तत्कालीन परिस्थितियों में उनको किसी तरह तरजीह मिलना कठिन था, क्योंकि वे नूतन शिक्षा पश्चिमी विद्या उपार्जन के क्षेत्र में नहीं उतरे थे। अव अंग्रेजी भाषा ने राजकीय भाषा के रूप में फारसी भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया था और मुसलमानों ने अंग्रेज़-दुश्मनी के कारण अंग्रेजी शिक्षा की ओर उपेक्षापूर्वक ध्यान नहीं दिया था।

इस सम्वन्ध में **डॉ० के० एम० पणिक्कर** ने लिखा है "सवसे वड़ी वात यह थी कि वे देश में अल्प संख्यक थे और यदि वे समय रहते भली-भाँति आँख खोलकर ठीक ढंग से सही स्थिति को पहचानने या अपने ह्रास को रोकने में सक्षम न थे तो सचमुच उनके सामने सर्वनाश का संकट मुँह फैलाये खड़ा था। अव या तो इस्लाम को किसी नयी नीति का सहारा पकड़ना था या उसको विनाश के गर्त में चले जाना था।"

जव भारतीय मुस्लिम समाज इस सघन अंधकार में भटक रहा था तव उसे सौभाग्यवश सय्यद अहमद खाँ नामक मुगल दरवार के अमीर का नेतृत्व मिला। सय्यद अहमद खाँ के पिता को मुगल दरवार में कोरे नाम का एक उच्च पद प्राप्त था। यद्यपि सय्यद अहमद खाँ को भी अपने पिता की इस उपाधि

ग्रौर पद का लालच दिया गया था, फिर भी उन्होंने इसकी अपेक्षा कम्पनी के अन्तर्गत एक न्यायांगीय (Judicial) पद पर सेवा करना वेहतर समझा।

**सय्यद अहमद और अंग्रेजी शासन**—जब भारत में इस्लाम का अधःपतन बड़ी तेजी से हो रहा था। तब उन्होंने उन अपेक्षाकृत नरम तत्वों का नेतृत्व ग्रहण किया जो इस मत के समर्थक थे कि भारत में अंग्रेजी सत्ता का सहयोग करके ही मुसलमानों के भविष्य की रक्षा की जा सकती है। उनका कहना था कि मुसलमानों का एक जाति के रूप में संगठन किया जाय और इस अवधि में इसके निमित्त अंग्रेजों से सहयोग रखा जाय ताकि वे उनकी मदद से अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा फिर प्राप्त कर सकें। साथ ही उन्हें अंग्रेजी शिक्षा की ओर भी मुड़ना चाहिए। अस्तु, सय्यद अहमद ने अंग्रेजी शासकों की कृपा-दृष्टि प्राप्त करने की मन में ठान ली।

अंग्रेजों के विरुद्ध जब सन् 185" में प्रथम बगावत की गयी थी तब प्रमुख मुस्लिम धार्मिक गुरुओं (मूल्लाओं) ने फतवा (धार्मिक-आदेश) जारी किया था कि यह मुसलमानों का धार्मिक कर्तव्य है कि वे अंग्रेजों का डटकर प्रतिरोध करें। उस कारण अंग्रेज मुसलमानों से सख्त नाराज थे। किन्तु सय्यद अहमद की प्रेरणा से जौनपुर के मौलवी करामत अली ने घोषणा की कि अंग्रेजों का विरोध करने के लिए इस्लाम बाध्य नहीं करता है। इधर अंग्रेज सरकार भी अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए तैयार थी। सन् 1872 में **सर विलियम हंटर** ने अंग्रेजी शासन को परामर्श दिया कि इस्लाम के दृष्टिकोण को वेहतर तरीके से समझने और उसके प्रति समझौता करने की ओर ध्यान दिया जाए। इस परिस्थिति में सरकारी क्षेत्रों में सय्यद अहमद खाँ की जोरदार पूछ होने लगी।

## मुस्लिमों में शिक्षा-प्रसार

**सय्यद अहमद खाँ के जीवन का प्रमुख उद्देश्य मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना था।** इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सय्यद अहमद खाँ ने सर्वप्रथम 1864 ई० में गाजीपुर में एक अंग्रेजी शिक्षा का स्कूल स्थापित किया। एक वर्ष बाद अंग्रेजी की पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद करने के लिए एक **विज्ञान-समाज** (Scientific Society) की स्थापना की। 1869 ई० में वे लन्दन-यात्रा पर गये और वहाँ शिक्षा-जगत् में हो रही प्रगति का अध्ययन किया। 1876 ई. में वे राजकीय सेवा को त्यागकर मुसलमानों की सेवा में जुट गये। 1877 ई० में उन्होंने अलीगढ़ में **'मुहम्मडन एंग्लो-ओरिएण्टल कालेज'** की स्थापना की जो आगे चलकर **मुस्लिम विश्वविद्यालय'** कहलाया और **'अलीगढ़-आँदोलन'** का केन्द्र-बिन्दु बना। सर सय्यद अहमद खाँ ने मुसलमानों की शैक्षणिक समस्याओं के समाधान के लिए एक **'मुस्लिम शिक्षण समिति'** (Muhammadan Educational Conference) की भी स्थापना की। उन्होंने इस समिति के द्वारा अनेक ऐसे मुसलमानों का सहयोग प्राप्त कर लिया, जो मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में लाने के लिए

उत्सुक थे और उसके लिए प्रयत्न करने के लिए तैयार थे। इन सबके फलस्वरूप अंग्रेजी के अनेक उपयोगी ग्रन्थों के अनुवाद द्वारा उर्दू-साहित्य सम्पन्न हुआ।

**सर सैय्यद अहमद और सामाजिक सुधार**—सर सैयद ने मुस्लिमों में प्रचलित पर्दा-प्रथा का विरोध किया। उन्होंने नारी-शिक्षा का प्रबल समर्थन किया। उन्होंने बाल-विवाह को रोकने का प्रयास किया। तथा मुस्लिम समाज में प्रचलित पद्धति का विरोध किया। उन्होंने इन सुधारों के पक्ष में जनमत तैयार करने के लिए **'तहजीब-उल-अखलाक'** नामक पत्रिका भी प्रारम्भ की थी। सर सैय्यद अहमद का दृष्टिकोण लौकिक था। वे 'अम्ल-ए-सालेह (सद्-कार्यों) का अर्थ संसार में रहकर अच्छे काम करना समझते थे। निरी मुक्ति व परलोक की चर्चा उन्हें अखरती थी। उन्होंने पवित्र 'कुरान' का उर्दू भाषा में भाष्य भी लिखा जिसमें नवीन विचारों के आधार पर कुरान का सही तात्पर्य स्पष्ट किया।

## 'अलीगढ़ आन्दोलन' का इतिहास व महत्व

**डॉ० के० एम० पणिक्कर**—ने लिखा है कि आरम्भ ही से अलीगढ़ आन्दोलन को अंग्रेजों का समर्थन मिल गया। सर सैय्यद ने ताड़ लिया कि अब समय उनके अनुकूल है और वह अपने साथ सहानुभूति रखने वाले अंग्रेजों की मदद से एक विद्यालय की संस्थापना करने में जुट गये, जहाँ शिक्षा पाकर मुस्लिमों में 'मिल्लत का जज्बा' (विशेष बिरादरी की भावना) पैदा हो सके।

सौभाग्यवश उन्हें प्रिंसिपल थ्योडोर बैक जैसा सहायक मिल गया जिसने उनके आदर्शों के प्रति सहानुभूति दिखायी और जी-जान से उनके कामों में जुट गया। उन्होंने अलीगढ़ में तबलीग (धर्म—प्रचार) व सामाजिक सुधार की भावना उत्पन्न कर दी। **सर सैय्यद के नेतृत्व में इससे दो बातें पूरी हो सकीं। "इसने आने वाली पीढ़ी में आंग्ल-मुस्लिम सहयोग की भावना कूट-कूटकर भर दी। जिससे दोनों पक्षों ने तत्काल लाभ उठाया; और उसने अलीगढ़ को पढ़े-लिखे मुस्लिम लोगों का एक उद्गमस्थल बना दिया। जिन्होंने आगे मैदान में आकर इस्लाम और मुस्लिम समाज के संगठन का मुस्तैदी से काम किया।**

'**अलीगढ़ आन्दोलन' भारत में इस्लाम के पुनरुत्थान का मूल कारण माना जा सकता है। इसके दो मुख्य महत्वपूर्ण परिणाम सामने देखने में आये।** पहला यह भारतीय इस्लाम के समेकलन की दिशा में पहला कदम साबित हुआ। भारत के विभिन्न भागों में बिखरी मुस्लिम जनसंख्या के लिए उसने एक केन्द्रिय संस्था का काम किया जहाँ उसे एक सामान्य बौद्धिक पृष्ठभूमि और सामान्य विचारधारा से परिचित होने का अवसर मिल गया। यह अलीगढ़ का ही आदमी था। जिसने भारत के कोने-कोने में मुस्लिम आन्दोलन का पथ-प्रदर्शन और नेतृत्व किया। दूसरा, अलीगढ़ ने उर्दू को भारतीय इस्लाम की राष्ट्र-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया। उर्दू तीन सौ वर्षों से भी अधिक काल तक यहाँ के सरकारी वर्गों की, चाहे वे हिन्दू हों, चाहे मुस्लिम, एक सामान्य भाषा बनी रही।

अलीगढ़ आन्दोलन का प्रतिबिंब शीघ्र ही सभी प्रान्तों और देशी रियासतों में पड़ने लगा। हैदराबाद (दक्किन), भोपाल और अन्य मुस्लिम रियासतें अपनी नौकरियों में मुस्लिम आंग्ल-ओरियंटल कालेज के स्नातकों को भरती करने लगीं। प्रत्येक नगर में अंजमुनें (संस्थायें) स्थापित हुईं जहाँ अलीगढ़ के सिद्धांतों का प्रचार होने और उर्दू को प्रोत्साहन मिलने लगा। इसी समय भारत में मुस्लिम समाचार पत्रों की, विशेषकर उर्दू में, वृद्धि हो चली।

इस तरह 'अलीगढ़ आन्दोलन, ने भारतीय मुसलमानों की शिक्षा, सामाजिक व आर्थिक प्रगति और आधुनीकीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। धीरे-धीरे भारतीय मुसलमान भी उस प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हुए जिसका अनुकरण हिन्दू पहले ही कर रहे थे। **जो कार्य भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और हिन्दू सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दुओं के लिए किया, वही कार्य अलीगढ़-आन्दोलन ने भारतीय मुसलमानों के लिए किया। इस आन्दोलन ने मुस्लिम सम्प्रदाय को अकर्मण्यता और निराशा से बचाया तथा उसे मध्य-युग से आधुनिक-युग में लाने में सफलता दिलायी।**

**सैय्यद अहमद के कार्यों का मुल्यांकन**—इसे सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि मुस्लिम जाति की शिक्षा, समाज-सुधार और जागृति के लिए जो कार्य सर सैय्यद अहमद खाँ ने किया वह अभी तक किसी भी अन्य भारतीय मुसलमान ने नहीं किया था। उन्होंने मुस्लिम समाज और धर्म में सुधार करके उन्हें आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने ही मुसलमानों को पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता के सम्पर्क में लाकर उन्हें प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न किया। अपने इस लक्ष्य में उन्होंने सफलता भी प्राप्त की।

**डॉ० के० एम० पणिक्कर** के शब्दों में, "वास्तव में, इस बात का श्रेय सर सैय्यद खाँ को दिया जाएगा कि उन्होंने भारतीय इस्लाम को विघटन ही से नहीं बचाया प्रत्युत् उसे एक पीढ़ी के भीतर ऊँचा उठाकर एक महत्त्वपूर्ण आसन पर बैठा दिया और उसे असंदिग्ध रूप से प्रभावशाली बना दिया।" सर सैय्यद के विचारों और अलीगढ़ आन्दोलन के फलस्वरूप ही भारतीय मुसलमानों की नींद टूटी और उनमें नई जागृति और आशा की किरण उत्पन्न हुई। इस तरह, बीसवीं शताब्दी के शुरू में, मुस्लिम समाज में सामाजिक व राजनैतिक चेतना का उदय हो गया और वह भी अन्य देशवासियों के साथ प्रगति के पथ पर आगे बढ़ चला।

---

# 9

# तिलक और टैगोर का सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व

(Social and Cultural Significance of Tilak and Tagore)

I तिलक का राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान
II लोकमान्य तिलक की उपलब्धियाँ
III बंगला साहित्य को टैगोर की देन
IV विश्व कवि टैगोर की उपलब्धियाँ

## I. वाल गंगाधर तिलक का राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान

"वे बहुत ही वुद्धिमान और दृढ़ विश्वासों के व्यक्ति थे। उन्हें स्वतंत्रता सब बातों से अधिक प्यारी थी। वे अपने देश की स्वतंत्रता के लिए सब कुछ वलिदान करने को तैयार थे। मुझे इस बात में सन्देह नहीं कि इतिहास में उनको आधुनिक भारत के महान् राजनीतिज्ञ के रूप में स्थान दिया जायेगा"।

रेम्जे मेकडोनल्ड
( 1920 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री

वाल गंगाधर तिलक ने भारत में राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने तथा स्वतंत्रता-संघर्ष संचालन में निभय होकर नेतृत्व दिया, वह स्मरणीय है। भारत की जनता पर, उनके समय में जितना प्रभाव तिलक का था, उतना किसी भी अन्य राजनेता का न था।

**संक्षिप्त जीवन परिचय**—वाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 ई० को महाराष्ट्र के चिरवल ग्राम में हुआ था। प्रारम्भ से ही वाल गंगाधर का जीवन उदीयमान रहा और उन्होंने गणित के क्षेत्र में अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। उन्होंने वी.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण कर अपने मेघावी छात्र होने का परिचय दिया। सन् 1879 में उन्होंने एल. एल. वी. की कानूनी डिग्री प्राप्त की। उन्होंने सन् 1880 में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और अंतिम क्षण ( 19.0 ई० में अपनी मृत्यु ) तक वह सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय रहे। इस 40 वर्ष के सार्वजनिक जीवन में इन्होंने राष्ट्रीय-उत्थान के लिए विभिन्न कार्य किए जिनके फलस्वरूप इनका नाम भारतीय इतिहास में सदैव स्मरण किया जायेगा।

**तिलक की उग्र-राष्ट्रवादी विचार धारा**—तिलक उग्र-राष्ट्रवाद के समर्थक थे उनका राष्ट्रवाद अकर्मण्यवादिता का राष्ट्रवाद नहीं था। वे तो स्वयं कर्म में विश्वास करते थे और साथ ही राष्ट्र को कार्य करने को प्रेरित करते रहते थे उनकी वाणी में बहुत अधिक असर था। वे केवल बात करना नहीं, कार्य करना जानते थे वे राष्ट्र को निर्भय एवं शक्तिशाली तथा संगठित देखना चाहते थे। वे कांग्रेस की तत्कालीन नरम-विचारधारा के विरोधी थे और यह मानते थे कि केवल प्रस्तावों को पारित करने से देश को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होगी। केवल धारा सभाओं में चुने जाकर तथा वहाँ विरोध करते रहना सही मार्ग नहीं है। उनकी मान्यता थी कि अंग्रेजी सरकार भारत की जनता के साथ कभी न्याय नहीं कर सकती। अस्तु, वह चाहते थे कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को और अधिक वास्तविक नीति अपनानी चाहिए और उसे वैधानिक जन आन्दोलन शुरू करना चाहिए।

तिलक की यह मान्यता थी कि भारतवर्ष एक महान् राष्ट्र है। उसका अतीत गौरवमय है, परन्तु ऐसे देश पर अंग्रेजी शासन का कुप्रभाव है। अत: वे संघर्ष करके स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे। उनका मूल मंत्र स्वावलम्बन ही था। उनकी मान्यता थी कि स्वतंत्रता अपने आप नहीं आ सकती बल्कि उसे अंग्रेजों से घोर संघर्ष करके प्राप्त करना होगा। इसलिए, लोकमान्य तिलक ने ही सर्वप्रथम सार्वजनिक रूप से यह उद्घोष किया था कि—**"स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और हम उसे प्राप्त करके रहेंगे।"**

**तिलक द्वारा कांग्रेस संगठन में जाग्रति**—1900 के बाद तिलक ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सक्रिय रूप से भाग लेना शुरू किया। उन्होंने वहाँ कार्य करते हुए उसके स्वरुप और ध्येय को बदलने का प्रयास किया। उस समय कांग्रेस में उदार वादी-नरमदली भारतीय नेताओं की प्रधानता थी। उनको अंग्रेज-शासकों की न्याय प्रियता में विश्वास था और वे सोचते थे कि यदि वे प्रार्थना पत्रों के रूप में अपनी माँग सरकार के सामने पेश करेंगे तो वे उन्हें अवश्य स्वीकार करेंगे इन उदार नेताओं में फिरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, और रास बिहारी घोष प्रमुख थे। उनकी यह मान्यता थी कि समय आने पर जब भारतवासी स्वराज्य को पाने योग्य हो जायेंगे, तब अंग्रेज-शासक स्वत: उन्हें स्वतंत्रता प्रदान करके यहाँ से लौट जायेंगे परन्तु कांग्रेस की प्रार्थना-पत्रों की नीति से अंग्रेज सरकार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और वे पहिले की तरह शासन में मनमानी करते रहे। इसके प्रतिक्रिया स्वरुप भारत में इस भावना का जन्म हुआ कि स्वराज्य मांगने से नहीं बल्कि संघर्ष से प्राप्त होगा। संवैधानिक आन्दोलन से भारत के जागरुक नागरिकों का विश्वास उठ गया। संघर्ष द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने की भावना को प्रोत्साहित करने वालों में लोकमान्य तिलक प्रमुख व्यक्ति थे।

लोकमान्य तिलक कांग्रेस के नरमदली नेताओं की नीति से असन्तुष्ट थे। उन का तो स्पष्ट लक्ष्य भारत में राजनीतिक स्वराज्य की प्राप्ति था। उसे प्राप्त करने के लिए वे संघर्ष, त्याग व बलिदान का मार्ग अपनाना चाहते थे अतएवं तिलक ने, 1905 में पंजाब के लाला लाजपतराय यथा बंगाल के विपिन चन्द्रपाल जैसे मुखर और साहसी नेताओं के सहयोग से कांग्रेस में एक उग्र-विचारों वाला दल संगठित किया इस गर्म दल का कार्यक्रम अंग्रेजी सरकार से संघर्ष करने का था। तिलक अपने समाचार पत्र 'केसरी तथा मराठा और विपिनचन्द्र अपने समाचार पत्र में न्यू इण्डिया के द्वारा निरन्तर इसी प्रकार के विचारों का प्रचार कर रहे थे। नर्म दल की तरह उनका लक्ष्य अंग्रेजी की आधीनता में स्वशासन प्राप्ति न था बल्कि वे 'पूर्ण स्वराज्य' को अपना लक्ष्य मानते थे। परन्तु तब भी गर्म दल का तरीका हिंसात्मक न था। वे सरकार से अहिंसात्मक विरोध करना चाहते थे।

**उग्र–दल और कांग्रेस का सूरत–विभाजन** —(1907 ई०) कांग्रेस में नर्म दल और गर्म दल के नेताओं के मतभेद बढ़ते ही गये। सन् 1906 में कांग्रेससभापति दादाभाई नौरोजी की कुशलता के कारण दोनों दलों में उस वर्ष सीधा संघर्ष होने से रुक गया। लेकिन 1907 के सूरत अधिवेशन के अवसर पर दोनों दलों में खुला संघर्ष हो गया। उस वर्ष सभापति के पद के लिए रासबिहारी बोस चुने गये जबकि गर्म दल वाले बाल गंगाधर तिलक को सभापति बनाना चाहते थे। इसी कारण दोनों में खुला संघर्ष हो गया। इस पर तिलक तथा उनके साथी कांग्रेस से अलग हो गये। परन्तु कांग्रेस से अलग हो जाने पर भी तिलक का सम्मान पूर्ववत् रहा और वे निरन्तर अपने संघर्षवादी विचारों का प्रचार करते रहे।

**तिलक को राजद्रोह में कारावास** –सन् 1905 में बंगाल के विभाजन कर दिये जाने के विरोध में, देश भर में आन्दोलन किया गया। तिलक के प्रयत्नों से राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ और बंगाल में 7 अगस्त को अंग्रेजी शासन नीति विरोध दिवस मनाया गया। शीघ्र ही उग्र विचार धारा देश की प्राण बन गयी। युवकों में असंतोष की अग्नि भड़क रही थी। अंग्रेज अधिकारियों की हत्याओं का तांता लग गया। खुदीराम बोस ने मुजफ्फरपुर के अंग्रेज सेशन जज पर बम फेंक कर हत्या कर दी, तो एक अन्य क्रांतिकारी युवक ने ढ़ाका के अंग्रेज कलक्टर को मौत के घाट उतार दिया।

ऐसे समय महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक के संपादन में अंग्रेजी दैनिक समाचार पत्र 'मराठा' और मराठी दैनिक 'केशरी' ब्रिटिश शासन के अन्यायों के विरोध में आग उगल रहे थे। परेशान व भयभीत होकर अंत में अंग्रेज सरकार ने राजद्रोह का अपराध लगाकर तिलक को गिरफ्तार कर लिया अंग्रेज न्यायाधीश ने उन्हें राजद्रोह फैलाने के अपराध में छः वर्ष की सजा सुना दी। इसके कारण लोकमान्य तिलक को सन् 1908 से 1914 तक बर्मा के माण्डले कारावास में रहना पड़ा जेल में ही तिलक को सूचना मिली कि उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। परन्तु उस महान आत्मा ने कभी दीनताकी भावना प्रदर्शित करके क्षमा मांगने का प्रयत्न नहीं किया।

**होम–रूल–लीग की स्थापना** – 1914 में तिलक जेल से छूटकर वापस आ गये। उन्होंने पुनः राष्ट्रीय जीवन में सक्रिय भाग लेने का निश्चय किया और "होम रूल–लीग" की स्थापना की। उसी प्रकार श्रीमती एनीवेसेन्ट ने भी एक 'होम-रूल लीग' की स्थापना की। वाद में ये दोनों संस्थाएं मिलाकर एक करदी गयीं। इस लीग का उद्देश्य आयरलेन्ड की भांति भारत के लिए स्वशासन प्राप्त करना था। 1916 में एनीवेसेन्ट के प्रयत्नों से कांग्रेस के दोनों दलों गर्म दल और नर्म दल को मिलाने का प्रयत्न किया गया। और उन्हें इस कार्य में सफलता प्राप्त हुई। 1916 लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में श्री तिलक ने भाग लिया। इस अधिवेशन में गर्म व नर्म दोनों गुटों ने मिलकर भारत के लिए स्वायत्त शासन की माँग की उसी समय से कांग्रेस में गर्म दल वालों का प्रभाव बढ़ता गया।

**कांग्रेस व मुस्लिम लीग को निकट लाना**—सन् 1916 के लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता कराने में श्री तिलक ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसीसे उनके असाम्प्रदायिक एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता के सच्चे स्वरूप को जाना जा सकता है। यह ' लखनऊ समझौता ' के नाम से विख्यात है।

**राष्ट्रीय आंन्दोलन में तिलक के अंतिम वर्ष**—सन् 1919 के सुधार अधिनियम के संवंध में लोकमान्य तिलक ने इंगलैण्ड जाने वाले कांग्रेस प्रतिनिधि मंण्डल का नेतृत्व किया। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के वाद होने वाले 'पेरिस शांति सम्मेलन' में तिलक ने एक स्मरण-पत्र भेजकर भारत के लिए आत्म निर्णय की मांग की थी। इधर भारत में अंग्रेजी शासन के निरन्त रप्रयत्नों के वावजूद भी क्रांतिकारी आन्दोलन समाप्त न हो सका था। इस कारण भारतीय नागरिकों को सन्तुष्ट रखना अत्यन्त आवश्यक समझा गया और इस आशय से भारत मंत्री **मोन्टेग्यू** ने ब्रिटिश संसद में एक घोषणा की कि "सम्राट की सरकार की नीति है कि शासन के प्रत्येक भाग में भारतीयों से अधिकाधिक सहयोग लिया जाय और भारत में ब्रिटिश स्वशासित संस्थाओं का क्रमिक विकास किया गया" परन्तु यह सब शब्द-जाल ही सिद्ध हुआ।

अस्तु अंग्रेजी शासन पर दवाव डालने के लिए तिलक ने कांग्रेस के सामने विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार, सरकारी नौकरियों तथा उपाधियों के त्याग करने आदि के कार्य क्रमों को रखा जिससे स्वराज्य आन्दोलन एक जन आन्दोलन का रूप धारण कर सका। सन 1920 में लोकमान्य तिलक का असामयिक स्वर्गवास हो गया। इस तरह लोकमान्य तिलक ने अपने 40 वर्ष के सार्वजनिक जीवन में समस्त क्षेत्रों में विशेषत : स्वतंत्रता संघर्ष में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। महात्मा गांधी भी तिलक के सम्पर्क में आये तथा उन्होंने ही तिलक को सर्व प्रथम वार 'लोकमान्य' कहकर अपना सम्मान प्रकट किया था।

**निष्कर्ष : तिलक का राजनैतिक दर्शन**—लोक मान्य तिलक कार्य करने में विश्वास रखते थे। गीता का कर्मवाद उन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह उतार लिया

था। इसी जीवन दर्शन को उन्होंने अपने राजनैतिक जीवन का आधार बनाया। इसी विचार धारा के कारण तिलक अपने जीवनकाल में एक सफल राजनेता सिद्ध हुये। उनकी निर्भीक वाणी, ओजस्वी स्वरूप तथा दूरदर्शिता ने भारतीय जनता का तीस वर्ष तक नेतृत्व किया। यह उनके ही प्रयत्नों का परिणाम था कि कांग्रेस के प्रस्ताव पारित करने का तथा नरमी से निवेदन करते रहने का रुख छोड़कर भारत में पूर्ण स्वराज्य की स्थापना की खुलकर जोरदार शब्दों में मांग करना शुरु की और उसकी प्राप्ति के लिए जोरदार आन्दोलन चलाये। यह भी कहा जाता है कि लोकमान्य तिलक महात्मा गांधी के अग्रज थे। जो कुछ बाद में गांधीजी ने किया वह तिलक पहले ही शुरु कर चुके थे। विदेशी माल का बहिष्कार, असहयोग, सरकारी नौकरियों व अदालतों का त्याग आदि यह सभी तिलक के नेतृत्व में हो चुका था। सारांश में, लोकमान्य तिलक देश भर में लोकप्रिय जन-नेता थे। उनका आदर्श एवं त्याग देश के युवकों के लिए प्रेरणा का श्रोत बना रहेगा। " वास्तव, में स्वतंत्रता आन्दोलन की आधार शिला रखने का श्रेय तिलक को ही है "।

## II. लोकमान्य तिलक की उपलब्धियां

**" सचमुच, बाल गंगाधर तिलक भारत के राजनीतिक तथा सार्वजनिक क्षेत्र में अद्वितीय महापुरुष थे। "**

**—मोहम्मद अली जिन्ना**

आधुनिक भारत में बाल गंगाधर तिलक ने हमारे देश के सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होने देश में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत किया तथा स्वतंत्रता-संघर्ष में निर्भय होकर नेतृत्व किया, वह अस्मरणीय है। भारत की जनता पर उनके समय में जितना प्रभाव तिलक का था, उतना किसी भी अन्य राजनेता का न था।

**शिक्षा-क्षेत्र में योगदान**—बाल गंगाधर तिलक का सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ एक शिक्षाविद् के रूप में शुरू हुआ। उन्होंने अपने साथी विष्णुशास्त्री के सहयोग से 1 जनवरी, 1880 ई० को एक विद्यालय की 'न्यु इंगलिश स्कूल' के नाम से स्थापना की। श्री तिलक महाराष्ट्र भर में स्कूलों का जाल बिछाना चाहते थे जिसके लिए 1884 ई० में पूना में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया। इस सभा में शिक्षा के विकास के उद्देश्य को पूरा करने के लिए **'दक्षिण शिक्षा समाज'** स्थापित करने का फैसला किया गया। सर्व-साधारण ने इस शिक्षण-समिति को हार्दिक समर्थन दिया। इसके प्रयत्नों के फलस्वरूप 2 जनवरी, 1885 ई० को पूना में **'फर्ग्युसन कालेज'** की नींव रखदी गई। इस तरह, अपने अथक परिश्रम से श्री तिलक ने महाराष्ट्र में एक शैक्षणिक क्रान्ति उत्पन्न करदी। सारांश में, श्री तिलक ने सन् 1880 तक अपना सारा समय 'पूना सार्वजनिक सभा' और 'दक्षिण शिक्षा समाज' के कार्यो में लगाया।

**पत्रकार के रूप में योगदान**—यद्यपि बाल गंगाधर तिलक ने अपना सार्वजनिक जीवन एक अध्यापक एवं शिक्षाविद के रूप में प्रारम्भ किया था, परन्तु वे शीघ्र ही पत्रकारिता के क्षेत्र में कूद पड़े। वास्तव में, तिलक की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे भारत में जन-जागृति के विभिन्न साधनों को विकसित करना चाहते थे। अस्तु, उन्होंने उनमें एक साधन पत्रकारिता को भी चुना। उन्होंने अपने क्रान्तिकारी विचारों को जन-साधारण तक पहुँचाने के लिए अंग्रेजी भाषा में **'मराठा'** और मराठी भाषा में **'केसरी'** नामक समाचार पत्रों का सम्पादन आरम्भ किया। 'मराठा' का प्रथम अंक 2 जनवरी, 1881 ई० को तथा 'केसरी' का 4 जनवरी, 1881 को प्रकाशित हुआ।

श्री तिलक ने अपने स्पष्ट एवं उग्रलेखों द्वारा जन-साधारण को स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया, जनता में आत्मविश्वास, बहादुरी और साहस की भावना का अभूतपूर्व संचार किया। इन समाचार-पत्रों में प्रकाशित त्वे-लाग एवं देशभक्ति-पूर्ण लेखों से लोकमान्य तिलक अंग्रेज सरकार की आँखों में खटकने लगे। अगले वर्ष 1882 में ही एक मानहानि के मुकद्दमे में उन्हें फंसाकर चार माह की सजा दे दी गई। परन्तु इस जेल-यात्रा से श्री तिलक की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। अब उनकी वाणी और लेखों में और अधिक तीखापन पैदा हो गया। उन्होंने अंग्रेजी सरकार की पूरी तरह से खबर लेना शुरू कर दिया। उनकी उग्रता बढ़ती ही चली गयी और शीघ्र ही वे देश की उग्रवादी-क्रांतिकारी विचारधारा के अगुआ माने जाने लगे अब अंग्रेजी शासन बेचैन हो गया। सन् 1908 में जब श्री. तिलक सरकार के अन्यायपूर्ण कारनामों के विरोध में अपने संपादकीय में आग उगल रहे थे, उन्हें राजद्रोह के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया। उनपर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाने का नाटक कर उन्हें अंग्रेज जज ने 6 वर्ष की सजा सुना दी जिसके कारण सन् 1908 से 1914 तक बर्मा के माण्डले जेल में श्री तिलक को रहना पड़ा। फिर भी तिलक झुके नहीं।

**समाज सेवी के रूप में योगदान**—1886-97 ई० में दक्षिण भारत में एक भीषण अकाल पड़ा। अंग्रेजी राज्य सरकार ने इस भयंकर संकट के समय कोई विशेष सहायता न की, जिससे हजारों लोग मौत के शिकार हो गए। ऐसे समय, श्री तिलक ने सभी समाज-सेवियों के सहयोग से दुःखी जनता की भरसक सहायता की। उन्होंने अपने समाचार-पत्रों—'केसरी' और 'मराठा' में अंग्रेजी सरकार के निष्क्रिय प्रशासन की कटु आलोचना की। सन् 1897 में पूना में भयंकर प्लेग फैल गया जिससे हजारों लोगों की मृत्यु हो गई। सरकारी-उपेक्षा और चिकित्सा कुव्यवस्था की आलोचना करते हुए श्री तिलक ने आम जनता और किसानोंको निडरतापूर्वक कार्य करने की सलाह दी। अपने जीवन की परवाह न करके उन्होंने घर-घर जाकर जिस प्रकार से प्लेग से ग्रस्त रोगियों की सेवा की तथा अनाज एकत्रित करके अकाल पीड़ित भूखों की भोजन-व्यवस्था की, वह सभी के लिए एक आदर्श वस्तु है।

**समाज-सुधारक के रूप में योगदान**—समाज सुधार के सम्बन्ध में श्री तिलक की मान्यता थी कि समाज में वही सुधार करना चाहिए जो अधिक व्यावहारिक हो। वे इन सुधारों को अंग्रेजी सरकार के माध्यम से न कराकर समाज के लोगों से ही करवाना चाहते थे। इसलिए, उन्होने समाज में क्रमशः सुधार करने पर बल दिया। उनका विचार था कि समाज में शिक्षा और ज्ञान के प्रसार के साथ यह सुधार स्वाभाविक रूप से पनपने लगेंगे और समाज में उत्पन्न बुराइयाँ अपने आप दम तोड़ देंगी। तिलक देश में सामाजिक सुधारों से पहले राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय जागृति को आवश्यक मानते थे।

समाज-सुधार के क्षेत्र में श्री तिलक के निम्नलिखित प्रयास उल्लेखनीय हैं :

(1) **वाल-विवाह का विरोध**—तिलक वाल-विवाह को पसंद नहीं करते थे। उन्होंने मांग की थी कि विवाह की उपयुक्त अवस्था कन्या के लिए 16 वर्ष तथा लड़के केलिए 20 वर्ष रखी जानी चाहिए। (2) **दहेज-प्रथा की निन्दा**—उन्होंने हिन्दू समाज में व्याप्त दहेज की कुप्रथा की कटु निन्दा करते हुए उसे समाप्त करने की मांग की (3) **विधवा विवाह का समर्थन**— तिलक तत्कालीन समाज में विधवाओं की दयनीय अवस्था से क्षुब्ध थे। उनकी मान्यता थी कि 40 वर्ष की अवस्वा से अधिक अवस्था के पुरुष पुनर्विवाह नहीं करें और यदि वे विवाह करना चाहें तो केवल विधवाओं से करें। विधवा-स्त्रियों के मुंडन की प्रथा समाप्त की जाय तथा शुभ अवसरों पर विधवा स्त्रियों को हेय दृस्टि से न देखा जाय। (4) **अछुत्तोद्धार**—वे छूत-छात के खिलाफ और अछूत्तोद्धार के पक्ष में थे। उनका कहना था कि समस्त भारतीय एक भारत माता की संतान हैं।

## एक विद्वान के रूप में योगदान

श्री तिलक एक ख्याति प्राप्त उच्चकोटि के विद्वान थे। उन्होंने अपने जीवन काल में निम्नलिखित उच्चकोटि की रचनायें की : (1) **ओरियन**–इस ग्रंथ में उन्होंने आर्य सभ्यता का वर्णन किया है। उनके अनुसार ऋगवेद की कथाएँ 4000 ईसा पूर्व के समय का संकेत करती हैं। (2) **आर्कटिक होम इन वेदाज**–इस विद्वता पूर्ण ग्रंथ में तिलक ने आर्यो का मूल स्थान उत्तरी ध्रुव वताया है। (3) **गीत-रहस्य** लोकमांन्य तिलक की यह सवसे महत्त्वपूर्ण एवं सवसे प्रसिद्ध रचना है जिसे उन्होंने अपने छः वर्ष के कारावास काल (1908-14) में वर्मा के मांडले जेल में लिखा था। यह ग्रंथ मूल रूप से मराठी भाषा में लिखा गया था। इस ग्रंथ में उन्होंने 'कर्म' को सवसे ज्यादा प्रमुख स्थान दिया है। उनका कथन था कि मनुष्य चाहे पूर्णत्व के किसी भी स्तर पर पहुँच जावे वह कर्म से छुटकारा नहीं पा सकता, यथा–"**गीता संसार में ज्ञान व भक्ति द्वारा ईश्वर से पूर्णतः एकात्म होने के उपरान्त भी कर्म करने को प्रेरित करती है।**" गीता के कर्मयोग विषय में उनका कथन था कि देश में 'स्वराज्य' भी इसी पर अमल करने से प्राप्त हो सकता है।

## सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के विकास में योगदान

श्री बालगंगाधर तिलक पहले भारतीय राजनैतिज्ञ थे जिन्होंने देश में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के विचार का प्रवर्तन किया। तिलक राष्ट्र को शक्तिशाली और संगठित देखना चाहते थे। वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठा व गर्व की भावना को भारतीय राष्ट्रीयता का प्रमुख आधार बनाना चाहते थे। उनके द्वारा गणपति एवं शिवाजी उत्सवों को प्रोत्साहन देना इसी दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम था।

(1) **गणपति उत्सव : लक्ष्य**—श्री तिलक ने सामंतों द्वारा प्रचलित परम्परा को जन-साधारण का उत्सव बनाने का सफल प्रयास किया। इस उत्सव को राजनीतिक रंग देकर उन्होंने राष्ट्रीय उत्सव का रूप प्रदान किया। विभिन्न नगरों व ग्रामों में गणपति संस्थाएं शुरू की गईं जहाँ शारीरिक व्यायाम की व्यवस्था होती थी। गणपति के उत्सव पर जलूस भाषणों व सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन होता था। तिलक के अनुसार इसका प्रमुख उद्देश्य लोगों में वीरता तथा अनुशासन की भावना तथा मातृ-भूमि के प्रति प्रेम व संगठन को बढ़ावा देना था। धीरे धीरे यह महोत्सव महा-राष्ट्र भर में लोकप्रिय हो गया और इसमें सभी वर्गों के लोग सम्मिलित होने लगे।

(2) **शिवाजी–उत्सव: उद्देश्य**—श्री तिलक छत्रपति शिवाजी की गौरव गाथा तथा ऐतिहासिक पृष्ठि भूमि से अत्यधिक प्रभावित थे। वे शिवाजी को गीता के संदेश के अनुरूप, एक महान विभूति समझते थे। अस्तु सन् 1895 में रायगढ़ में शिवाजी के जन्म के उपलक्ष्य में वार्षिक उत्सव श्री तिलक की अध्यक्षता में मनाया गया। उन्होंने शिवाजी को राष्ट्रीयता का प्रतीक बताया। इस उत्सव के आयोजन के पीछे तिलक का प्रमुख उद्देश्य भारतवासियों में देश भक्ति एवं राष्ट्रीयता की प्रबल भावना का प्रसार करना था। **श्री तिलक** ने कहा था। "भाट की तरह गुणगान करने से स्वतन्त्रता नहीं मिल जायेगी। स्वतन्त्रता के लिए शिवाजी व बाजीराव की भांति साहसी कार्य करनें पडेंगें।"

**क्या तिलक साम्प्रदायिकता वादी थे?**—तिलक के कुछ आलोचकों ने उपर्युक्त दोनों उत्सवों को लेकर उनकी कटु आलोचना की है। विरोधियों ने तिलक को विशुद्ध हिन्दू साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञ तथा मुस्लिम-विरोधी के रूप में जनता के सामने प्रचारित किया। परन्तु, विरोधियों का ऐसा आरोप लगाना सत्य से परे है। वास्तव में, लोकमान्य तिलक असाम्प्रदायिक एवं महान् राष्ट्र सेवी थे। वे तो भारत में बसने वाले सभी धर्मों के लोगों का 'स्वराज्य' चाहते थे। सन् 1919 में भारतीय मुसलमानों द्वारा देश व्यापी छेडे गये 'खिलाफत आन्दोलन' को तिलक का हार्दिक समर्थन प्राप्त था। खिलाफत के शीर्ष-नेता अली बन्धुओं की रिहाई का प्रस्ताव कांग्रेस सम्मेलन में श्री तिलक ने ही प्रस्तुत किया था। उनके अनेक मुस्लिम अनुयायी और समर्थक थे। तिलक तो हिन्दू व मुसलमानों दोनों का ही समान रूप से ही हित चाहते थे। सभी ने तिलक की देश भक्ति एवं राष्ट्रीय विचारों की प्रशंसा की है।

## तिलक का राष्ट्रीय आन्दोलन में महान् योगदान

भारत में लोकमान्य तिलक ही वह नेता थे जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के समय भारत को राष्ट्रवाद का सही सिद्धांत सुझाया। "जब भारत में वास्तविक राजनीतिक जाग्रति हुई, तो सर्व प्रथम बाल गंगाधर तिलक ने ही स्वराज्य की आवश्यकता एवं उसके लाभों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। श्री तिलक ने ही सर्व प्रथम विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार स्वदेशी वस्तुओं के प्रति अनुराग, राष्ट्रीय शिक्षा, जन-प्रिय संयुक्त राजनीतिक मोर्चे आदि के सशक्त आन्दोलन के तरीकों की खोज की। बाद में इन्हीं के द्वारा स्वराज्य के लक्ष्य को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण सहायता मिली वस्तुतः स्वातन्त्र्य आन्दोलन की आधार शिला रखने का श्रेय तिलक को ही है।

**निष्कर्ष**—इस तरह तिलक का सभी क्षेत्रों में महान् योगदान रहा। वास्तव में, देश तिलक जैसे महान् नेता को पाकर धन्य हो गया।

**डॉ. आर. सी. मजूमदार** ने लिखा है, "अपने देश प्रेम तथा अथक प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप बाल गंगाधर तिलक 'लोकमान्य' कहलाये जाने लगे और उनकी एक देवता के समान पूजा होने लगी। वह जहाँ भी जाते थे, उनका राजकीय सम्मान तथा स्वागत किया जाता था"। सी. आई. **चिन्तामणि**, के अनुसार **"स्वतन्त्रता प्राप्ति तिलक के जीवन का चरम लक्ष्य था, जब कभी वे किसी बात पर तत्पर हो जाते थे, तो फिर पीछे हटना उनके लिए असम्भव था। उन्होंने अपने विचारों और कार्यों के लिए समकालीन राजनीतिज्ञों में सबसे अधिक कष्ट सहन किये।"** राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार करने में उनके समान योग्यता उस समय के किसी भी राजनीतिज्ञ में दिखाई नहीं देती। **वेलैन्टाईल शिरोल** ने ठीक ही लिखा है कि **"यदि कोई व्यक्ति 'भारतीय चेतना का जनक' होने का दावा कर सकता है। तो वह बाल गंगाधर तिलक है।"** अंत में, **श्री अरविन्द** के शब्दों में कहा जा सकता है, "श्री तिलक का नाम राष्ट्र-निर्माता के रूप में आधी दर्जन महानतम राजनीतिक पुरूषों, स्मरणीय व्यक्तियों, भारतीय इतिहास के इस संकटमय काल में राष्ट्र के प्रतिनिधि व्यक्तियों में होने के नाते सदा अमर रहेगा। और इसे लोग तब तक कृतज्ञता पूर्वक स्मरण रखेंगे, जब तक कि देश में अपने भूतकाल पर अभिमान और भविष्य के लिए आशा बनी रहेगी।"

# रवीन्द्रनाथ टैगोर [1861-1941 ई०]

का

## सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्व

"बुद्ध, व्यास, वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास आदि के रूप में जो भारतीय प्रतिमा समय-समय पर प्रस्फुटित होती रही हैं, वही जाज्वल्यमान भारतीय प्रतिभा रवीन्द्रनाथ के रूप में प्रकट हुई।"

—प्रो० सिल्वन लेवी

टैगोर का साहित्य न केवल भारत का किन्तु विश्व का अमूल्य भण्डार बना। टैगोर भारतीय साहित्य की लगभग पूरी एक शताब्दी का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपनी विविध रचनाओं में उन्होंने अपने युग की समस्त प्रवृत्तियें तथा शैलियों का समावेश किया है। डॉ० **श्रीकुमार बनर्जी** ने लिखा है कि, "कवि के रूप में वे भारतीय संस्कृति के कदाचित् अंतिम प्रतिनिधि हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र एकाधार में दार्शनिक, वक्ता, लेखक, उपन्यासकार, नाट्यकार, सुकवि और अच्छे अध्यापक हुए हैं। आप अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को जब जिस ओर लगाते, वहीं वह अपना कमाल दिखा देती थी।

**संक्षिप्त जीवन परिचय**—रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 6 मई, 1861 ई० को कलकत्ता में, बंगाल के एक संभ्रान्त ब्राह्मण परिवार में हुआ था, इनके पिता का नाम देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा माता का नाम शारदा देवी था। यह परिवार बड़ा ही सुसम्पन्न, सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत था। इनके पिता एक बड़े जमींदार थे। ठाकुर का ही अंग्रेजी में रूपान्तर 'टैगोर' हुआ। सन् 1883 में मृणालिनी देवी नामक कन्या से रवीन्द्रनाथ का विवाह हुआ। रवीन्द्रनाथ की शिक्षा अधिकतर घर पर ही हुई। साहित्य, संगीत तथा दर्शन से उन्हें बाल्यकाल से ही बड़ा प्रेम था। बंगाल के सुरम्य प्राकृतिक दृश्यों का भी इनके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। आपके ज्येष्ठ भ्राता द्विजेन्द्रनाथ अच्छे विद्वान थे। उनसे आपको बहुत कुछ सीखने को मिला। इनके दूसरे भाई सत्येन्द्रनाथ भारतीय लोक सेवा (I C S.) में उत्तीर्ण होने वाले प्रथम भारतीय थे। सन् 1878 में रवीन्द्रनाथ पहली बार इंग्लैण्ड गये और वहाँ उन्होंने अंग्रेजी साहित्य का भलीभाँति अध्ययन किया।

सारांश में, टैगोर एक सच्चे देश भक्त एवं राष्ट्रवादी विचारधारा के व्यक्ति थे। ऐसे महान्, दूरदर्शी, साहित्य-सेवी, समाज एवं राष्ट्र-प्रेमी, मनीषी की जीवन-ज्योति 9 अगस्त, 1941 को सदा के लिए बुझ गई।

## III. बंगला साहित्य को कवि टैगोर की देन

रवीन्द्रनाथ के जीवन के साथ बंग-भाषा का बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है, दोनों के प्राण जैसे एक हों। रवीन्द्रनाथ के उदय के बाद ही बंग-साहित्य का परिपूर्ण विकास हुआ। उन्होंने साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक, ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी समस्त विषयों पर रचनाएँ की हैं।

**प्रारम्भ से ही कविता की ओर झुकाव**—बाल्यकाल से ही रवीन्द्रनाथ ने बंगला भाषा में कविताएँ लिखना शुरू कर दिया था। टैगोर ने जब पहली कविता लिखी तब उनकी उम्र केवल सात वर्ष की थी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में तो उनकी कवितायें 'भारती' पत्रिका में प्रकाशित होने लगी थीं। उनकी सर्व प्रथम कृति **'कवि कथा'** के नाम से प्रकाशित हुई थी। दूसरा काव्य संग्रह 'बनफूल' के नाम से प्रकाशित हुआ। शीघ्र ही उनका खण्ड काव्य 'गाथा' भी प्रकाशित हो गया। बीस

वर्ष की उम्र होते-होते उनके साहित्य ने वंगला में अपना स्थान वना लिया और उनकी गिनती अच्छे साहित्यकारों में होने लगी।

काव्य रचना में इन्हें उपनिषदों, प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य विशेषतः कालिदास तथा वंगला साहित्य के वैष्णव गीतों, हिन्दी के संत साहित्य तथा वंगाल के ग्रामीण गीतों से वड़ी प्रेरणा मिली। **उनकी आजीवन साहित्यिक-साधना के फलस्वरूप वंगला साहित्य अपनी कीर्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच गया।**

**टैगोर महाकवि के रूप में**—रवीन्द्र वावू की साहित्यिक प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। परन्तु, **उनका काव्य सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ। अतः साहित्यिक जगत में वे कवी के रूप में अधिक विख्यात हैं। इनकी काव्य रचनाओं में प्रकृति-प्रेम तथा आध्यात्मिकता का स्पष्ट प्रभाव झलकता है।**

17 वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते टैगोर ने अनेक कविताएँ लिख डालीं। इनके गीतों में वंगला भाषा का नवीन रूप प्रकट हुआ। उनकी अधिकांश रचनायें नई शैली में लिखे हुए प्रेमगीत थे। इनका प्रथम गीत संग्रह **'सांध्य-गीत'** के नाम से प्रकाशित हुआ। रवीन्द्र के ये गीत वैष्णव कवियों के काव्य से प्रभावित थे। इसी तरह एक काव्य संग्रह **'प्रभात-संगीत'** रचा गया। इस पर अंग्रेजी कवि 'शैली' का प्रभाव प्रतीत होता है। यद्यपि प्राचीन ढर्रे के कवियों ने इनकी काव्य रचनाओं की आलोचना की, किन्तु नवीन शिक्षित वंगाली वर्ग ने इनका स्वागत किया। **'छवि ओ गान'**—नामक अन्य कविता संग्रह तथा **'कड़ि ओ कोमल'** काव्य ग्रन्थ के उपरांत उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **'मानसी'** प्रकाशित हुआ। **'सोनातरी'** सीरीज की कविताएँ इसके वाद लिखी गईं। इनकी अधिकांश कविताएँ सौन्दर्य और शैली की दृष्टि से उच्चकोटि की हैं।

## गीतांजलि पर नोवल पुरस्कार : विश्व कवि

रवीन्द्रनाथ टैगोर की सर्व श्रेष्ठ काव्य रचना 'गीतांजलि' सन् 1909 में वंगला भाषा में प्रकाशित हुई। यह रवीन्द्र के आध्यात्मिक भावों से ओत-प्रोत गीतों का अनुपम संकलन था। इस रचना ने वास्तव में कवि का नाम विश्व में अमर कर दिया। इस काव्य को जव सी एफ. एन्ड्रयूज ने सुना तो वे इस पर इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने कवि से इसका अंग्रेजी अनुवाद करने का आग्रह किया। उन्हीं की प्रेरणा से रवीन्द्र वावू ने इसका अंग्रेजी अनुवाद किया। जिसने इस ग्रन्थ की ख्याति दूर-दूर तक फैलादी।

विभिन्न पाश्चात्य देशों के साहित्यिक पत्रों में इस ग्रन्थ की चर्चा हुई। तथा यूरोप की अनेक साहित्यिक संस्थाओं ने इस ग्रन्थ को नोवल पुरस्कार के योग्य वतलाया। "उसमें जो अद्भुत दार्शनिक तथा आध्यात्मिक भाव भरे हुए थे, उनके आगे सभी श्रद्धा के साथ नत मस्तक हुए। इस विश्व श्रद्धा को पाकर रवीन्द्र भारत के महापुरुष प्रसिद्ध हुए।"

गीतांजलि की अभ्यांतरिक गहराइयों, काव्य सौष्ठव, भाषा की प्राञ्जलता एवं विचारों की नवीनता के कारण ही इस महान् ग्रन्थ को नोबल पुरस्कार के योग्य ठहराया गया। सन् 1913 में नोबल पुरस्कार समिति ने यह पुरस्कार टैगोर को उनकी रचना 'गीतांजलि' पर प्रदान किया। इसके फलस्वरूप रवीन्द्र बाबू का नाम तो विश्व भर में फ़ैला ही, साथ ही भारत का नाम भी ऊँचा हो गया। साहित्यिक के क्षेत्र में भारत को प्रथम बार यह विख्यात पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

इसके साथ ही गीतांजलि के देश और विदेशों की अनेक भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हुए। अनेक देशों ने कवि को सादर आमंत्रित करके इनका सम्मान किया भारत सरकार ने भी आपको 'नाइट', 'सर' आदि सर्वोच्च उपाधियों से विभूषित किया।

**टैगोर—एक सफल गद्य लेखक के रूप में**—बंगला कविता के अतिरिक्त उन्होंने लेख, उपन्यास, कहानियां और नाटक भी लिखे।

वे पाश्चात्य साहित्य तथा संस्कृति से भी भलि-भाँति परिचित थे। फिर भी अपने विचारों, वेष-भूषा, संस्कृति आदि में भी वे पूर्णतया भारतीय थे, किन्तु इंग्लैण्ड निवासियों अर्थात् अंग्रेजो की कर्मठता, सच्चाई व आधुनिक दृष्टिकोण से वे अत्यधिक प्रभावित हुए।

रवीन्द्र बाबू ने आरम्भ से ही साहित्य की विभिन्न विधाओं में लिखना आरम्भ किया था। यूरोप से लौटने के पश्चात् उन्होंने अपनी यात्रा का वृतान्त **'भारती'** पत्रिका में प्रकाशित करवाया। उनका **'करुण'** नामक उपन्यास तथा **'भग्न हृदय'** नामक पद्य-वद्य नाटक भी प्रकाशित किया गया। इन दोनों ही रचनाओं में टैगोर ने मानव-जाति के प्रति अपनी करूणा और वेदना को व्यक्त किया।

**उपन्यास-साहित्य**—रविन्द्रनाथ टैगोर के उपन्यासों में समकालीन सामाजिक स्थिति विशेषतः उच्च मध्यम वर्ग के लोगों का जीवन चित्रित है। मध्यम वर्ग के लोगों की मनोदशा, सामाजिक समस्याओं का सुन्दर चित्रण इनके उपन्यासों में मिलता है। राष्ट्रीय समस्याओं पर भी इनमें अच्छा प्रकाश डाला गया है। सन् 1901 से 1907 के मध्य उन्होंने अपना प्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' सम्पूर्ण किया। इनके द्वारा रचित अन्य उल्लेखनीय उपन्यास हैं—करूणा, वहू, ठकुरानी हाट, राजर्षि, चार अध्याय, आँख की किरकिरी, नौका डूर्वा आदि।

**कहानी-साहित्य**—कथा-क्षेत्र में भी टैगोर ने अत्यधिक कुशलता का परिचय दिया। इन्होंने अनेक उच्च कोटि की कहानियाँ लिखीं। वास्तव में, लघु कथाएँ लिखने का प्रारम्भ बंगला साहित्य में रविन्द्रनाथ टैगोर से ही शुरू हुआ। इनकी कहानियों में भारतीय जीवन का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'काबुलीवाला' इसका ज्वलंत उदाहरण है। उनके अनेक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

**नाटक-साहित्य**—नाटक रचना में भी रवीन्द्र बाबू की गति अबाध थी। इन नाटकों में अनेक नाटक दुखांत ही हैं। फिर भी, काव्य में प्रकृति-प्रेमी और चिन्तन-शील कवि, नाटक लिखते समय अपनी भावनाओं को इस धरती पर उतार लाया है। 'नलिनी' में उन्होंने अपनी इस करुणा को स्वरूप प्रदान कर दिया है। 'मायार खेल' में भी उन्होंने मानवीय कष्टों का जो निरुपण किया है, वह अद्वितीय है। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'डाक घर' 'चांडालिका'' चित्रांगदा' 'नदी की पूजा' 'राजा' तथा 'रक्त कारगी' आदि अनेक नाटक और नाटिकाएँ लिखीं। सौन्दर्य के दृष्टिकोण से 'चित्रा' तथा ' उर्वसी' रचनाएँ बहुत ही सुन्दर हैं।

**निष्कर्ष**—इस तरह, टैगोर को बंगला साहित्य का एक युग-निर्माता कहा जा सकता है। वे लेखक, कवि, समालोचक, संगीतज्ञ तथा अभिनेता सभी कुछ थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में क्लिष्ट साहित्यिक बंगला के स्थान पर बोल-चाल की बंगला भाषा को अपनाया और उसमें अदभुत सौन्दर्य और कमनीयता भर दी। अपने काव्यात्मक गुणों से उन्होंने उस भाषा को संगीत मय बना दिया।

## IV. टैगोर की उपलब्धियां : मूल्यांकन

**यथार्थवादी लेखक**—रवीन्द्र बाबू की साहित्य सर्जना उनके जीवन के अंतिम क्षण तक चलती रही। वे सच्चे साहित्यकार थे। उनका साहित्य कल्पना मात्र पर आधारित न होकर, जीवन का साहित्य था। वह देश की आध्यात्मिक भावना का प्रतीक है। उनके उपन्यास इस धरती पर पलने वाले सैंकड़ों परिवारों के जीवन पर आधारित हैं। उनकी कहानियां मानवीय भावनाओं का सच्चा स्वरूप हैं। उनकी कल्पनायें सत्य पर आधारित हैं। अतः उनमें दर्द है और मानवीय पीड़ाओं के लिए करुणा है।

**मानवता के पुजारी : मनुष्य की वन्दना**—पृथ्वी व प्रकृति में स्पन्दन उत्पन्न करने वाले जीवन देवता की शक्ति रवीन्द्र बाबू इन्सान में ही पाते हैं। वे किसान-मजदूर रूपी नर देवता की आराधना के पोषक थे। देश की सम्पन्नता की आधार-शिला वे उन्हीं को मानते थे। भारत वर्ष के पतन के कारणों में वे एक कारण किसान व मजदूर को समाज में उचित सम्मान न मिलना ही मानते थे। इसीलिए उन्होंने अपने देश वासियों को प्रोत्साहित और प्रेरित किया कि वे समस्त लोगों को बराबर समझें। कवि की मानवीय अभिरुची को उनकी आध्यात्मिकता कहीं भी दबा नहीं पायी। उनके साहित्य में मानव को एक गौरव मिला, जो प्राचीन साहित्य में कहीं नहीं था।

टैगोर ने भारतीयता को इतना व्यापक बनाया कि उसमें समूची मानवता का समावेश हो जाय। उन्होंने अपने ग्रंथ 'ग्रेटर इन्डिया' में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए, इस तथ्य पर जोर दिया है कि महान् भारत का इतिहास बनाने वाले सिर्फ हिन्दू ही नहीं हैं सदियों पहले मुसलमान अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को लेकर

यहां आये और इसके इतिहास का अंग बन गये। फिर, पश्चिम की निधि लेकर भारत में अंग्रेज (ईसाई) आये। इस तरह नये भारत पर किसी एक जाति या धर्म का एकाधिकार नहीं है। यहाँ विभिन्न धर्म और संस्कृति वालों को प्रेम, और सामंजस्य का जीवन जीना है शांति का वह साम्राज्य बनाना और प्रेम एवं एकता का विकास करना ही आज के भारत की सबसे बड़ी समस्या है। स्वयं टैगोर ने इस समस्या के हल करने का भरसक प्रयत्न किया। बंगाल में '**शांति निकेतन**' में उन्होंने अपने अन्तर्राष्ट्रीय विश्व विद्यालय —'**विश्व भारती**'—की स्थापना सन् 1921 में इसलिए की थी कि पाश्चात्य और प्राच्य संस्कृतियों के श्रेष्ठ प्रतिनिधि सम्पर्क में आयें और एक विश्व-बन्धुत्व का वातावरण पैदा हो जिसमें भारत के युवक युवतियाँ पोषण पायें।

**आदर्श समाज सुधारक**—रवीन्द्रनाथ टैगोर भारत के आदर्श समाज-सुधारक हैं। और वह सुधार आजकल के अन्यान्य सुधारकों की भाँति केवल सिद्धान्तों में ही सीमित नहीं है, उनके चरित्र और प्रत्येक कार्य में उसका निर्देशन मिलता है। जैसी उनकी सुधार सम्बन्धी उक्ति है, वैसी ही आपकी कृति भी है। उन्होंने **जाति-प्रथा, अस्पृश्यता तथा समाज में स्त्रियों की दयनीय दशा पर भी अपनी रचनाओं में तीव्र प्रहार किया। साथ ही अनेकानेक अन्ध-विश्वासों तथा अज्ञानता के विरूद्ध भी उन्होंने बड़ी-ही व्यंगात्मक भाषा में आक्षेप किए**। इस तरह, अपनी रचनाओं के द्वारा उन्होंने भारतवासियों को उनकी वास्तविक अवस्था से परिचित कराया। उन्होंने यह भी बताया कि उनकी अवस्था में सुधार किस प्रकार हो सकता है।

निष्क्रियता और पलायनवाद की भावनाओं के टैगोर कट्टर विरोधी थे। उन्होंने भारतीय समाज को रचनात्मक आधार पर पुर्नव्यवस्थित करने का संदेश दिया। उन्होंने कर्म करने पर बल दिया और हर व्यक्ति को समाज और संस्कृति के उत्कर्ष में यथायोग्य अपना योगदान देने का आग्रह किया।

**रवीन्द्र का देश-प्रेम**—भारत के राष्ट्रीय नेताओं में उनका एक विशेष स्थान था। स्वदेश-प्रेम के वे जीवन्त स्वरूप थे। देश की प्रत्येक बड़ी-बड़ी समस्याओं में आपने सदा भाग लिया और उन पर बड़ी निर्भीकता से आपने विचार प्रकट किये। आपका यह स्वदेश-प्रेम केवल लेख और व्याख्यानों तक ही रहा हो यह नहीं; बल्कि आपने उसके लिए अपूर्व स्वार्थ-त्याग और अपनी असीम निर्भीकता का भी परिचय दिया। उन्होंने भारत-देश के बारे में बड़ी मर्म-स्पर्शिनी कविताएँ लिखी हैं। "भारतीयता क्या है और किस राह पर चलने से देश का भविष्य उज्जवल होगा—कैसे अपनी पूर्व अवस्था की प्राप्ति हो सकेगी, यह महाकवि ने अपनी देश-विषय की कविताओं में बड़ी निपुणता के साथ अंकित कर दिखाया है।"

**टैगोर का जीवन-दर्शन** व्यापक मानववाद उनके जीवन-दर्शन का मूल-मन्त्र था। उन्होंने अपने देशवासियों को प्रोत्साहित किया कि वे समस्त लोगों को समान

समझें। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय भावना का उदय देखना चाहते थे। उन्होंने भारत-वासियों को सिखाया कि वे अपने को भारत के किसी एक प्रदेश का निवासी न मानकर समस्त देश का निवासी समझें। उनका सुप्रसिद्ध गीत **'जन गण-मन अधि-नायक'** भारत का राष्ट्रीय गीत बन गया।

निष्कर्ष—रवीन्द्रनाथ टैगोर का मत था कि विश्व की समस्त संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का कलेवर सर्वाधिक उदार एवं विशाल है। वे मानव समाज में संकीर्णता के विचार नहीं देखना चाहते थे। वे भारतीय अध्यात्म और पाश्चात्य आधुनिकता, स्वतन्त्रता एवं प्रगति के बीच सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे। वे साम्प्रदायिकता के घोर विरोधी थे। वे आर्थिक समानता पर आधारित समाज के प्रवल पक्षधर थे।

सारांश में, रवीन्द्रनाथ टैगोर केवल साहित्यकार ही नहीं सफल अध्यापक, दार्शनिक एवं सफल वक्ता थे। उनका दर्शन भारतीय अध्यात्म का दर्शन था। वे जीवन के वास्तविक दृष्टा थे। वे अपने आप में एक संस्था थे। वे सच्चे देश-भक्त एवं राष्ट्रीय विचार धारा के व्यक्ति थे। **"अनेक वर्षों तक कवि एवं दार्शनिक टैगोर पाश्चात्य देशों में भारतीय संस्कृति के राजकीय प्रतिनिधि माने जाते रहे हैं।"**

---

# 10

# महात्मा गांधी का सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व

**(Social and Cultural Significance of Gandhi)**

---

I. राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी का योगदान

II. गांधीजी के समाज-सुधार सम्बन्धी विचार

III. गांधीजी का सत्याग्रह-सिद्धांत व अहिंसा-दर्शन

---

## I. राष्ट्रीय, आन्दोलन में गांधीजी का योगदान

"वे इसलिए इतने महान् व्यक्ति नहीं थे कि उन्होंने अपने देश को स्वाधीनता के संग्राम का सफलतापूर्वक संचालन किया बल्कि वे महान् इसलिए थे कि हिंसा, स्वार्थ, शक्ति की तृष्णा और नैतिक पतन के वर्तमान वातावरण में सत्य, अहिंसा और साधनों की विशुद्धता का कठिन पाठ भी उन्होंने अपने व्यावहारिक जीवन के द्वारा लोगों के गले उतार दिया।"

— **डॉ. जॉन हेन्स होम्स**

**जीवन-परिचय**—श्री मोहनदास करमचन्द गांधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 में एक धार्मिक परिवार में हुआ था। उनके पिता राजकोट के दीवान थे। गांधी जी 19 वर्ष की अवस्था में मैट्रिक पास करके कानून की शिक्षा प्राप्त करने इंग्लैण्ड गये थे। सन् 1891 में वे वकालत की परीक्षा पास कर बैरिस्टर बनकर भारत लौटे और यहाँ वकालत शुरू की। वे 1893 ई. में दक्षिणी अफ्रीका में पैरवी करने गये थे। वहाँ रंग-भेद के पक्षपात के कारण भारतीयों पर जो अत्याचार हुए, उन्हें दूर करने के लिए उन्होंने 'सत्याग्रह' के विलक्षण तथा शक्तिशाली शस्त्र का अविष्कार कर उसका प्रयोग किया था। वहाँ सफलता मिलने के पश्चात् वे 1914 ई. में भारत लौट आये तथा साबरमती में एक आश्रम खोला। भारत को स्वतन्त्रता देने के लिए उन्होंने अंग्रेजी-साम्राज्य के विरुद्ध एक अहिंसात्मक आन्दोलन छेड़ दिया। सन् 1920 में 'असहयोग आन्दोलन' तथा 1931 में पुनः 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' शुरू किया जो लन्दन में हुई प्रथम गोलमेज कान्फ्रेंस तक चलता रहा। सन् 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन से भारतीय जनता की शक्ति तथा दृढ़-संकल्प

का पता लगा। उनके अथक आन्दोलन एवं सत्य निष्ठा के कारण भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र हुआ। विदेशी अंग्रेजी साम्राज्यवादियों को हिन्दुस्तान से जाना पड़ा। इस स्वाधीनता-प्राप्ति का बहुत-कुछ श्रेय महात्मा गांधी को ही है जिन्होंने 25–30 वर्षों तक देश के स्वाधीनता-संग्राम का सफल नेतृत्व कर अहिंसात्मक ढंग से हिन्दुस्तान को आजादी दिलवाई। परन्तु देश के दुर्भाग्य से नाथूराम गोडसे नामक अंध-साम्प्रदायिक व्यक्ति ने उनकी 30 जनवरी, 1948 को दिल्ली में हत्या कर दी। इस घटना से न केवल भारतवासी अपितु सम्पूर्ण विश्व का शान्ति प्रिय मानव-समुदाय दुःख के सागर में डूब गया। गांधी जी ने 'हिन्दू राष्ट्रवाद' और 'मुस्लिल राष्ट्रवाद' को एकान्वित कर एक सामान्य 'भारतीय राष्ट्रीयता' का रूप दिया। यह उनके जीवन का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था।

**असहयोग आन्दोलन : राजनीति में नई दिशा**—महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग सन् 1919 से प्रारम्भ हुआ क्रूर जनरल डायर के नृशंस कारनामों, ब्रिटिश सरकार की दमन पूर्ण नीति तथा ब्रिटश पालियामेंट के कुछ भी न करने की भावना से क्षुब्ध होकर महात्मा गांधी ने ऐसी निकम्मी और भारत विरोधी अंग्रेजी सरकार से पूर्ण असहयोग करने का निश्चय किया। 20 अगस्त, 1920 ई. को देश भर में असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ। सभायें हुईं, भाषण हुए और विदेशी माल की होलियाँ जलीं। स्कूल, कॉलेज और कचहरियाँ बन्द हो गयीं। देशभक्त लोगों ने सरकारी नौकरियाँ छोड़ दीं तथा पदवियां त्याग दीं। देश में अजीब-सा वातावरण बन गया। लाखों नर-नारी, ग्रामीण व शहरी, युवक और प्रौढ़ घरों से निकल कर सड़कों पर आ गये। वन्दे-मातरम् के नारों से आकाश गूंज उठा। राष्ट्रीय तिरंगा झण्डा देश के आकाश में फहराने लगा। इस पर अंग्रेजी सरकार ने असहयोग में भाग लेने वाले हजारों लोगों को पकड़ कर जेलों में भर दिया। आन्दोलनकारियों को लाठी और गोलियों का शिकार बनाया गया। 1921 तक आन्दोलन चरम-सीमा पर पहुँच गया। परन्तु, चौरा-चोरी गाँव के हिंसात्मक घटना से क्षुब्ध होकर गांधीजी ने अचानक अपना असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया। जनता में हिंसापूर्ण प्रतिक्रिया को अहिंसात्मक आन्दोलन के विपरीत समझा गया। अंग्रेजी सरकार ने स्थिति का लाभ उठा कर गांधीजी पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया और उन्हें 6 वर्ष का कारावास दण्ड दिया गया।

इस आन्दोलन से स्पष्ट हो गया कि भारतीय राजनीति को नई दिशा प्रदान की गयी है। अभी तक आन्दोलन इस प्रकार के समूचे देश में एक साथ सम्पन्न नहीं हो सके थे और न ही इस प्रकार के शान्त प्रदर्शनों को देखा ही गया था। अभी तक देश का युवक हिंसा का जवाब हिंसा से देने के लिए प्रसिद्ध था, वही युवक अब बिना उद्विग्न हुए, हुकूमत के अत्याचारों को साहस तथा धैर्य के साथ सहन करने का परिचय देने लगा। देश की राजनीति में सत्य और अहिंसा को स्थान मिला। इस तरह देश में पहली बार एक नई चेतना, एक नई जागृति एवं उत्साह उत्पन्न

हुआ। अभी तक राष्ट्रीय कांग्रेस संगठन का कार्य कुछेक उच्च शिक्षित व्यक्तियों के मध्य केवल वादविवाद तक सीमित था। परन्तु, सर्व प्रथम बार गांधीजी के नेतृत्व में देश भर के जन-साधारण ने राष्ट्रव्यापी पैमाने पर स्वाधीनता आन्दोलन में खुलकर भाग लिया। विदेशी अंग्रेजी सरकार से असहयोग करके एवं इंग्लैण्ड में निर्मित वस्तुओं का देश भर में वहिष्कार करके विदेशी साम्राज्य की राजनैतिक व आर्थिक स्थिति पर करारी प्रभावपूर्ण चोट की गई।

1930 का **सविनय अवज्ञा आन्दोलन**—सन् 1930 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने जवाहरलाल नेहरु के सभापतित्व में पूर्ण स्वराज्य को अपना लक्ष्य घोषित किया। 2 मार्च 1930 को गांधीजी ने गवर्नर जनरल लार्ड इरविन को 11 माँगों का एक माँग-पत्र प्रस्तुत किया और उसके अस्वीकार कर दिये जाने पर 12 मार्च से देश भर में 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' छेड़ दिया गया। इस राष्ट्रव्यापी आन्दोलन के अन्तर्गत नमक-कानून तोड़कर नमक बनाने, सरकारी नौकरी त्यागने तथा छात्रों द्वारा सरकारी स्कूल-कॉलेजों का वहिष्कार करने, शराव, अफीम तथा कपड़ों की बिक्री को रोकने हेतु स्त्री सत्याग्रही जत्थों द्वारा धरना देने, विदेशी कपड़ों की होली जलाने, सरकार को कर न देने आदि के लिए आम लोगों को प्रोत्साहित किया गया। गांधीजी के नेतृत्व में अब भारतीय जनता स्वाधीनता प्राप्ति के लिए हर प्रकार के कष्ट झेलने को तैयार हो चुकी थी। फलस्वरूप, देशभर में हजारों, लोगों ने सरकारी अनुचित कानूनों को भंग किया। विदेशी वस्त्र जलाये गए, शराव की दुकानों पर धरने दिये गये। इससे अंग्रेजी प्रशासन देश भर में ठप्प हो गया। किसानों ने भी ग्रामों में लगान-कर देने से इन्कार किया। स्त्रियों ने भी पर्दा त्यागकर इस आन्दोलन में वढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। अनेक वड़े-वड़े नगरों में स्त्रियों द्वारा धरना दिये जाने के कारण शराव की वहुत सी दुकानें वन्द हो गईं। क्रुद्ध होकर अंग्रेज सरकार ने गांधीजी सहित अन्य नेताओं तथा 60,000 सत्याग्रहियों को जेल के सींखचों में वन्द कर दिया। परन्तु 5 मार्च, 1931 को लार्ड इरविन को गांधीजी से समझौता करना पड़ा। अधिकांश राजनीतिक वन्दियों को रिहा कर दिया गया तथा उनकी जब्त सम्पत्ति भी उन्हें लौटा दी गई।

**पूर्ण-स्वाधीनता से कम पर समझौता नहीं**– गांधीजी के नेतृत्व की एक विशेषता यह रही कि उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को पूर्ण स्वाधीनता की मांग का दृढ़ आधार दिया। ब्रिटिश सरकार जव कभी भी सुधार योजना लाती और उनसे कांग्रेस के उद्देश्य की पूर्ति होती नहीं दिखाई देती तो फिर आन्दोलन तेज कर दिया जाता। 1935 के एक्ट में अंग्रेजी सरकार ने संघ-व्यवस्था को लागू कर प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्त शासन देना स्वीकार कर लिया। 1937 में विभिन्न प्रान्तों में चुनाव हुए और 8 प्रान्तों में कांग्रेस को पूर्ण वहुमत मिला। इन मन्त्री मण्डलों ने गांधीजी द्वारा निर्धारित रचनात्मक कार्यक्रम की अनेक वातों पर अमल किया। सभी पुराने स्वाधीनता सेनानियों व क्रान्तिकारियों को जेल से मुक्त कर दिया गया। राज्य

शासन संभालने का उन्हें प्रथम प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। परन्तु 1939 में द्वितीय महा युद्ध छिड़ने पर, बिना देश के नेताओं से राय लिये भारत को मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में झोंक दिया गया। इससे रुष्ट होकर गांधीजी के निर्देश पर सभी कांग्रेस मंत्रीमण्डलों ने अपने त्याग पत्र दे दिये। गांधीजी को कांग्रेस की बागडोर पुन संभालनी पड़ी और स्वाधीनता संग्राम ने नया मोड़ लिया।

1042 का **'भारत छोड़ो आन्दोलन'**—अंग्रेजी सरकार ने घोषणा की कि यह महायुद्ध मानव जाति की स्वतन्त्रता के लिए फासिस्टों के विरुद्ध लड़ा जा रहा है। इस पर भारतीय नेताओं ने घोषणा की कि एक आजाद देश ही दूसरे देशों की आजादी की रक्षा के लिए सहयोग दे सकता है। इसलिए सर्वप्रथम यह जरूरी है कि पहले हिन्दुस्तान को पूर्ण स्वतन्त्रता का दर्जा दिया जाय। सन् 1942 में सर स्टैफ क्रिप्स भारतीय नेताओं का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से कुछ प्रस्ताव लेकर भा आए। परन्तु गांधीजी तथा राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वाधीनता से कम किसी भी प्रस्त को स्वीकार करने से साफ इन्कार कर दिया। क्रिप्स प्रस्तावों की अस्वीकृति के ब भारत में राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हो गया। भारतीय नेताओं ने समझ लिया कि अंग्रेज सरकार भारत को आजादी नहीं देना चाहती। वह हिन्दू तथा मुसलमानों फूट डालकर स्वयं अपना साम्राज्य स्थायी रखना चाहती है। अतएव कांग्रेस गांधीजी के नेतृत्व में 8 अगस्त, 1942 ई० को बम्बई में अंग्रेजों **'भारत छोड़ो'** ऐतिहासिक प्रस्ताव को पारित किया।

इस प्रस्ताव के द्वारा हिन्दुस्तान से अंग्रेजी हुकूमत के तुरन्त हटाये जाने मांग की गई। गांधीजी ने इस प्रस्ताव पर अपने विचार व्यक्त करते हुए भारत जनता को 'करो या मरो' का आह्वान किया। इस पर अंग्रेजी सरकार 9 अगस्त, 1942 की मध्य-रात्रि को गांधीजी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटे मौलाना आजाद आदि नेताओं को बम्बई में गिरफ्तार कर लिया। देश के वि भागों में प्रमुख कांग्रेस नेताओं को सरकार ने जेल के सीखचों में बन्द कर दि कांग्रेस को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया। सरकारी अत्याचारों की ब सी आ गई। हजारों लोगों को गिरफ्तार कर कड़े से कड़ा दण्ड दिया गया, फिर जनता संघर्ष से विचलित नहीं हुई। इस आन्दोलन ने भारतीय जन-जीवन में अ पूर्व राजनीतिक जागृति और उत्साह उत्पन्न कर दिया। अंग्रेज सरकार ने भली-भांति समझ लिया कि अब भारतीय जनता अपनी पूर्ण स्वाधीनता के कठोर से कठोरतम त्याग व बलिदान से पीछे नहीं हटेगी। इसी दौरान 194 द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हो गया।

**भारत की स्वाधीनता प्राप्ति** (15 अगस्त 1947—रूस व अमरीका के सह से ब्रिटिश साम्राज्य की जर्मनी व जापान पर विजय हुई। परन्तु अब वह युद्ध-ज खोखला साम्राज्य रह गया था। इसी समय इंग्लैण्ड के नये चुनावों में लेबर की सरकार बनी। लेबर पार्टी (मजदूर दल) की भारतीय जनमत के प्रति सहानु

थी। 1946 ई० में इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री एटली ने एक मन्त्रिमण्डल मिशन भारत भेजा, पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने उनकी योजना 'आन्तरिक सरकार' को स्वीकार नहीं किया। अन्त में, मार्च 1947 में लार्ड माउंटबेटन भारत के अन्तिम वायसराय बनकर आए। उस समय तक देश में एक ओर मुस्लिम लीग और दूसरी ओर हिन्दू-सभा आदि के विषैले प्रचार के कारण साम्प्रदायिक सद्भाव समाप्त हो चला था। अतएव, माउंटबेटन ने 3 जून, 1947 को हिन्दुस्तान का विभाजन कर, भारत व पाकिस्तान नामक दो राष्ट्रों की स्थापना करने की योजना बनाई। गांधीजी और खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने इसका पूरा विरोध किया, लेकिन तत्कालीन परिस्थितियोंवश एवं कटुता व हिंसा को बढ़ते देखकर सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू आदि अधिकांश भारतीय नेताओं ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग तो इसे पहले ही स्वीकार कर चुकी थी। इसके फलस्वरुप **'भारतीय स्वाधीनता अधिनियम'** के अन्तर्गत 15, अगस्त 1947 ई० को हिन्दुस्तान को ब्रिटिश साम्राज्य से आजादी मिल गई। माहात्मा गांधी के नेतृत्व में चल रहा दीर्घकालीन स्वतन्त्रता संग्राम सफल हुआ। इसे अधिकांश इतिहासकार मानते हैं कि स्वाधीनता प्राप्ति का बहुत कुछ श्रेय महात्मा गांधी को ही है, जिन्होंने 25–30 वर्षों तक देश के स्वाधीनता-संग्राम का सफल नेतृत्व कर अहिंसात्मक ढंग से हिन्दुस्तान को पूर्ण स्वतन्त्रता दिलवाई।

**निष्कर्ष : मूल्यांकन**—महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन जिस कुशलता से किया उसने स्वतंत्रता प्राप्ति को किसी सीमा तक सरल बना दिया। उन्होंने यह बिलकुल समझ लिया कि अंग्रेजी-साम्राज्य जैसी महाशक्ति का सामना सिर्फ सत्य और अहिंसा से ही किया जा सकता है। इसके अलावा राष्ट्रीय कांग्रेस को भी उन्होंने एक समन्वयपरक संस्था बनाये रखा। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय काँग्रेस पार्टी में कई बार सैद्धान्तिक एवं व्यक्तिगत मतभेद हुए। किन्तु गांधीजी में विभिन्न तथा विरोधी विचारों को एक रूप एवं समन्वित करने की अपूर्व क्षमता थी। **डॉ० राजेन्द्र प्रसाद** ने लिखा है कि इस क्षमता के ही कारण काँग्रेस पार्टी कई बार विघटित होते-होते बची। काँग्रेस पार्टी के मंच पर सभी विचारधाराओं को एकत्रित कर एक रूप बनाना गांधीजी के ही वश की बात थी।

स्वराज्य प्राप्ति तथा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन करने में महात्मा गांधी ने एक अत्यन्त ही निपुण आन्दोलन संचालक, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ और अनुभवी मनोवैज्ञानिक व्यक्ति का परिचय दिया। सत्य एवं अहिंसा का राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रयोग कर महात्मा गांधी ने एक महान् एवं श्रेष्ठतर आत्मशक्ति का प्रयोग किया जिसने साम्राज्यवादियों को घुटने टेकने के लिए विवश ही नहीं किया बल्कि विरोधियों को भी गांधीजी की प्रशंसा करनी पड़ी। सारांश में, **अलबर्ट आइन्सटीन** के शब्दों में, "गांधीजी ने यह प्रदर्शित कर दिया कि एक शक्तिशाली मानव समूह को, चालाकी या चालबाजी द्वारा ही नहीं, जैसा कि सामान्य राजनीति

में किया जाता है, किन्तु जीवन आचरण के श्रेष्ठ नैतिक उदाहरण द्वारा संगठित किया जा सकता है। इस पूर्ण नैतिक पतन के युग में गांधी ही एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे जो राजनीतिक क्षेत्र में उच्च मानवीय सम्बन्धों पर दृढ़ रहे।"

डॉ० के. एम. पणिक्कर ने भारतीय संघर्ष में गांधीजी के योगदान का वर्णन करते हुए लिखा है, "भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति में महात्मा गांधी के योगदान को सभी पक्षों द्वारा स्वीकार किया जाता है। ये महात्मा गांधी ही थे, जिन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को, जो बौद्धिक वर्ग तक सीमित एक आन्दोलन था, एक क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन का रूप प्रदान किया। उन्होंने इस आन्दोलन के संगठन और अनुशासन का विकास किया और आन्दोलन को प्रभावदायक कार्य पद्धति प्रदान की। इन सबके अतिरिक्त, उनके द्वारा ही इस आन्दोलन में सामाजिक न्याय की भावना, समानता की इच्छा और दलित वर्गों की मुक्ति की चाह उत्पन्न की गयी।" महात्मा गांधी ने अपने कार्यों से भारत राष्ट्र के जन-जन के हृदय में स्थान पा लिया भारतीय जनता के द्वारा उन्हें 'राष्ट्र पिता' के नाम से सम्बोधित किया गया।

फ्रेंच दार्शनिक रोम्य रोलाँ ने ठीक ही कहा है कि "गांधीजी ही केवल भारत के राष्ट्रीय इतिहास के ऐसे नायक हैं; जिनकी किंवदन्तियाँ युगों तक प्रसिद्ध रहेंगी। उन्होंने मानवता के सन्तों और महात्माओं में अपना स्थान प्राप्त किया है और उनके व्यक्तित्व का प्रकाश सम्पूर्ण विश्व में फैला हुआ है।" गांधीजी वस्तुतः एक महान् पुरुष थे, जिन्हें राष्ट्र-पिता, राष्ट्र-निर्माता तथा युग-पुरुष की उपाधियों से विभूषित किया गया है।

## II. गांधी जी के समाज-सुधार सम्बन्धी विचार

समाज सुधार के क्षेत्र में गांधीजी के विचार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इस ओर किन्ही भी भारतीय राजनीतिज्ञों ने ध्यान नहीं दिया था। भारत में जितने भी राजनीतिक आन्दोलन हुए हैं, उनमें समाज-सुधार की समस्या को जान-बूझकर राजनीति से अलग रखा गया। भारतीय नेताओं का कहना था कि हमें सबसे पहले स्वाधीनता प्राप्त करनी है; समाज सुधार का कार्य तो बाद में भी हो सकता है। राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। परंतु गांधीजी का दृष्टिकोण इसके विपरीत था। वे जीवन को एक पूर्ण इकाई मानते थे और कहते थे कि जीवन को राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि भागों में विभाजित नही कर सकते। अतएव राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ समाज-सुधार का काम भी अनिवार्य है। जब तक हम सामाजिक जीवन को शुद्ध नहीं करेंगे, तब तक स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में महात्मा गांधी के विचार अस्पृश्यता शिक्षा, नशाबंदी, साम्प्रदायिक एकता, स्त्री-उत्थान आदि के विषय में अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं।

**1. अस्पृश्यता विरोध : हरिजनों का उत्थान** गांधीजी एक महान् समाज-शास्त्री थे। समाज के क्षेत्र में वे आदर्श समाज की स्थापना में विश्वास करते थे।

उनके आदर्श समाज में ऊँच-नीच, छूआ-छूत अथवा वर्ग-भेद को कोई स्थान नहीं था। उनके विचार में धर्म के आधार पर कोई भी वर्ग बना हुआ नहीं था। वे बहुधा जहाँ कही भी जाते-ठहरते, हरिजन बस्ती में अपना समय जरूर देते। उनकी प्रार्थना सभायें वहीं हुआ करती थीं। उनका विश्वास था कि देश में जब तक अछूत वर्ग का उत्थान नहीं होता, तब तक देश का विकास नहीं हो सकता।

अस्पृश्यता हिन्दू समाज में सदियों से चली आ रही थी, जो एक प्रकार से सामाजिक अभिशाप सिद्ध हुई। इतने देश की एकता को विघटित किया, सामाजिक असमानता को प्रोत्साहित किया तथा निर्बल वर्ग के शोषण में सहायक हुई। गांधीजी ने इस सामाजिक कलंक को मिटाने का भगीरथ प्रयत्न किया। मध्य तथा आधुनिक कई सन्त एवं सामाजिक सुधारकों ने इस पर प्रहार किया। किन्तु किसी को भी उतनी सफलता नहीं मिल पायी, जितनी की गांधीजी को मिलती थी।

गांधीजी ने अछूत एवं पिछड़े वर्ग के लिए 'हरिजन' जैसे उच्च शब्द का प्रयोग कर, उनमें आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न की। हरिजनों के उत्थान के लिए उन्होंने जीवन भर अनथक प्रयत्न किया। उन्होंने छूआ-छूत की समस्या को राष्ट्रीय पैमाने पर हल करने के लिए उसे कांग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम का अंग बनाया। सन् 1932 में गांधीजी ने हरिजन उद्धार कार्य के लिए 'हरिजन सेवक संघ' का गठन किया। इस संघ का प्रमुख उद्देश्य हरिजनों का शैक्षणिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्तर ऊँचा उठाना था। इस संस्था ने गांधीजी के निर्देशन में छूआ-छूत के खिलाफ देश के कोने-कोने में विरोध किया और सभी सार्वजनिक कुओं, धर्मशालाओं, सड़कों स्कूलों, श्मसान-स्थलों एवं मन्दिरों को हरिजनों के लिए भी खोल देने का आग्रह किया। गांधीजी ने 'हरिजन' नाम से एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र भी अपने संपादन में जीवन-पर्यन्त निकाला था जिसमें छूआ-छूत के उन्मूलन व अन्य समाज सुधारों के पक्ष में निरन्तर लेख प्रकाशित किये गये। गांधीजी के हृदय में हरिजनों के प्रति कितना प्रेम और आदर था। उनकी इन पंक्तियों में व्यक्त होता है —**"मैं फिर जन्म लेना नहीं चाहता हूँ, पर यदि मुझे लेना ही पड़े तो मैं अछूत के रूप में जन्म लेना चाहूंगा ताकि मैं अछूतों के कष्टों एवं अपमानों में भाग ले सकूँ और इन दयनीय परिस्थितियों से अपने को और उनको उभार सकूँ। अतः मेरी प्रार्थना है कि मुझे फिर जन्म लेना पड़े तो मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के रूप में नहीं, वरन् अति शूद्र के रूप में जन्म मिले।"** वास्तव में, यह गांधीजी के ही प्रयत्नों का सुपरिणाम है कि भारतीय संविधान में अछूत परम्परा तथा छूआ-छूत का व्यवहार को गैर-कानूनी तथा दण्डनीय घोषित किया है।

2. **साम्प्रदायिक एकता के प्रबल समर्थक** गांधीजी के जीवन का उच्चतम आदर्श था, भारत के विभिन्न सम्प्रदायों, जैसे हिन्दू, मुसलमान, इसाई, पारसी, सिक्ख आदि को एकता के सूत्र में बांधा जाय। ये इतने दूरदर्शी थे कि उन्होंने देख लिया कि सबसे बड़ी और सबसे अधिक गतिशील अल्प संख्यक (मुस्लिम) जाति

को राष्ट्रीय संगठन का अंग बनाये बिना भारत न तो आजादी पा सकता है और न उसकी रक्षा कर सकता हैं और न ही भारत की भौतिक या सांस्कृतिक उन्नति हो सकती है। अस्तु, उन्होंने 'हिन्दू राष्ट्रवाद' और' मुस्लिम–राष्ट्रवाद' को एकान्वित कर एक सामान्य 'भारतीय राष्ट्रीयता' का रूप दिया। यह उनके जीवन का एक सबसे महान् उल्लेखनीय काय है।

गांधीजी सब धर्मों के गहरे अध्ययन के बाद इस परिणाम पर पहुंचे थे कि सभी मजहबों के बुनियादी सिद्धांत एक हैं, फर्क तो रूढ़ियों और कर्म-काण्डों तथा ऊपरी रीति-रिवाजों में है। परन्तु, रूढ़ियाँ और कर्मकाण्ड हमेशा बदलते रहते हैं, पर धर्म के बुनियादी सिद्धांत कभी नहीं बदलते। अस्तु, गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया था : **"मैं ऐसी आशा नहीं करता कि मेरे सपनों के आदर्श भारत में केवल एक ही धर्म रहेगा, यानी वह सम्पूर्णतः हिन्दू, मुसलमान या ईसाई बन जायेगा मैं तो यह सोचता हूं कि वह पूर्णतः उदार और सहिष्णु बनें और उसके सब धर्म साथ-साथ चलते रहें।"** राजनीति में वे धर्म-निरपेक्षता के समर्थक थे। उनका कहना था कि न कोई धर्म श्रेष्ठ है और न कोई निम्न स्तर का। अतः सभी मनुष्यों को चाहिए कि वे सभी धर्मों का समान आदर करें। सभी सम्प्रदायों को अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा करने का अधिकार है। भारतीय संविधान में, इसके लिए उन्हें समान रूप से राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं।

3. **नई शिक्षा प्रणाली के प्रणेता**--महात्मा गांधी इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे कि प्रजातन्त्र की सफलता अच्छी शिक्षा पर आधारित है। इसलिए वे शिक्षा का सार्वजनिक विस्तार करना चाहते थे। उनका कहना था कि शिक्षा को देश के अनुकूल होना चाहिए। वे अंग्रेजी के माध्यम द्वारा प्रदत्त शिक्षा-प्रणाली को दोषपूर्ण समझते थे, क्योंकि इसके द्वारा न तो शरीर, न बुद्धि और न आत्मा का विकास हुआ है। गांधीजी भारत में ऐसी शिक्षा-प्रणाली चाहते थे, जो चरित्र के विकास में सहायक हो सके। उन्होंने कहा था—"बिना आचार के बौद्धिक ज्ञान वैसा ही है जैसा कि खुशबूदार मसाला लगाया हुआ मुर्दा। वह देखने में तो शायद सुन्दर लगेगा लेकिन उसमें स्फूर्ति देने वाली या मनुष्य को ऊँचा उठाने वाली कोई बात भी न होगी।" गांधीजी तो बालक के शरीर, मन और हृदय का विकास करने के पक्ष में थे। उनका मत था कि "साक्षरता स्वयं में कोई शिक्षा नहीं है। इसलिए मैं तो बालक की शिक्षा में उसे कोई उपयोगी दस्तकारी सिखाना शुरू करूंगा।" इसलिए, गांधीजी ने भारतीय शिक्षा-पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन एवं सुधार लाने के उद्देश्य से **'बुनियादी शिक्षा योजना'** का सूत्रपात किया। बुनियादी शिक्षा के जरिये वे देश में फैली बेरोजगारी की समस्या को हल करना चाहते थे। वे ऐसी शिक्षा नहीं चाहते थे जो भारत जैसे निर्धन ग्रामवासियों को महंगी पड़े। इसी उद्देश्य को

सामने रखकर 'बुनियादी शिक्षा' प्रणाली की योजना तैयार की गई । गांधीजी की यह क्रांतिकारी बुनियादी शिक्षा 'वर्धा शिक्षा योजना' के नाम से भी प्रसिद्ध है ।

**बुनियादी शिक्षा पद्धति की विशेषतायें**—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में बुनियादी शिक्षा गांधीजी का एक महत्त्वपूर्ण योगदान था । इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

1. शिक्षा बुनियादी दस्तकारी के आधार पर दी जाय ।
2. शिक्षा स्वावलम्बी हो ताकि विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ स्वयं खर्च भी चला सके ।
3. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो ।
4. शिक्षा के द्वारा चरित्र-निर्माण हो ।
5. शिक्षा ऐसी हो जिससे साम्प्रदायिकता, जातिवाद और धार्मिक असहिष्णुता की भावनाएँ न बढ़ें ।
6. प्राथमिक शिक्षा की अवधि छः साल की हो और उसमें अंग्रेजी को छोड़कर दसवीं कक्षा (मैट्रिक अथवा सैकण्डरी) स्तर तक सामान्य ज्ञान का पाठ्य-क्रम है ।

महात्मा गांधी ने विद्यार्थियों को स्वावलम्वी बनाने के उद्देश्य से देश भर में बुनियादी शिक्षा का प्रचार किया । उन्होंने अनेकानेक राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाएँ खुलवाने में सक्रिय सहयोग दिया । सारांश में, वे बालक की सर्वांगीण शिक्षा में विश्वास करते थे । इसलिए, हाथ की शिक्षा, मस्तिष्क की शिक्षा तथा शारीरिक शिक्षा का दिया जाना आवश्यक समझते थे ।

4. **गांधीजी द्वारा स्त्री-सुधार**—स्त्री-सुधार के क्षेत्र में गांधीजी ने पर्दा-प्रथा बाल-विवाह, देवदासी-प्रथा आदि बुराइयों का डटकर विरोध किया । वे स्त्रियों को जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार देने के पक्ष में थे । वे कहा करते थे । स्त्रियों को 'अबला' कहना उनका अपमान करना है । उनके मतानुसार, नैतिक बल, त्याग, सहन-शक्ति और अहिंसा स्त्रियों में पुरुषों से अधिक देखने को मिलती है । उनका स्पष्ट मत था कि **"स्त्री-समाज द्वारा स्वाधीनता-आन्दोलन में सक्रिय भाग लिये बिना स्वराज्य की मंजिल दूर रहेगी ।"** उनके असहयोग आन्दोलन से भारतीय नारी का मुक्ति-द्वार खुल गया । घर-घर में चरखा चलाने से लाखों स्त्रियों को खादी से रोजगार मिला । सारांश में, गांधीजी के सद्प्रयत्नों से स्त्री-समाज का भारी उपकार हुआ ।

5. **मद्य-निषेध**—महात्मा गांधी मदिरापान के विरुद्ध थे । मद्य-निषेध गांधीवाद के सामाजिक कार्यक्रम का अंग था । उन्हीं के प्रभाव के कारण अनेक प्रान्तों में राज्य सरकार शराब-बन्दी लागू कर सकी हैं । गांधीजी तो सभी तरह के मादक द्रव्यों—शराब, गांजा, चरस आदि की कड़ी भर्त्सना करते थे । उन्होंने मद्यपान

को विषपान की संज्ञा दी। उनका कहना था कि मदिरापान से लाखों घर-वार चौपट हो गये। यह व्यक्ति को वासनाओं को शिकार बना, उसके स्वास्थ्य को एवं चरित्र को चौपट कर देती है। गांधीजी का दृढ़ विश्वास था कि मद्य-निषेध नीति अपनाने पर भारतीयों का शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास हो सकता है। शराब बन्दी आन्दोलन को लोकप्रिय एवं प्रभावी बनाने के उद्देश्य से महात्मा गांधी ने कांग्रेस द्वारा सन् 1 20 व 1930 में राष्ट्र व्यापी स्तर पर छेड़े गये 'असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलनों, के कार्यक्रम में शराब की दुकानों पर सत्याग्रहियों द्वारा धरना देने का भी कार्यक्रम निश्चित किया था। उस आन्दोलन में लाखों स्त्री-पुरुष कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं ने भाग लिया था।

## आर्थिक विषमता को दूर करने की नीति

गांधीजी ने आधुनिक काल में मशीनीकरण से उत्पन्न आर्थिक विषमता को भारतीय समाज के लिए घोर अभिशाप माना। वे चाहते थे कि समाज का कोई व्यक्ति भूखों न मरे। उसके साथ ही वे यह भी चाहते थे कि किसी भी व्यक्ति के पास अत्यधिक पूंजी जमा न हो जाय। वे हर प्रकार के शोषण के विरुद्ध थे। गांधीजी ने शोषण की समाप्ति के लिए 'ट्रस्टीशिप' (संरक्षण) के सिद्धांत पर जोर दिया।

गांधीजी भारत की गरीबी, भुखमरी व नग्नता से बहुत ही चिन्तित थे। उनका मत था कि भारत की यह गरीबी और बेरोजगारी की समस्या गृह-उद्योग धन्धों के गाँव-गांव में विकसित करने पर ही दूर हो सकती है। उनके मतानुसार केवल उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन की भारी मशीनें लगाई जावें जिनका उत्पादन गृह व कुटीर उद्योग धन्धों द्वारा न हो सके। ग्रामों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से ही उन्होंने खादी एवं ग्रामोद्योगों का समर्थन किया था। वे आर्थिक विकेन्द्रीयकरण के पक्ष में थे। उन्होंने स्वदेश में निर्मित वस्तुओं के उपयोग पर बल दिया।

**निष्कर्ष**—गांधीजी के समाज सुधार की समस्त अवधारणा, प्रेम, सहिष्णुता सह-अस्तित्व और भाई चारे की भावनाओं पर आधारित थी। उनकी कार्य प्रणाली पूर्णतः अहिंसावादी थी। उनके सर्वोदय समाज की कल्पना नैतिक मूल्यों पर आधारित थी। गांधीजी सम्भवतः सबसे महान् भारतीय समाज सुधारक थे।

इस तरह गांधीजी केवल स्वप्न दृष्टा ही नहीं, वरन् व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उन्होंने जिन सिद्धान्तों और आदर्शों का प्रचार किया, उनको व्यवहारिक रूप भी प्रदान किया। उनका खादी कार्यक्रम स्वदेशी आन्दोलन, राष्ट्रीय शिक्षा, हिन्दू मुस्लिम एकता, ग्रामोद्धार, नशाबन्दी, छुआ-छूत का अन्त, बाल विवाह का अन्त और विधवा विवाह को समर्थन इत्यादि सब व्यावहारिक आदर्श थे।

विश्व कवि **रवीन्द्रनाथ टैगोर** ने महात्मा गांधी के सम्बन्ध में लिखा है: "गाधीजी राजनीतिज्ञ, संगठन कर्त्ता, जन-नेता और नैतिक सुधारक के रूप में महान्,

हैं, परन्तु इससे भी महान् वे मनुष्य के नाते हैं, क्योंकि [illegible]
महानता को सीमित नहीं करता बल्कि वे उनकी महानता में [illegible]
और उसी के सहारे टिके हुए हैं। यद्यपि वे दृढ़ आदर्शवादी हैं और [illegible]
अपनी ही कसौटी पर कसते हैं, तथापि वे विचारों की अपेक्षा मनुष्यों को [illegible]
करते हैं। इसी कारण हम उन्हें अपनी क्रांतिकारी योजनाओं में बहुत सावधान और
परिवर्तनशील पाते हैं। यदि वे समाज पर किसी परीक्षा को करना चाहते हैं तो सबसे
पहले वे उसे अपने पर करते हैं यदि वे बलिदान तथा त्याग की मांग करते हैं तो सबसे
पहले वे स्वयं उसकी कीमत चुकाते हैं। जबकि अनेक समाजवादी अपने विशेषाधिकारों
को त्याग के पूर्व इस बात की प्रतीक्षा करते हैं कि पहले और सब अपने विशेषाधिकारों
का त्याग कर दें, यह मनुष्य दूसरों के त्याग की आशा करने से पूर्व स्वयं त्याग
करता है।"

## III. गांधीजी का सत्याग्रह सिद्धान्त व अहिंसा दर्शन

"हमें अहिंसा को केवल व्यक्तिगत व्यवहार के लिये ही नहीं, वरन् संघों, समुदायों और राष्ट्रों के व्यवहार का सिद्धान्त बनाना है।"

—महात्मा गांधी

गांधीजी ने सत्य, अहिंसा और न्याय पर ही आधारित एक आन्दोलन का सूत्रपात किया था। भारत अंग्रेजों के उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, तथा शोषण नीति से दबा आ रहा था। अस्तु, सत्याग्रह आन्दोलन का प्रयोग एक व्यापक तथा निश्चित विज्ञान के रूप में गांधीजी ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम में किया।

**सत्याग्रह : अर्थ व उद्देश्य**— सत्याग्रह का अर्थ सत्य की खोज है। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ सत्य पर अटल रहना है। महात्मा गांधी सत्याग्रह का जो अर्थ समझाते थे उसके अनुसार यह सत्य पर आरूढ़ रहकर प्रेमपूर्वक स्वयं कष्ट उठाने के लिए तत्पर रहना है। सत्याग्रह सत्य की प्राप्ति का अहिंसात्मक साधन है। सत्याग्रही स्वयं कष्ट सहन द्वारा विरोधी को गलत मार्ग से हटाने का प्रयत्न करेगा। वह घृणा का प्रेम से, असत्य का सत्य से, हिंसा का अहिंसा द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। गांधीजी ने इसे प्रेम-बल तथा आत्म बल कहा है।

इस तरह सत्याग्रह का अर्थ होता है सत्य पर आग्रह करते हुए अत्याचार का विरोध करना। अत्याचारी के आगे न तो आत्म-समर्पण किया जाता है और न उसकी अन्याय पूर्ण बातों को माना जाता है। अन्यायी या अत्याचारी को उस समय सफलता मिलती है जब लोग भयभीत होकर उसके आगे नत मस्तक हो जाते हैं। किन्तु यदि सत्याग्रही यह निश्चिय करले कि चाहे जो हो जाय, हम तुम्हारी अन्यायपूर्ण आज्ञा का उल्लंघन करेंगे तो अत्याचारी अधिक से अधिक सत्याग्रही को मरवा सकता है, किन्तु आदेश का पालन नहीं करा सकता। इस तरह के जन-आन्दोलन में जब शासक देखता है कि उसका आदेश निरर्थक हो रहा है, तब तक सत्या-

ग्रहियों द्वारा सहन की जाने वाली कठोर यातनाओं और कष्टों के कारण उसके हृदय पर प्रभाव पड़ता है। वह कितना ही कठोर, क्रूर, निष्ठुर क्यों न हो, उसमें मानव की प्रस्तुत भावना जाग्रत हो जाती है और उसका हृदय-परिवर्तन हो जाता है। उसे लोकमत के कारण भी मजबूर होना पड़ता है और वह अपने अत्याचारों पर पश्चाताप करने लगता है।

सत्याग्रह का विवेचन करते हुए गांधीजी ने लिखा है, "यह शास्त्र बल से उल्टा है। मिसाल के लिए, मान लीजिए, सरकार ने एक कानून बनाया जो मुझ पर लागू होता है। वह मुझे पसन्द नहीं है। अब यदि मैं सरकार पर हमला करके उसे वह कानून रद्द करने को मजबूर करूँ तो मैंने अपनी शरीर बल से काम लिया पर मैं उस कानून को मंजूर ही न करूँ, उसे मानने की जो सजा मिले। उसे खुशी से भातलूँ, तो मैंने आत्म-बल से काम लिया अथवा सत्याग्रह किया। सत्याग्रह में अपनी ही बलि देनी होती है।" जब आत्म बल का पशुबल से संघर्ष होता है तब आत्म बल की विजय निश्चित है।

**सत्याग्रह के विभिन्न रूप**—राजनीतिक जन-आन्दोलनों को अधिक क्रियात्मक रूप देने के लिए गांधीजी ने सत्याग्रह के चार स्वरूप बतलाये हैं : (1) **निष्क्रिय प्रतिरोध**—इस आन्दोलन का अर्थ था कि अन्याय का विरोध शस्त्रों से न करके शांतिपूर्वक उपायों से किया जाय। इसका प्रयोग गांधीजी ने दक्षिणी अफ्रीका में गोरी सरकार के अत्याचारों के विरोध में किया था। (2) **असहयोग**—ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में यह आन्दोलन 1920-21 में गांधीजी द्वारा चलाया गया था। इस का उद्देश्य था। भारत को ब्रिटिश सरकार की पराधीनता से मुक्त कराना। उनके अनुसार, शासन-कार्य में सहयोग देने वाले भारतीय कर्मचारी यदि अंग्रेजी सरकार से असहयोग कर दें तो अंग्रेजी शासन भारत में कायम नहीं रह सकता। सरकारी नौकरी छोड़ना, अदालतों, स्कूल, कॉलेजों का बहिष्कार करना ऐसे ही असहयोगी साधन हैं। असहयोग आन्दोलन, हड़ताल का रूप भी धारण कर सकता है तथा सामाजिक बहिष्कार अथवा धरने का भी। (3) **सविनय अवज्ञा**—यह गांधीजी का सबसे अधिक प्रभावशाली और सशस्त्र क्रांति का रक्तहीन रूप है। इसे उन्होंने असहयोग आन्दोलन की अन्तिम सीढ़ी बतलाया है। इसका प्रमुख उद्देश्य है, अनैतिक नियमों को तोड़ना। गांधीजी के अनुसार, यह आन्दोलत आज्ञाओं को न मानते हुए भी आदर, विनय एवं संयम से होना चाहिए। घृणा या शत्रुता की भावना तो इसमें कदापि नहीं हो। सविनय अवज्ञा आन्दोलन का गांधीजी ने भारत में सन् 1930-31 में प्रयोग किया था। (4) **उपवास**—गांधीजी उपवास को शीघ्र फलदायक कहते हैं। इसे वे अग्निबाण भी कहते हैं। उपवास के दो उद्देश्य होते हैं—आत्म शुद्धि तथा अन्याय का विरोध। उपवास वही कर सकता है जिसमें पवित्रता आत्म संयम, नम्रता और अटल विश्वास हो। उपवास में विपक्षी को कष्ट नहीं

दिया जाता है; अपितु स्वयं कष्ट को सहाजाता है। यह विपक्षी को विवश करने या बाध्य करने की अपेक्षा उसके हृदय परिवर्तन करने के लिए किया जाता है। वस्तुत: अन्याय तथा अनैतिकता से छुटकारा पाने के लिए उपवास एक अंतिम अहिंसक राजनैतिक शस्त्र है। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए सन् 1924 में 24 दिन का और 1947 में दो लम्बे उपवास गांधीजी ने किये थे। इन उपवासों से उन्हें अधिक सफलता मिली।

## सत्याग्रह का आधार अहिंसा : विवेचन

"संसार का ध्यान गांधीजी की ओर इसलिए आकृष्ट हुआ कि उन्होंने पशु-बल के समक्ष आत्म-बल का शस्त्र निकाला, तोपों और मशीन-गनों का सामना करने के लिए अहिंसा का आश्रय लिया।" गांधीजी ने अहिंसा के दो रूप बतलाये हैं-- पहला नकारात्मक रूप और दूसरा सकारात्मक। किसी प्राणी को स्वार्थ, क्रोध अथवा द्वेशवश कष्ट देना या हानि पहुँचाना अहिंसा का नकारात्मक रूप है। सकारात्मक पक्ष में अहिंसा के चार मूल तत्व पाये जाते हैं। वे हैं—(1) प्रेम और उदारता, (2) धैर्य, (3) अन्याय का विरोध और (4) वीरता।

अहिंसा को लेकर गांधीजी को जो सुयश प्राप्त हुआ वह अपनी मिसाल आप है। गांधीजी अहिंसा को मोक्ष-प्राप्ति का ही साधन नहीं बतलाकर उसे सामाजिक शान्ति, राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय तथा परिवार का भी साधन बतलाते हैं। यह मनुष्य एवं सम्पूर्ण प्राणी-जगत के लिए व्यवहार योग्य है। गांधीजी ने सत्याग्रह आन्दोलन में अहिंसा का प्रयोग किया और उनके प्रयोग से संसार के असंख्य लोगों में यह आस्था उत्पन्न हुई कि अहिंसा की साधना सामूहिक कार्यों में भी चल सकती है।

अंग्रेज साम्राज्यवादियों के विरुद्ध अपने संघर्ष में गांधीजी पशु और मनुष्य के संघर्ष का स्वरूप देखते थे। उनके शब्दों में, "अंग्रेज हमारे सत्याग्रह संघर्ष को बन्दूकों के धरातल पर ले आना चाहते थे, क्योंकि बन्दूकें उनके पास हैं जिन्हें वे चला सकते हैं। किन्तु हम तो उसी धरातल पर डटकर लड़ेंगे, जिस धरातल के शस्त्र हमारे पास हैं और अंग्रेजों के पास नहीं हैं।"

गांधीजी के अहिंसा के प्रयोग पर एक समय सारा संसार हँसता था और बड़े-बडे लोग यह कहकर शंका से सिर हिलाया करते थे कि इतिहास में कभी भी तो अहिंसक क्रान्ति नहीं हुई। किन्तु अहिंसा में जो शक्ति छिपी है, उसे केवल गांधीजी की दृष्टि देख सकती थी। "सच्ची अहिंसा भय नहीं प्रेम से जन्म लेती है, निस्सहायता नहीं सामर्थ्य से उत्पन्न होती है। जिस सहिष्णुता में क्रोध नहीं, द्वेश नहीं और निस्सहायता का भाव है, उसके समक्ष बड़ी से बड़ी शक्तियों को झुकना पड़ेगा।"

**निष्कर्ष**—सारांश में, वर्तमान सभ्यता को विनाशकारी दोषों से मुक्त करन के लिए गांधीजी ने मानव जाति को अहिंसा का पाठ पढ़ाया। उन्होंने संघर्ष, भय और संशय के जीवन से छुटकारा देने के लिए एक नैतिक समाज की रचना की। गांधीजी के सत्य, अहिंसा और साधनों की विशुद्धता को अव्यावहारिक समझने का अर्थ होगा मानवता का परित्याग करना तथा पशुओं के स्तर को प्राप्त करना।

**डॉ. राधा कृष्णन**—ने ठीक ही लिखा है कि **"गांधीजी एक क्रांतिकारी चिन्तक थे, उन्होंने राजनीति को शुद्ध बनाने के लिए मानव स्वभाव के परिवर्तन में महत्वपूर्ण योगदान दिया।"** यह महात्मा गांधी ही थे जिन्होंने सत्य और अहिंसा जैसे मूक सिद्धांत एवं अस्त्रों का एक महान् शक्ति के रूप में प्रयोग किया। अंग्रेजी साम्राज्यवाद को भारत से उखाड़ फेंकने में गांधीजी के अहिंसात्मक सत्याग्रही साधनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

---

# परिक्षोपयोगी महत्वपूर्ण प्रश्न

## (UNIVERSITY QUESTIONS)

### I. विषय प्रवेष (Introduction)

1. संस्कृति से आप क्या समझते हैं ? इसका सभ्यता के साथ सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये ।

2. भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेपताओं का वर्णन कीजिए ।

3. "भारतवर्ष में विविधता में मौलिक एकता है ।" इस कथन को समझाइये । (राज. टी. डी. सी. 1974)

### II. आधारभूत धार्मिक विचार (Fundamental Religious Ideas)

4. उपनिषद क्या है ? वे क्यों प्रसिद्ध हैं ? उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित विचारों को समझाइये । (1973, 74)

5. उपनिषदों के 'एकवाद' (Monoism) की व्याख्या कीजिये । (1977, 1978)

6. उपनिषदों और वेदों के दर्शन में क्या-अन्तर है ? (1977)

7. गीता में कृष्ण द्वारा अर्जुन को दी गई शिक्षाओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए । (1977, 78, 79)

8. गीता की आधारभूत शिक्षाओं का उल्लेख कीजिए । गीता के निष्काम कर्म की चर्चा कीजिये । 'स्थित प्रज्ञ' के लक्षण वताइए । (1977)

9. "गीता भारतीय धार्मिक दार्शनिक साहित्य की सर्वाधिक मूल्यवान रचना है ।" स्पष्ट कीजिये । गीता का मानव समाज को क्या संदेश है ? (1977)

10. योग से आप क्या समझते हैं ? अष्टांग सिद्धांत का संक्षेप में वर्णन कीजिये । (1977, 78)

11. बुद्ध के जीवन और शिक्षाओं का वर्णन कीजिए । (1972,74,77)

12. बुद्ध के 'प्रतीत्य-समुत्पाद' सिद्धांत की व्याख्या कीजिये । बुद्ध के 'चार आर्य सत्यों' को समझाइये । बुद्ध के 'अष्टांग-मार्ग' का वर्णन कीजिए । (1977,78)

13. हीनयान और महायान में क्या-क्या समानताएँ और असमानताएँ हैं ? (1977, 78)

14. भारतीय संस्कृति में बौद्ध धर्म की क्या देन है ? (1974)

15. महावीर के जीवन और जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये । जैन धर्म में 'अहिंसा का क्या स्थान है ? (1977, 78, 79)

16. जैन धर्म के 'त्रि-रत्नों' तथा 'पंच-महाव्रतों' की व्याख्या कीजिये। (1977, 78)

17. जैन-धर्म का भारतीय संस्कृति में क्या योगदान है ? (1977)

18. महावीर और बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्मों की तुलना कीजिए और उनमें परस्पर भेद को भी स्पष्ट कीजिए। (1977)

III. आधारभूत सामाजिक संस्थाएं (Fundamental Social Institutions)

19. प्राचीन भारत में परिवार-व्यवस्था पर निबन्ध लिखिये। वैदिक काल में परिवार का क्या ढांचा था ? (1977, 78)

20. प्राचीन संयुक्त परिवार प्रथा की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। (1977)

21. वर्ण-व्यवस्था पर एक टिप्पणी लिखिए। 'वर्ण' एवं 'जाति' में भेद स्पष्ट कीजिए। (1977)

22. जाति-प्रथा की उत्पत्ति एवं विकास पर एक निबन्ध लिखिए। (1978)

23. जाति-व्यवस्था के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। (1978)

24. अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था पर महाकाव्य क्या प्रकाश डालते हैं ? (1978)

25. महाकाव्यों के सांस्कृतिक महत्त्व का विवेचन कीजिए। (1977, 78)

26. कवि के रूप में कालीदास की प्रतिभा का मूल्यांकन कीजिए। कालीदास की साहित्यिक उपलब्धियों का वर्णन कीजिए। (1978, 79)

27. "तुलसीदास हिन्दू धर्म के प्रवक्ता मात्र ही नहीं, समाज सुधारक भी थे।" इस कथन की विवेचना कीजिए। (1977, 78)

28. रामचरितमानस का साहित्यिक कृति के रूप में विवेचना कीजिए। (1977, 78)

IV. भारतीय समाज पर इस्लाम का प्रभाव एवं मध्यकाल में सांस्कृतिक समन्वय (Impact of Islam and Cultural Synthesis)

29. हिन्दू समाज पर इस्लाम के प्रभाव की समीक्षा कीजिए। (1978)

30. मुस्लिम समाज पर हिन्दुत्व के प्रभाव की समीक्षा कीजिए। (1978, 79)

31. धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में हिन्दुत्व तथा इस्लाम ने एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित किया ? (1977)

32. मध्यकालीन सांस्कृतिक समन्वय से आप क्या समझते हैं ? (197 )

33. भारतीय संगीत एवं हिन्दी साहित्य को मुस्लिम देन पर एक नोट लिखिये। (1978)

V. भक्ति आन्दोलन (Bhakti Movement)

35. भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति तथा विकास पर आलोचनात्मक लेख लिखिए। (1977)

36. भक्ति आन्दोलन की प्रमुख विशेषताओं तथा प्रभावों पर आलोचनात्मक लेख लिखिए। (1977)

37. कबीर तथा गुरूनानक के जीवन तथा शिक्षाओं पर एक लेख लिखिए। (1977)

38. भक्ति आन्दोलन ने भारतीय समाज को किन रूपों में प्रभावित किया ? (1978, 79)

IV. भारतीय पुनर्जागरण (Indian Renaissance)
(उन्नीसवीं सदी के धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन)

39. भारतीय पुनर्जागरण से क्या अभिप्राय है। इसके कारणों को समझाइये ? (1974)

40. उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में कौन-कौन से महत्त्वपूर्ण समाज एवं धर्म सुधार आन्दोलन हुए ? इन आन्दोलनों का क्या प्रभाव पड़ा ? (1977, 78, 79)

41. भारतीय पुनर्जागरण में राममोहन राय के योगदान की समीक्षा कीजिए। राजा राममोहन राय को 'आधुनिक भारत का पिता' क्यों कहा जाता है ? (1974, 77, 78)

42. भारतीय पुनर्जागरण में दयानन्द की क्या भूमिका रही और हिन्दू समाज का सुधार करने में उन्हें कहाँ तक सफलता मिली ? (1977, 78, 79)

43. आर्य समाज के कार्यों एवं उपलब्धियों का वर्णन कीजिए। (1977, 78)

44. रामकृष्ण परमहंस के जीवन तथा शिक्षाओं पर एक नोट लिखिए। (1977)

45. भारतीय पुनर्जागरण में विवेकानंद का क्या योगदान था ? स्वामी विवेकानंद के आदर्शों का विवरण दीजिए। (1977, 78)

46. समाज सेवा के क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन का क्या महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है ? (1977, 78)

47. भारत में थियोसोफिकल सोसायटी की प्रमुख शिक्षाओं का संक्षिप्त वर्णन दीजिए। (1977)

48. मुस्लिम शिक्षा को अलीगढ़ आन्दोलन की क्या देन है ? विवेचना कीजिए। (1977)

VII. तिलक, टैगोर और गांधी का सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व :

(Social and Cultural Significance of Tilak, Tagore and Gandhi)

49. महान् राष्ट्रीय नेता के रूप में तिलक की देन का मूल्यांकन कीजिए। (1977, 78, 79)

50. तिलक की प्रमुख उपलब्धियों का उल्लेख कीजिए। (1974)

51. भारतीय साहित्य को टैगोर की देन पर एक निबन्ध लिखिए। (1977, 78)

52. टैगोर की प्रमुख उपलब्धियों का उल्लेख कीजिए। (1974)

53. राष्ट्रीय आन्दोलन को गांधीजी की देन का वर्णन कीजिए। (1977, 78, 79)

54. 'समाज सुधारक के रूप में गांधी' पर एक लेख लिखिए। (1977,78)

55. गांधीजी के सत्याग्रह से आप क्या समझते हैं ? यह अहिंसा पर क्यों आधारित था ? (1978)